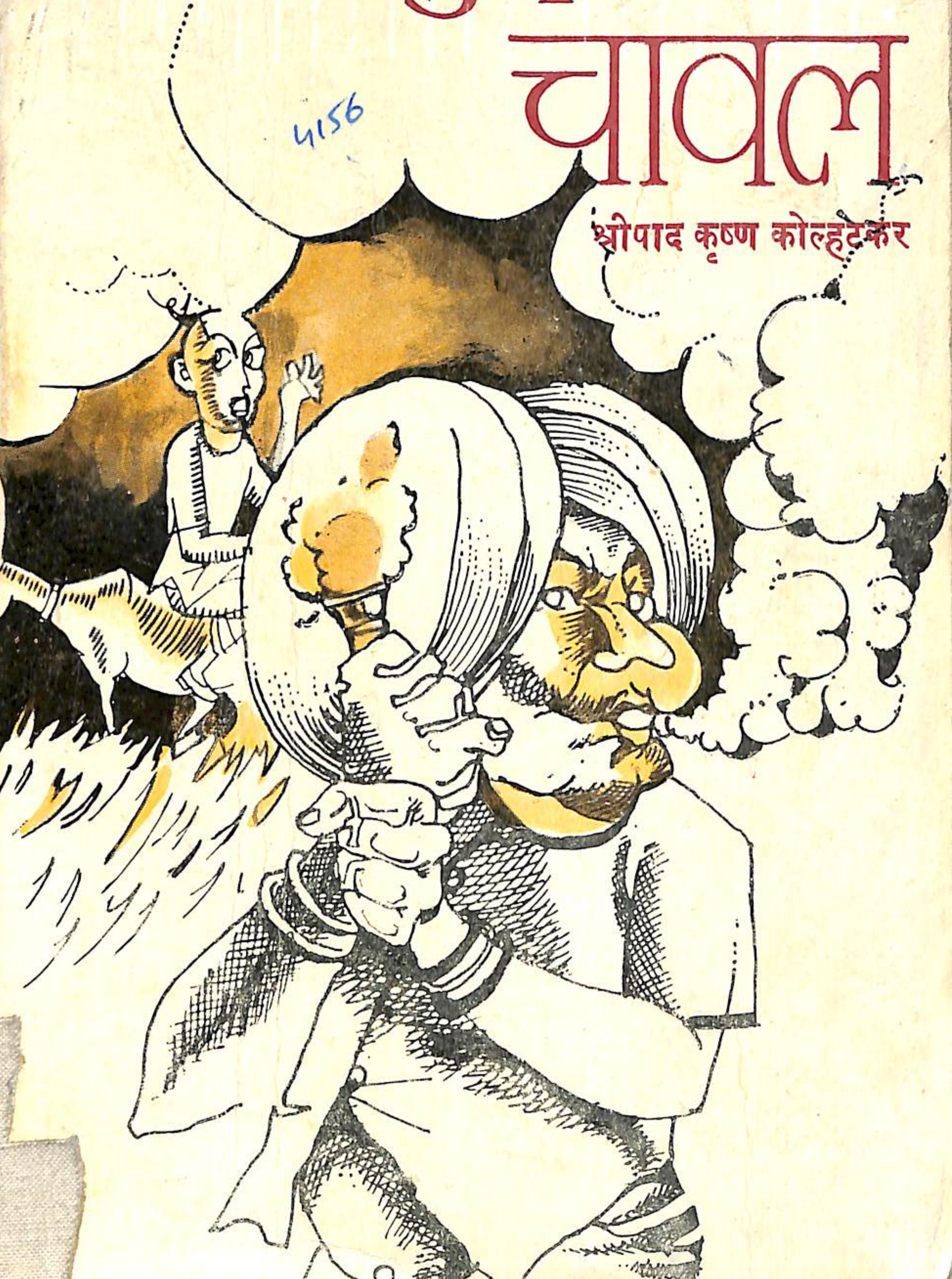
आदान प्रदान

सुदामा के चावल

श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर



अंतर्भारतीय पुस्तकमाला

सुदामा के चावल

सुदामा के चावल

श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर

अनुवाद

कृष्णगोपाल अग्रवाल

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नयी दिल्ली

1975 (शक 1897)

रु. 12.00

Original Title : Sudamyache Pohe (*Marathi*)
Hindi Translation : Sudama Ke Chawal

मुख्य वितरक
थामसन प्रेस (इंडिया) लिमिटेड
आलंपस हाउस, 29, नेताजी सुभाष मार्ग
दिल्ली-110006

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित और रूपक प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 द्वारा मुद्रित।

भूमिका

हास्य-विनोद में मानव के दुखों का निवारण करने की अद्‌भुत शक्ति है। मानसिक चिंता, रागद्वेष, दुखदर्द आदि का परिहार करने वाली दिव्य औषधि के रूप में हास्य-विनोद की गणना की जा सकती है। आनंद और उल्लास की निर्मिति तो हास्य-विनोद का मुख्य प्रयोजन है ही, पर उसका एक सामाजिक पहलू भी है। इस दृष्टि से देखने पर, सामजिक रीति-रिवाजों की अनिष्टता अथवा व्यक्तिमात्र में पाए जाने वाले विभिन्न दोषों पर प्रकाश डालकर उन्हें उपहासास्पद सिद्ध करना, सिर्फ इतना ही उसका काम नहीं है अपितु उनके निराकरण का मार्ग सुझाना भी उसका प्रमुख उद्देश्य है। चुभने वाला व्यंग्य या उपहास सामाजिक और राजनीतिक सुधारों का कितना सामर्थ्यवान शस्त्र हो सकता है यह मराठी के विष्णुशास्त्री चिपलूणकर, आगरकर, लोकहितवादी, शिवराम महादेव परांजपे, श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर प्रभृति व्यंग्य सम्राटों की तरह पश्चिम के ॲरिस्टोफेनिस, वॉल्तेयर, बायरन, स्विफ्ट, पोप, बर्नार्ड शॉ आदि समर्थ व्यंग्यकारों ने भी सिद्ध कर दिखाया है।

व्यंग्य-विनोद समाज के द्वेषी नहीं बल्कि मीठी चुटकी काटकर उसकी कमियों को उजागर कर दिखाने वाले उसके मित्र ही हैं। उच्चकोटि का हास्य-विनोद सदा दंशरहित, सुरुचिसंपन्न और उदात्त स्वरूप का होता है। वह किसी व्यक्ति या व्यक्तिसमूह पर प्रहार नहीं करता। विशुद्ध हास्य-विनोद के द्वारा भावनाओं का उदात्तीकरण होने के साथ-साथ समाज के विचारों को योग्य दिशा भी प्राप्त होती है। श्री. कृ. कोल्हटकर ने अपने 'सुदामा के चावल' नामक ग्रंथ में इसी उद्देश्य की प्राप्ति का प्रयास किया है। समाज पर व्यंग्यास्त्र छोड़कर उन्होंने समाज-जागृति का दुष्कर कार्य किया है। आगरकर अपनी ज्वलंत लेखनी के आवेशपूर्ण आघातों से जो कार्य न कर सके उसे कोल्हटकर ने

हास्य-विनोद के मखमली आवरण के पीछे से वार करने वाली अपनी व्यंग्य विदग्ध कलम से सिद्ध कर दिखाया। व्यंग्य-विनोद के सामर्थ्य को कोई माने या न माने पर उसकी शक्ति अबाधित और स्वयंपूर्ण है। इसीलिए मराठी के व्यंग्य साहित्य में कोल्हटकर का नाम सदैव अमर रहेगा इसमें कोई संदेह नहीं।

मराठी हास्य-विनोद के आद्य प्रवर्त्तक

कोल्हटकर को मराठी व्यंग्य-विनोद का जनक कहते समय उनसे पहले मराठी साहित्य में हास्य-विनोद था ही नहीं या महाराष्ट्र के जनमानस का उससे परिचय ही नहीं था, यह कहने का उद्देश्य नहीं है। ऐसा कोई नहीं कह सकता कि प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में या मराठी के पुराने संतसाहित्य में हास्य-विनोद का अस्तित्व ही नहीं था। लेकिन आज हम जिसे व्यंग्य साहित्य कहते हैं और आधुनिक युग में उसके द्वारा जिस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, उस प्रकार के हास्य-विनोद से प्राचीन समाज अवगत नहीं था। उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य साहित्य के संसर्ग, परिशीलन और अनुकरण से अर्वाचीन भारतीय भाषाओं में आधुनिक हास्य-विनोद का बीजारोपण हुआ, इससे कोई इंकार नहीं कर सकता। एडिसन, स्टर्न, गोल्डस्मिथ, जेरोम, मार्कट्वेन प्रभृति पाश्चात्य के समर्थ लेखकों ने जिस अभिजात व्यंग्य-विनोद की निर्मिति की उसकी पृष्ठभूमि पर ही (बिलकुल मौलिक रंगरूप में) मराठी साहित्य में व्यंग्य लेखन का श्रेय निर्विवाद रूप से कोल्हटकर को दिया जा सकता है। कोल्हटकर के व्यंग्य साहित्य का विचार करने से पहले संस्कृत वाङ्मय और मध्यकालीन मराठी साहित्य (विशेषतः संतसाहित्य) में हास्य-विनोद की उत्पत्ति, विकास और उत्कर्ष पर विचार एवम् उसके स्वरूप का विवेचन कर लेना उपयुक्त होगा। इससे कोल्हटकर की अपूर्वता और अद्वितीयता प्रस्थापित होने के साथ-साथ उनके व्यंग्य की अभिनवता और श्रेष्ठता पर भी प्रकाश पड़ सकेगा।

संस्कृत साहित्य में हास्य-विनोद

मराठी साहित्य में हास्य-विनोद की परंपरा का अन्वेषण करते हुए मराठी की गंगा का उद्गम गंगोत्री संस्कृत तक पहुंचें, तो कुछ निराशा ही पल्ले पड़ती है। संस्कृत साहित्य में हास्य-विनोद का स्वस्थ विकास नहीं हो पाया था।

संस्कृत साहित्य अन्य दृष्टियों से कितना ही संपन्न और समृद्ध क्यों न हो, हास्य-विनोद का स्वतंत्र और स्वस्थ्य रूप उसमें दिखाई नहीं देता। संस्कृत काव्यशास्त्र के अंतर्गत नवरस मालिका में हास्य की स्वतंत्र रस के रूप में गणना अवश्य की गई है। भरत से लगाकर जगन्नाथ पंडित तक प्रत्येक साहित्य-मीमांसक आचार्य ने उसे स्वतंत्र रस स्वीकार किया है (केवल भरतमुनि ने उसकी उपपत्ति शृंगार के साथ बैठायी है)। हास्यरस के मूल में अनौचित्य या विसंगति के अस्तित्व की कल्पना अधिकांश संस्कृत काव्य-मीमांसकों को थी। इसीलिए उन्होंने हास्य के स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित, यह छह प्रभेद माने हैं।

संस्कृत नाटकों का विदूषकी हास्य-विनोद

परंतु संस्कृत काव्यशास्त्र के रससिद्धांत के अनुसार हास्य को एक अनुभाव अर्थात आंतरिक भावनाओं का शरीर पर दिखाई देने वाला एक बाह्य लक्षण अथवा मनोगत भाव की सूचक बाह्य क्रिया मात्र माना है। विकृत वेश, टेढ़े-तिरछे, अंगविक्षेप, धृष्टता, जिह्वालौल्य, शारीरिक स्थूलता, छद्म प्रवंचना इत्यादि विभावों की सहायता से हास्यरस उत्पन्न किया जाता है। यों संस्कृत साहित्य में नाटकों, प्रहसनों, भाण, चंपू या काव्य में हास्यरस का आविष्कार जहां भी कहीं हुआ है, वहां उसका केंद्रबिंदु और एकमात्र आलंबन विदूषक ही है। संस्कृत नाट्य-साहित्य में तो विदूषक की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है और उसी के बलबूते पर 'भिन्नरुचि:' रसिकों के मनोरंजन का कष्टसाध्य कार्य संपन्न होता है। इसीलिए यह कहना कितना अरुचिकर हो, पर अनुचित नहीं होगा कि संस्कृत साहित्य का हास्य-विनोद अधिकांश विदूषकी कोटि का ही है। कालिदास का गौतम, शूद्रक का मैत्रेय और भास का संतुष्ट, ये तीन विदूषक संस्कृत नाट्य-साहित्य में अमर हो गए हैं।

भामह, दंडी, रुद्रट क्षेमेंद्र प्रभृति साहित्याचार्यों ने हास्य की चर्चा रसचर्चा के अंतर्गत और रस का विवेचन काव्य-विवेचन के प्रसंग में ही किया होनें के कारण गीर्वाण भाषा में हास्यरस का स्वतंत्र विवेचन या उसके परिपोष का मौलिक ऊहापोह अधिक दिखाई नहीं देता। गुणचंद्र और रामचंद्र ने अपने 'नाट्यदर्पण' में अनेक हास्यविषयों का उल्लेख किया है। धनंजय और अभिनव गुप्त

ने भी हास्यरस की मीमांसा की है। श्रीशंखधर, मुकुंदानंद और श्रीकाशीपति द्वारा हास्यरस-प्रधान रचनाएं की जाने का उल्लेख भी मिलता है। क्षेमेंद्र का 'कलाविलास' काव्य उपहासपूर्ण है और 'मत्तविलास', 'भगवदज्जुकीय', 'लटकमेलक' आदि प्रहसन हास्यरस की रचनाओं के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। संस्कृत सुभाषितरत्न भांडागार के अनेक सुभाषित अन्योक्ति, श्लेष, प्रहेलिका, आह्नृति आदि शाब्दिक चमत्कारों से भरे हुए हैं। कहीं-कहीं शब्दालंकार के साथ अर्थालंकार भी सुंदर ढंग से प्रयुक्त हुआ है। इनमें नर्म हास्य के दर्शन तो कहीं-कहीं होते हैं; परंतु आजकल हम जिसे व्यंग्य-विनोद कहते हैं उसके अधिक दर्शन संस्कृत साहित्य में नहीं होते।

मध्यकालीन मराठी साहित्य में हास्य-विनोद

संस्कृत वाङ्मय से मुड़ कर मध्यकालीन मराठी साहित्य की ओर दृष्टिक्षेप करें तो यही दिखाई देता है कि उस क्षेत्र में भी आधुनिक पद्धति के हास्य-विनोद का विकास नहीं हुआ था। प्रसंग विशेष पर उसकी स्वाभाविक झलक कहीं-कहीं दिखाई दे जाती है, पर उसका निर्वाह नहीं हो पाता। ज्ञानेश्वरी से लगा कर लावणी और शाहिरी वाङ्मय तक जो अनेक संत कवि, शृंगारी कवि और पंडित कवि हुए, उनके संपूर्ण साहित्य में शुद्ध विनोद लेखन अत्यल्प मात्रा में ही दृष्टिगोचर होता है। मध्यकालीन संत वाङ्मय मूलतः आध्यात्मिक, पारमार्थिक, निवृत्तिपरक और वेदांत के मायावाद की भूमिका पर आधारित होने के कारण उसमें विशुद्ध हास्य-विनोद की अधिक गुंजाइश भी नहीं थी। उस साहित्य में आधुनिक व्यंग्य की अपेक्षा करना वदतोव्याघात के सिवा कुछ नहीं होगा। इन प्राचीन कवियों ने प्रासंगिक और शाब्दिक विनोद किया ही न हो, यह बात नहीं; पर उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति विनोद-निर्मिति के लिए अनुकूल नहीं थी। इसके अलावा हास्य-विनोद को ग्राम्यजनोचित अशिष्टता मानने की वृत्ति का भी उनके मन पर काफी प्रभाव था। उस युग में हास्य-विनोद को अकसर छिछोरपन और जहालत का पर्याप्य माना जाता था। तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक परिस्थिति विनोद लेखन के लिए अनुकूल न होकर, मारक ही थीं। विनोदमय परिस्थिति ही विनोद साहित्य का निर्माण करती है। इंग्लैड की तत्कालीन सामाजिक स्थिति ने ही एडिसन को विनोद प्रधान लेखन की स्फूर्ति दी थी और स्विफ्ट को व्यंग्य के भेदक अस्त्र का

प्रयोग करने को मजबूर किया था। सर्वान्टीज़, स्टील, थॅकरे, डिकन्स और मार्क-ट्वेन का विनोद भी उनके युगों की परिस्थिति का द्योतक है। मराठी संत कवियों के काल में यह बाह्य स्थिति विनोद लेखन के लिए प्रेरक नहीं थी। वह काल ही परमार्थपरक, वैराग्यपरक और ईश्वरस्तुतिपरक काव्य लेखन का था। इस कारण संत कवियों की दृष्टि इहलोक की अपेक्षा परलोक पर और भौतिक के बजाय आध्यात्मिक उपलब्धियों पर ही अधिक केंद्रित रही। यही स्वाभाविक भी था।

संत कवियों के हास्य-विनोद के कुछ उदाहरण

फिर भी ज्ञानेश्वर, तुकाराम की गाथा, एकनाथ के भारूड, भास्कर भट्ट के शिशुपाल वध, मुक्तेश्वर के महाभारत, नागेश के चंद्रावली वर्णन, लोलिंब राज के वैद्यजीवन इत्यादि अनेक काव्य ग्रंथों में प्रासंगिक विनोद अथवा विनोद-प्रचुर वर्णनों और उपहासपूर्ण उपमा-उत्प्रेक्षाओं के कई उदाहरण मिलते हैं। सामाजिक उपहास करने में संत कवि कितने सिद्धहस्त थे इसके दर्शन तुकाराम के 'आवा चली पंढरपुर को' शीर्षक अभंग में स्पष्ट मिलते हैं। एकनाथ के 'रोडगा वाहीन तुला' (भैंसा चढ़ाऊंगी भवानी मैया) और 'दादला नको ग बाई' (निखट्टू मर्द नहीं चहिये री दैया) आदि भारूड हास्यप्रधान हैं। वामन के 'राधाविलास' और 'राधाभुजंग' ये दोनों काव्य और शाहिरों की लावणियां तो उत्तान शृंगार के साथ हास्यरस के मिश्रण के छलकते हुए रम्य सरोवर हैं जो भरतमुनि के "शृंगाराद्धि भवेत् हास्यः'—इस सूत्र का मानो प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। राव बाजी के युग में इस प्रकार के साहित्य का निर्माण होना युगधर्म के अनुरूप ही था।

अंग्रेजी शिक्षा और सामाजिक क्रांति

मराठाशाही का अस्त और अंग्रेजी शासन का उदय होने के बाद महाराष्ट्र में यदि कोई पहली क्रांतिपूर्ण घटना हुई तो वह थी अंग्रेजी की शिक्षा। इस शिक्षा के प्रसार से महाराष्ट्र का सामाजिक और राजनीतिक जीवन आमूल बदल गया। आंग्लभाषा के साथ-साथ पाश्चात्य रीति-रिवाज, आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान, पहनाव-ओढ़ाव और अन्य विदेशी वस्तुओं की हमारे समाजजीवन में

जिस प्रकार एक बाढ़ सी आ गई, उसी प्रकार अंग्रेजी की ग्रंथसंपत्ति और ज्ञान-साधनों का भी प्रचार हुआ। इन सब का तत्कालीन समाज के विभिन्न अंगों की तरह साहित्य पर प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक था। उस काल के भारतीय चिंतन-मनन और संस्कृति-सभ्यता पर पाश्चात्य विचारधारा का कितना मर्मस्पर्शी प्रभाव पड़ा इसके दर्शन विष्णुशास्त्री की 'निबंधमाला' में व्यक्त उपहासात्मक आलोचनाओं में कदम-कदम पर होते हैं।

मराठी में विनोद साहित्य की शैशवावस्था

सन् 1818 से 1874 तक का युग मराठी गद्य साहित्य की पूर्वपीठिका निर्माण का था। इस काल में संस्कृत और अंग्रेजी ग्रंथों के अनुवाद और अनुकरण का प्राधान्य रहा। पंचतंत्र, हितोपदेश, वैताल पचीसी, शुक बहत्तरी आदि संस्कृत ग्रंथों की रचना इसी समय हुई। साथ ही 'बीरबल-विनोद', 'देशविदेश की चातुर्य कथाएं' और 'अरेबियन नाइट्स' की सरस कथाओं का भी खूब प्रचलन हुआ। आधुनिक मराठी साहित्य की यह जिस प्रकार यह बाल्यावस्था थी उसी प्रकार विनोद साहित्य की भी यह शैशवावस्था थी।

इस युग में प्रहसन अर्थात् फार्स नामक हास्यप्रचुर विदेशी नाटक और भाषांतरित 'किताबी' नाटकों का प्रचार होने से पहले कुछ समय तक हास्यप्रधान कथाओं का बोलबाला रहा। 'चमत्कारपूर्ण कथाएं', 'टिमाजी बंदर की चतुराई', 'विनोद रत्नमाला', 'घंटा भर मनोरंजन' आदि पुस्तकों का उल्लेख दाते के तत्कालीन सूचीपत्र में मिलता है। विष्णुशास्त्री का 'विनोद और महदाख्यायिका' नामक वृत्तपत्रीय स्तंभ भी इसी कोटि का था। समाचारपत्रों में हास्यरस के चुटकुले और लतीफे भी छपते रहते थे। परंतु इन सब को 'विनोद साहित्य' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ने अपनी 'निबंधमाला' के 27वें अंक में यह उल्लेख किया है कि विनोदपूर्ण लेखन की प्रवृत्ति मराठी के न तो गद्य में पाई जाती है, न पद्य में। संस्कृत में भी इसकी कोई परंपरा नहीं रही यह उस भाषा के विद्वान भी स्वीकार करेंगे। संस्कृत में इतने नाटक हैं, पर हास्य का स्वस्थ परिपाक केवल मृच्छकटिक में ही हो पाया है। 'प्रहसन' नामक एक नाट्य प्रकार भी संस्कृत में प्रचलित है, पर उसमें विनोद उच्चकोटि का नहीं होता। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि यह प्रवृत्ति हमारे यहां अंग्रेजी भाषा से आयी है।

पाश्चात्य वाङ्मय की छाया

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध से ही अंग्रेज़ी साहित्य की छाया मराठी लेखकों पर पड़ने लगी थी। अंग्रेज़ी से अनूदित या अंग्रेज़ी के अनुकरण में साहित्य की अनेक अभिनव विधाएं मराठी साहित्य में दिखाई देने लगी थीं और रंगभूमि पर तो फार्स अर्थात् प्रहसनों की बाढ़ सी आ गई थी। फ्रेंच नाटककार मोलिचर के आधार पर लिखे हुए कई प्रहसन उस समय बहुत लोकप्रिय हुए थे। 'मोर एल. एल. बी.', 'खटपटी पद्या', 'रायबहादुर पर्वते', 'सटवाजीराव ढमाले', 'मारमार कर हकीम', 'सोया हुआ जाग गया' इत्यादि कई प्रहसनों का बहुत प्रचलन रहा। ये सारी रचनाएं प्रसंगोनुकूल और स्थूल हास्य से युक्त थीं और उनका व्यंग्य-विनोद अत्यंत सामान्य कोटि का था।

इस प्रहसनात्मक साहित्य के अलावा 'रंगभूमि' मासिक पत्रिका में नाटकों और नाटकमंडलियों पर उपहासमय विनोद प्रधान टीका प्रकाशित होती थीं। इस प्रकार के निबंधों में 'नाटक के तारे' नामक संकलन और कोल्हटकर के 'गुप्त मंजूष' नाटक की 'नाट्यकलारुक्कुठार' नाम से प्रकाशित संवाद प्रधान टीका हास्यरस की रचनाओं के रूप में बहुत उल्लेखनीय रही हैं। इस पुस्तक में कोल्हट-कर के नाटकों का विश्लेषण करने के बहाने उन नाटकों की असभ्यता से खिल्ली उड़ाई गई है। इसे आलोचना और हास्य-विनोद, दोनों का निकृष्ट प्रकार मानना चाहिए। 'हिंदू पंच' नामक समाचारपत्र में वैयक्तिक स्तर पर प्रहार करने वाले हास्यपूर्ण व्यंग्यचित्र प्रकाशित होते थे। चिपलूणकर की 'निबंधमाला' में 'पाताल की मराठी भाषा', 'सत्य समाज का अहवाल', 'आजकल के अन्नपूर्णागृह' जैसे प्रचुर और तीक्ष्ण धार वाले उपहास निबंध प्रकाशित हुए। उनकी भाषा शैली को नजर में रखा जाए, तो विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ही मराठी साहित्य में व्यंग और उपहास के आद्य प्रणेता सिद्ध होते हैं। इस काल में शेक्सपियर के नाटक और रेनॉल्ड्स के उपन्यास अंग्रेज़ी से अनूदित हो कर बड़ी संख्या में प्रकाशित होने लगे थे। सर्वान्टीज़ के 'डॉन-क्विज़ोट' का 'शामभट्ट और उनके अंतेवासी का वृतांत' नाम से रूपांतर सन् 1893 में प्रकाशित हुआ था। मराठी का आद्य विडंबन-काव्य माना जाने वाला 'संगीत हजामत' भी इस युग (1889) की रचना है।

जिस प्रकार एक बाढ़ सी आ गई, उसी प्रकार अंग्रेज़ी की ग्रंथसंपत्ति और ज्ञान-साधनों का भी प्रचार हुआ। इन सब का तत्कालीन समाज के विभिन्न अंगों की तरह साहित्य पर प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक था। उस काल के भारतीय चिंतन-मनन और संस्कृति-सभ्यता पर पाश्चात्य विचारधारा का कितना मर्मस्पर्शी प्रभाव पड़ा इसके दर्शन विष्णुशास्त्री की 'निबंधमाला' में व्यक्त उपहासात्मक आलोचनाओं में कदम-कदम पर होते हैं।

मराठी में विनोद साहित्य की शैशवावस्था

सन् 1818 से 1874 तक का युग मराठी गद्य साहित्य की पूर्वपीठिका निर्माण का था। इस काल में संस्कृत और अंग्रेज़ी ग्रंथों के अनुवाद और अनुकरण का प्राधान्य रहा। पंचतंत्र, हितोपदेश, वैताल पचीसी, शुक बहत्तरी आदि संस्कृत ग्रंथों की रचना इसी समय हुई। साथ ही 'बीरबल-विनोद', 'देशविदेश की चातुर्य कथाएं' और 'अरेबियन नाइट्स' की सरस कथाओं का भी खूब प्रचलन हुआ। आधुनिक मराठी साहित्य की यह जिस प्रकार यह बाल्यावस्था थी उसी प्रकार विनोद साहित्य की भी यह शैशवावस्था थी।

इस युग में प्रहसन अर्थात् फार्स नामक हास्यप्रचुर विदेशी नाटक और भाषांतरित 'किताबी' नाटकों का प्रचार होने से पहले कुछ समय तक हास्यप्रधान कथाओं का बोलबाला रहा। 'चमत्कारपूर्ण कथाएं', 'टिमाजी बंदर की चतुराई', 'विनोद रत्नमाला', 'घंटा भर मनोरंजन' आदि पुस्तकों का उल्लेख दाते के तत्कालीन सूचीपत्र में मिलता है। विष्णुशास्त्री का 'विनोद और महदाख्यायिका' नामक वृत्तपत्रीय स्तंभ भी इसी कोटि का था। समाचारपत्रों में हास्यरस के चुटकुले और लतीफे भी छपते रहते थे। परंतु इन सब को 'विनोद साहित्य' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ने अपनी 'निबंधमाला' के 27वें अंक में यह उल्लेख किया है कि विनोदपूर्ण लेखन की प्रवृत्ति मराठी के न तो गद्य में पाई जाती है, न पद्य में। संस्कृत में भी इसकी कोई परंपरा नहीं रही यह उस भाषा के विद्वान भी स्वीकार करेंगे। संस्कृत में इतने नाटक हैं, पर हास्य का स्वस्थ परिपाक केवल मृच्छकटिक में ही हो पाया है। 'प्रहसन' नामक एक नाट्य प्रकार भी संस्कृत में प्रचलित है, पर उसमें विनोद उच्चकोटि का नहीं होता। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि यह प्रवृत्ति हमारे यहां अंग्रेज़ी भाषा से आयी है।

पाश्चात्य वाङ्मय की छाया

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध से ही अंग्रेज़ी साहित्य की छाया मराठी लेखकों पर पड़ने लगी थी। अंग्रेज़ी से अनूदित या अंग्रेजी के अनुकरण में साहित्य की अनेक अभिनव विधाएं मराठी साहित्य में दिखाई देने लगी थीं और रंगभूमि पर तो फार्स अर्थात् प्रहसनों की बाढ़ सी आ गई थी। फ्रेंच नाटककार मोलिचर के आधार पर लिखे हुए कई प्रहसन उस समय बहुत लोकप्रिय हुए थे। 'मोर एल. एल. बी.', 'खटपटी पद्या', 'रायबहादुर पर्वते', 'सटवाजीराव ढमाले', 'मारमार कर हकीम', 'सोया हुआ जाग गया' इत्यादि कई प्रहसनों का बहुत प्रचलन रहा। ये सारी रचनाएं प्रसंगोनुकूल और स्थूल हास्य से युक्त थीं और उनका व्यंग्य-विनोद अत्यंत सामान्य कोटि का था।

इस प्रहसनात्मक साहित्य के अलावा 'रंगभूमि' मासिक पत्रिका में नाटकों और नाटकमंडलियों पर उपहासमय विनोद प्रधान टीका प्रकाशित होती थीं। इस प्रकार के निबंधों में 'नाटक के तारे' नामक संकलन और कोल्हटकर के 'गुप्त मंजूष' नाटक की 'नाट्यकलारुक्कुठार' नाम से प्रकाशित संवाद प्रधान टीका हास्यरस की रचनाओं के रूप में बहुत उल्लेखनीय रही हैं। इस पुस्तक में कोल्हट-कर के नाटकों का विश्लेषण करने के बहाने उन नाटकों की असभ्यता से खिल्ली उड़ाई गई है। इसे आलोचना और हास्य-विनोद, दोनों का निकृष्ट प्रकार मानना चाहिए। 'हिंदू पंच' नामक समाचारपत्र में वैयक्तिक स्तर पर प्रहार करने वाले हास्यपूर्ण व्यंग्यचित्र प्रकाशित होते थे। चिपलूणकर की 'निबंधमाला' में 'पाताल की मराठी भाषा', 'सत्य समाज का अहवाल', 'आजकल के अन्नपूर्णागृह' जैसे प्रचुर और तीक्ष्ण धार वाले उपहास निबंध प्रकाशित हुए। उनकी भाषा शैली को नजर में रखा जाए, तो विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ही मराठी साहित्य में व्यंग और उपहास के आद्य प्रणेता सिद्ध होते हैं। इस काल में शेक्सपियर के नाटक और रेनॉल्ड्स के उपन्यास अंग्रेज़ी से अनूदित हो कर बड़ी संख्या में प्रकाशित होने लगे थे। सर्वान्टीज़ के 'डॉन-क्विज़ोट' का 'शामभट्ट और उनके अंतेवासी का वृतांत' नाम से रूपांतर सन् 1893 में प्रकाशित हुआ था। मराठी का आद्य विडंबन-काव्य माना जाने वाला 'संगीत हजामत' भी इस युग (1889) की रचना है।

शिवराम महादेव परांजपे के लेखों में वक्रोक्ति का नया क्षेत्र

'काल' के संपादक शि. म. परांजपे जब वक्रोक्ति, व्यंग्योक्ति, व्याजोक्ति, उपरोध और उपहास के अस्त्रों से सज्जित होकर सन् 1897 में मराठी समाचार पत्रों के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए, तो पाठकों को एक नई लेखनशैली का साक्षात्कार हुआ। यों विदेशी सरकार की खुल्लम-खुल्ला तथा स्पष्ट आलोचना करना मुमकिन नहीं था। अतः शिवराम पंत ने वक्रोक्ति का सहारा लिया और परोक्ष टीका के लिए यह शस्त्र कितना प्रखर और प्रभावशाली हो सकता है यह सिद्ध कर दिखाया। जनसाधारण के मन में परतंत्रता के प्रति गहरी खीझ उत्पन्न कर उसका पर्यवसान स्वातंत्र्य की लालसा में ही नहीं बल्कि सशस्त्र क्रांति की प्रेरणा में हो, यही शिवराम पंत के 'काल' का उद्देश्य था। उन्होंने विदेशी हुकूमत की आलोचना करते समय कुछ ऐसी कुशलता से कलम चलाई कि शस्त्र का मर्मभेदी प्रहार तो हो जाए पर खून की एक बूंद भी न गिरे।

मराठी के युगप्रवर्तक ग्रंथकार

श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर सच्चे अर्थों में बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण के युगप्रवर्तक ग्रंथकार थे। मराठी नाटक के क्षेत्र में उन्होंने निस्संदेह एक नये युग का निर्माण किया। तत्कालीन पौराणिक रंगभूमि में आमूल परिवर्तन करके उन्होंने उसे सामाजिक दिशा में मोड़ा और कदाचित् पहली बार स्वाभाविक हास्य-विनोद का अविर्भाव हुआ। साहित्य की अन्य विधाओं के क्षेत्र में उन्होंने नई पद्धति की तत्त्वप्रचुर, विवेचनात्मक और धार्मिक आलोचना प्रणाली का आरंभ किया। कोल्हटकर की बुद्धिमत्ता, लेखनसामर्थ्य और कल्पनाशक्ति का आत्यंतिक प्रतिभा-विलास उनके प्रस्तुत ग्रंथ 'सुदामा के चावल' में भी दिखाई देता है।

हास्य-व्यंग्य : समाज सुधार का प्रभावपूर्ण शस्त्र

यह निर्विवाद है कि कोल्हटकर से पहले मराठी साहित्य में सटीक व्यंग्य-विनोद नहीं के बराबर था। व्यंग्य-विनोद केवल जनमनोरंजन का ही साधन नहीं है, अपितु वह समाजसुधार का बड़ा सक्षम हथियार भी हो सकता है, ऐसा विश्वास होने के कारण ही उन्होंने प्रयोजनात्मक व्यंग-विनोद का लेखन मराठी

साहित्य में प्रारंभ किया। सामाजिक और धार्मिक सुधारों पर दृष्टि को केंद्रित करके उन्होंने अनिष्ट रूढ़ियां, लोकभ्रम, जातिभेद, अंधश्रद्धा, पोंगापंथी, छुआछूत, जरठ-कुमारी विवाह, दहेज, संतमहंतों की अखाड़ेबाजी, शकुन-अपशकुन, फलित-ज्योतिष, भविष्यकथन, अस्पृश्यता, मन्नत-मनौति, भाग्यवाद, भूतप्रेत, स्वर्ग-नरक, श्राद्ध-तर्पण आदि हिंदू समाज की समस्त अज्ञानमूलक और मिथ्या कल्पनाओं पर उपहास का शस्त्र चलाया। आगरकर की तरह उन्हें भी समाजसुधार की तीव्र उत्कंठा थी। परंतु 'सुधारक' के संपादक (आगरकर) की तरह समाज पर विदारक टीका के प्रत्यक्ष हमले न करते हुए, उन्होंने युक्तिपूर्ण और तार्किकता का आश्रय लेकर एक नये प्रकार की लेखनशैली का विकास किया और उपहास-व्यंग्य और व्याजोक्ति जैसे अहिंसक शस्त्रों की सहायता से समाज को जागृत करने का कार्य आरंभ किया।

पाश्चात्य पद्धति का अनुकरण : स्वतंत्र व्यंग लेखन

कोल्हटकर ने विनोदप्रचुर एवं व्यंग्यात्मक मौलिक लेखन का आरंभ सन 1902 से किया। इसकी प्रेरणा उन्हें कहां से मिली, इसका स्पष्ट संकेत उन्होंने अपने 'मेरे आलोचक' नामक निबंध में इस प्रकार किया है : "विनोदप्रचुर और उपहासपूर्ण भाषाशैली पश्चिम के देशों में बहुत अधिक प्रचलित है। वाल्तेयर, मोलियर, रॅबेले, पास्कल और सर्वान्टीज़ से लगा कर स्टर्न, फील्डिग, स्मॉलेट, स्विफ्ट और मार्कट्वेन तक वहां के कुशल व्यंग्यकारों का इसीलिए हमने गहन अध्ययन किया। इन निबंधों में उनका अल्प सा अनुकरण करने का प्रयत्न किया गया है।" साहित्य की एक नई विधा और शैली के रूप में उनके द्वारा इन अपने अग्रजों का ऋण स्वीकार किया जाने के बावजूद यह कहा जा सकता है कि कोल्हटकर का व्यंग्य-विनोद विषयवस्तु और आलंबन की दृष्ठि से पूर्णतः स्वतंत्र और स्वयंभू है। विषय के चुनाव में उन पर किसी पाश्चात्य लेखक की छाया नहीं पड़ी।

कोल्हटकर ने 'गवाह' निबंध से इस परंपरा का आरंभ किया है और फिर तो हिंदूधर्म के कालबाह्य आचार-विचारों पर उनके व्यंग्यबाण नियमित रूप से छूटने लगे। उनके इन उपहासमय और व्याजस्तुतिपूर्ण लेखों के खिलाफ आलोचकों और सनातन-धर्माभिमानियों ने टीका का बवंडर खड़ा किया और अखबारों में

उन पर विरोध और गालियों की वर्षा शुरू हुई। 'विविध ज्ञान विस्तार' के ग्राहकों ने तो चंदा बंद कर देने की धमकी भी दी। उनका व्यंग्य कितना मर्मभेदी सिद्ध हुआ था, इसका यह प्रत्यक्ष प्रमाण था। 'होली', 'गणेशचतुर्थी', 'श्रावणी', "भीष्म प्रतिज्ञा की विजय','साधुसंत', 'चित्रगुप्त का जमाखर्च', 'मरणोत्तर क्रिया-क्रम' आदि सामाजिक और धार्मिक पाखंडों पर प्रहार करने वाले निबंध पूरे समाज में खलबली मचा देने वाले सिद्ध हुए, जबकि 'निर्जला एकादशी', 'बुढ़ापे के फायदे', 'पानी का अकाल' आदि निबंधों में विशुद्ध स्वरूप का निर्व्याज विनोद दिखाई देता है। 'चोर सम्मेलन' का वर्णन करने वाला विडंबनाप्रधान निबंध तो बड़े ही सुंदर ढंग से लिखा गया है। उसे कोल्हटकर की विनोदप्रधान लेखमाला का मेरुमणि कहा जा सकता है।

उपहासाचार्य कोल्हटकर का व्यंग्य-विनोद

कोल्हटकर का हास्य-विनोद मात्र मनोरंजनात्मक, प्रयोजनहीन, स्वभावनिष्ठ, या प्रसंगयुक्त नहीं है। उनके विनोद में एक प्रकार की तिलमिला देने वाली तीक्ष्ण धार है जो पूर्णतः प्रयोजनपूर्ण है। बेन जॉन्सन ने चॉसर के संबंध में कहा था : "If any man ever deserved to be called a humourist, it is chaucer. His genius is so exactly poised as to give us a feast of malignant enjoyment without the out-break of offended sympathy."—ये उद्‌गार कोल्हटकर के संदर्भ में भी पूर्णतः सटीक हैं।

कोल्हटकर को 'विनोदाचार्य' कहने के बजाय 'उपहासाचार्य' या 'व्यंग्याचार्य' कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। उनके उपहास में प्रयोजनपूर्ण विनोद के साथ-साथ श्लेष और अतिशयोक्ति का समुचित प्रयोग होने के कारण उसे एक प्रकार का गुरुत्व और गांभीर्य प्राप्त हो सका है। ॲरिस्टोफेनिस, हॉरेस, जुनेवाल आदि यूनानी-रोमन साहित्कारों और वॉल्तेयर, बायरन, थॅकरे, बटलर, स्विफ्ट, पोप, ड्रायडन, बर्नार्ड शॉ प्रभृति परवर्ती योरोपीय लेखकों को अपने-अपने युग में व्यंग्याचार्य ही समझा जाता था। कोल्हटकर का स्थान निर्विवाद रूप से इसी परंपरा में है।

अंग्रेजी कोशकार फाउलर ने अपने 'मॉडर्न इंग्लिश यूसेज' नामक ग्रंथ में हास्य-विनोद और उससे जुड़े हुए भावों की एक तालिका दी है। हास्य-विनोद के

अंतर्गत किन-किन भावों का समावेश होता है; कौन-कौन से मनोविकार किन भावों के साथ संलग्न हैं; उनका हास्य-विनोद के साथ क्या संबंध है; और उनके घात-प्रतिघात से हास्य-विनोद की निर्मिति किस प्रकार होती है, इसकी विस्तृत विवेचना इस सूची में की गई है। हास्य-विनोद के लिए—Humour—यह व्यापक संज्ञा निश्चित करके उसके श्लेष या शब्दनिष्ठ विनोद (Wit), उपहास या व्यंग्य (Satire), उपरोध या वक्रोक्ति (Sarcasm), गालीप्रधान (Invective), गूढ़ोक्ति (Irony), छद्म-हास्य (Sardonic), विडंबन (Parody), तुच्छता वृत्ति (Cynicism), आदि प्रभेद माने गए हैं और उनके अलग-अलग लक्षण भी दिए गए हैं।

समाजसुधार को व्यंग्य का मुख्य उद्देश्य मान लिए जाए तो सामाजिक कुरीतियों और हानिप्रद प्रथाओं पर प्रहार करना उसका प्रधान कार्य हो जाता है जिसे प्राप्त करने में व्याजोक्ति और अतिशयोक्ति सबसे प्रभावी साधन सिद्ध होती है। इस सैद्धांतिक दृष्टि से विचार करने पर 'सुदामा के चावल' का समावेश निर्विवाद और निरपवाद रूप से 'व्यंग्यात्मक सहेतुक विनोद' के अंतर्गत होता है।

मानव जीवन की विनोदात्मक टीका

एक साहित्यिक विधा के रूप में व्यंग्य या उपहास की यह व्याख्या भी की जाती है कि वह मनुष्य मात्र के अज्ञान और मूर्खताओं एवं मानव जीवन की त्रुटियों और अपूर्णताओं पर की गई विनोदात्मक टीका है। शर्त सिर्फ इतनी है कि यह टीका कलात्मक और यथासंभव वैयक्तिक दंशरहित होनी चाहिए। गार्नेट के कथनानुसार व्यंग्य में यदि विनोद का पुट नहीं हुआ तो वह निंदा या कुत्सा का रूप धारण कर लेता है और कलात्मकता न हुई तो वह निम्न कोटि का विदूषकी विनोद बन जाता है। अतः उच्च कोटि के व्यंग्य में दोषदर्शनपूर्ण टीका के साथ विनोद का समन्वय होना नितांत आवश्यक है। व्यंग्यात्मक साहित्य समाज के हास्यास्पद पहलू को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि पाठकों को उसका तीव्र निषेध करने की इच्छा हो उठे। व्यंग्यकार के प्रमुख हथियार हैं व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, तुच्छताबुद्धि, निंदा, निर्भत्सना, श्लेष और अतिशयोक्ति। परंतु इन सब हथियारों में धार हास्य-विनोद की ही होनी चाहिए। जुवेनाल के

कथनानुसार समाज में मूर्खों की तो कोई कमी नहीं और उनकी मूर्खता की कोई सीमा भी नहीं। इस हालत में उनकी बेवकूफियों का पर्दाफाश करके उनके नग्न स्वरूप को प्रकाश में लाना ही व्यंग्य का मर्म सिद्ध होता है। किसी भी प्रकार के सुधार का विरोध करने वाले पुरातन पंथी परंपरानिष्ठों पर शाब्दिक प्रहार करके उनकी खिल्ली उड़ाने का व्यंग्य से बढ़ कर कोई साधन नहीं है। स्विफ्ट की तरह कोल्हटकर का व्यंग्य भी इसी श्रेणी का है। गोमल खाने का अधिकार केवल परम पवित्र ब्राह्मणों के लिए ही सुरक्षित रखने की जो मार्मिक मीमांसा उन्होंने 'श्रावणी' में की है, वह खुल्लमखुल्ला व्यंग पर आधारित है। 'हिंदूधर्म ने बंदरों के आनंद के लिए हनुमान-जयंति और सिंहों के समाधान के लिए नृसिंह-जयंति का आयोजन किया, और हाथी को शिकायत का मौका न मिले इसलिए उसका शिरच्छेद करके उस सिरकमल को साक्षात् गणेशजी के धड़ पर स्थापित कर दिया।'—इत्यादि सैकड़ों उद्धरण 'सुदामा के चावल' में से दिए जा सकते हैं। कोल्हटकर के व्यंग्य-विनोद को शायद इसीलिए श्री न. चि. केलकर ने जर्मन दार्शनिक नीत्शे के शब्दों का प्रयोग करके 'हंसने वाला सिंह' की पदवी प्रदान की है।

व्यंग्य-विनोद के विविध रूप

श्लेष और अतिशयोक्ति कोल्हटकर के व्यंग्य-विनोद के मुख्य आधार स्तंभ हैं। कहीं-कहीं उन्होंने अतिशयोक्ति की भी अतिशयोक्ति की है; पर तब भी उनका व्यंग्य बड़ा सटीक रहा है और वह विषय प्रष्ठति का चमत्कृतिपूर्ण साधन बन कर आया है। बंडूनाना ने नींद आने के लिए क्या-क्या किया और किन-किन भलेबुरे उपायों की सहायता ली, यह पढ़ते समय कोल्हटकर की अत्युक्ति चुभती है, पर खटकती नहीं। 'घरेलू खेल', 'साहित्य परिषद् की तैयारी', या 'यांत्रिक चमत्कार' आदि निबंधों में भी ऐसे प्रसंग बहुतायत से मिलते हैं। शाब्दिक श्लेष की तो उनके लेखन में बाढ़ सी आ गयी है। उसके प्रवाह में बह कर और कभी-कभी केवल हास्य के लिए हास्य उत्पन्न करने के प्रयत्न में कहीं-कहीं उनके साहित्य में कृत्रिमता भी आ गयी है। कल्पना की तो उन्हें बेहिसाब खींचातानी करनी पड़ी है। 'भाषा और इतिहास' (शब्दसाधना) नामक निबंध में इतिहासाचार्य राजवाडे की व्युत्पत्ति विषयक गवेषणाओं का जो खंडन

किया गया है उसमें कल्पकता तो है, पर सभ्यता भी है यह नहीं कहा जा सकता।

तथापि, समग्रता से विचार करने पर श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर का व्यंग्य उच्च कोटि का, गांभीर्ययुक्त, विदग्धतापूर्ण और कल्पनाप्रवण है, इसमें कोई संदेह नहीं। उनके अधिकांश निबंध विद्वत्ता प्रचुर होने के कारण सामान्य पाठकों द्वारा उनके रहस्य का आकलन संभव नहीं। इन निबंधों में बुद्धिमत्ता, बहुश्रुतता और अध्ययनप्रियता के दर्शन कदम-कदम पर होते हैं। इन्हीं कारणों से मराठी व्यंग्य-साहित्य में आज भी उनके 'सुदामा के चावल' का स्थान अपूर्व और अद्वितीय है। उनकी जोड़ का और कोई विनोद लेखक या व्यंग्यकार मराठी में अब तक नहीं हुआ।

व्यंग्य-विनोद के क्षेत्र में राम गणेश गडकरी (बालकराम), चिंतामण विनायक जोशी, आचार्य अत्रे, केप्टन लिमये, रांगणेकर, दत्तू बांदेकर, प्र. श्री. कोल्हटकर (वायुपुत्र), शामराव ओक, 'दाजी' के निर्माता ना. धों. ताम्हनकर, बोकिल, पु. ल. देशपांडे प्रभृति समर्थ साहित्यकारों ने कोल्हटकर की विरासता को आगे बढ़ाया है और अब बुवा, ठनठनपाल जैसे व्यंगकारों का उदय हो रहा है, यह संतोष की बात है।

कोह्लटकर के व्यंग्य-विनोद का रहस्य

कोल्हटकर के व्यंग्य-विनोद की पार्श्व भूमि और रहस्य का उद्घाटन उन्हीं के शब्दों में करना उचित होगा। प्रस्तुत लेख के समापन के लिए ये ही शब्द उपयुक्त होंगे। 'मेरे आलोचक' निबंध में वे लिखते हैं :—

"अभिमानी आंखों के लिए उपहास से बढ़ कर कोई अंजन नहीं यह रोज के अनुभव की बात है।···अपनी गलतियों और कमजोरियों का स्वीकार करने का मानसिक धैर्य जिनमें नहीं है; अपनी हर बुरीभली रूढ़ि को येनकेन प्रकारेण दूसरों के गले उतारने का जो प्रयत्न करते रहते हैं और देश की वर्तमान दुर्दशा को दैवगति के मत्थे मढ़ कर जो निश्चिंत हो जाना चाहते हैं उन पाखंडी पोंगापंडितों की खबर लेना और इस बहाने रूढ़ियों की अनिष्टता के प्रति पाठकों को जागरूक करना ही इन निबंधों के पीछे हमारा प्रधान उद्देश्य रहा है।··· फ्रांस में व्यंग्य-विनोद को इतनी अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है कि कोई अभियुक्त या

सजायाफ्ता अपराधी भी विनोदप्रचुर भाषण करे, तो समाज उसके बड़े से बड़े अपराध को क्षमा कर देता है। इसके विपरीत हमारे यहां हास्य-विनोद को इतना हीन माना जाता है कि अत्यंत विशुद्ध भावना से प्रेरित होकर भी यदि कोई लेखक या वक्ता अपने विषय को हास-परिहास के मिश्रण से मनोरंजक बनाने की कोशिश करे, तो इसे तुरंत एक साहित्यिक अपराध घोषित कर दिया जाता है और उस पर छिछोरा, बचकाना, वीभत्स, अश्लील आदि विशेषणों की पुष्पवृष्टि होने लगती है।···व्यंग्य प्रधान लेखों द्वारा समाजसुधार का प्रचार करने का हमने जो प्रयत्न किया है, उसका कारण समाज को दुलार कर सुधार के अनुकुल बनाना नहीं है; बल्कि उसे छेड़ कर और चिढ़ाकर स्वदोष-निरीक्षण के लिए प्रेरित करना है। समाजसुधार के गुणों की चर्चा हमने अपने नाटकों में की है। प्रस्तुत निबंधों में रूढ़ि और अंध-श्रद्धा के दोषों को उजागर करना ही हमारा प्रधान उद्देश्य रहा है।"

—रा. प्र. कानिटकर

अनुक्रम

1. गवाह

कोर्ट-कचहरी के वातावरण में रमे हुए लोगों के लिए गवाह कितना विलक्षण प्राणी होता है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। परंतु इस अलौकिक प्राणी की बुद्धिमत्ता, नैतिकता, व्यवसाय और कार्य-पद्धति की जानकारी सभी सामान्य जनों को हो सके इसीलिए यह वर्णनात्मक निबंध लिखा जा रहा है।

इस विलक्षण प्राणी के प्रमुख मूलाधार दो हैं—'सबूत की आवश्यकता' और 'दैनिक भत्ता'। आवश्यकता को आविष्कार या कल्पनाशक्ति की जननी माना जाता है। यह नाता तो जगप्रसिद्ध है। इस प्रकार माता एक ही होने के नाते गवाह और कल्पनाशक्ति के बीच भाई-बहन का रिश्ता स्थापित होता है। इन दोनों का आपसी संबंध कितना घनिष्ठ होता है, और भाई को बहन ठीक मौके पर किस हद तक सहायता करती है इसका सही अंदाज अनुभव से ही प्राप्त हो सकता है।

इस अद्भुत प्राणी का प्रमुख व्यवसाय होता है लोगों के झगड़े-फसाद मिटाना। इसलिए जहां-जहां लेनदेन के व्यवहार या भविष्य में टंटा होने की संभावना के दूसरे व्यापार चलते हैं, वहां इसकी उपस्थिति अनिवार्य ही समझिये। जहां साहूकार आसामी से दस्तावेज लिखवाता है या कर्जदार साहूकार को ऋण की अदायगी करता है, वहां यह सर्वव्यापी प्राणी अत्यंत सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता रहता है। उसे मालूम होता है कि भविष्य में कभी न कभी उसकी अवलोकनशक्ति ही कसौटी मानी जायेगी। इसलिए कौन-सा मनुष्य किस रंग का पग्गड़ बांधे हुए था; भुगतान के समय रुपये किस प्रकार गिने गये; उन्हें किस चीज में बांधकर लाया गया; व्यवहार यदि वस्तु का हो, तो माल को नापने का पात्र किस धातु का बना हुआ था; माल ढोने वाली बैलगाड़ी के बैल किस रंग के

थे;—आदि छोटी-मोटी किंतु परमावश्यक बातों को वह ब्यौरेवार याद रखता है।

इसी प्रकार ब्याह-शादी या गोद लेने-देने के समारंभों में भी इस प्राणी की उपस्थिति अनिवार्य ही समझिये। विवाह के समय एक बार पंडितजी उपस्थित न हों तो काम चल सकता है, पर गवाह के बिना नहीं; फिर चाहे वह अन्य जाति का ही क्यों न हो। हमारे परिचित एक मुसलमान गवाह ने एक बार किसी हिंदू के विवाह में अपने हाथों से अंतरपट थामने की गवाही हलफनामे पर, खुदा को हाजिर-नाजिर मान कर दी थी।

यह प्राणी केवल सार्वजनीन प्रसंगों पर ही उपस्थित रहता हो ऐसी बात नहीं। कभी-कभी तो यह लोगों के अत्यंत निजी और गोपनीय व्यवहारों के समय भी हाजिर रहता है। पति-पत्नि के बीच की वैयक्तिक बातचीत या हत्यारों के षड्यंत्र जैसे नितांत गोपनीय प्रसंगों पर संबंधित लोगों के अलावा अकसर दो ही लोग उपस्थित रहते हैं। एक सर्वव्यापी परमेश्वर और दूसरा उतना ही सर्वव्यापी गवाह!

इस संज्ञा का एकवचनी प्रयोग हमने सिर्फ सुविधा की दृष्टि से किया है। इस से पाठकों को गलतफहमी होने की संभावना है। इसलिए आरंभ में ही यह स्पष्ट कर देना ठीक रहेगा कि गवाह कभी, कहीं, अकेला नहीं रहता। हमेशा दो-चार के गुट में ही जीवन व्यतीत करता है। यही कारण है कि किसी भी घटना को देखने वाले तीन-तीन, चार-चार तक गवाह मिल जाते हैं। इस दृष्टि से गवाह को समूह बना कर रहने वाला प्राणी मानना चाहिये।

औरों के झगड़े-फसाद मिटाना गवाहों का प्रमुख व्यवसाय होने पर भी वे आपस में एकमत कभी नहीं होते। बल्कि किसी भी सूरत में एक-दूसरे से सहमत न होना ही उत्तम गवाह का प्राथमिक लक्षण माना जाता है। उदाहरणार्थ, यदि तीन गवाहों से यह पूछा जाय कि कोई विशिष्ट घटना किस समय हुई थी, तो पहले के मतानुसार वह भोर की बेला होगी, दूसरे की राय दोपहर या शाम के पक्ष में होगी और तीसरे का कथन होगा कि उस समय तो आधी रात बीत चुकी थी और उसके सिवा सारी दुनिया गहरी नींद में सो रही थी। यदि केवल तीन गवाहों में इतना मतवैचित्र्य होकर पूछने वाले की मति कुंठित हो सकती है, तो उनकी संख्या अधिक होने पर तो न जाने क्या-क्या हो सकता है।

एक बार हमने चार गवाहों से किसी विशिष्ट घटना का समय जानना चाहा। पहले ने कसम खाकर (खरा, पेशेवर गवाह हलफ उठाये बिना कभी ज़बान भी नहीं खोलता) कहा कि बारिश के दिन थे और मूसलाधार वर्षा हो रही थी। दूसरे ने कहा कि जाड़ों के दिन थे और आग सेंकने के लिए सब तरफ अलाव जले हुए थे। तीसरे के अनुसार गरमी के दिन थे और लोग चांदनी में बैठे रसिया गा रहे थे। चौथे गवाह ने कोई नयी बात न कहते हुए अलग-अलग समय पर इन तीनों में से किसी एक का समर्थन किया। पर इसके लिए उसे दोष नहीं दिया जा सकता क्योंकि सर्दी, गर्मी और बरसात के सिवा और किसी मौसम की उसे जानकारी नहीं थी।

ये बयान परस्पर विरोधी होने पर भी झूठे होते हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। कारण, एक तो यह सारे बयान शपथ लेकर दिये जाते हैं। कसम खाकर भला कौन झूठ बोलेगा? दूसरे, गवाहों के विधान अकसर भवभूति द्वारा वर्णित 'वाचमर्थोऽनुधावति' श्रेणी में आते हैं। अर्थ की स्वतंत्र सत्ता ही कहां है? वह तो बेचारा वाणी के पीछे-पीछे भागता है। वह उसे जहां भी ले जाय! क्षुद्र शब्द और उनके सूक्ष्म अर्थों की क्या गिनती, अभिजात गवाहों के सामने तो पंचमहाभूत भी हाथ बांधे खड़े रहते हैं। वरना काली, अंधेरी रात में घूमने के लिए निकलने वाले गवाह को गहन अंधकार में चलने वाले चौर्यकर्म की जानकारी कैसे होती? चैत की निरभ्र रात्रि में भी जब ऐन वक्त पर बिजली चमक उठती होगी, तभी तो उसे घटना के दर्शन होते होंगे। जहां पंचमहाभूतों की यह हालत हो, वहां साधारण मनुष्य की क्या गिनती? उन्हें तो सदा-सर्वदा इस श्रेष्ठ प्राणी के साथ सहकार करना पड़ता है। यही कारण है कि कभी-कभी बड़े नामी-गिरामी चोर भी किसी के मकान में भीतर से सांकल लगाकर चोरी करते समय गवाह की आहट सुनते ही कुंडी खोल कर उसे भीतर बुला लेते हैं और फिर उसकी साक्षी में ही अपना पेशा करते हैं।

दूसरों की बातों में दखल देने की जन्मजात इच्छा के साथ-साथ कुदरत ने इस प्राणी को उतनी तीव्र बुद्धि और इंद्रियां भी दी हैं, यह बड़े सौभाग्य की बात है। एक बार एक अंधे गवाह ने मुलजिम के साफे का रंग पीला होने की चश्मदीद गवाही दी। अब आंखों देखी बात को भला झूठी भी कौन कह सकता है? इसी प्रकार वज्रबधिर गवाहों के कान दूसरों के निजी व्यवहारों की बातचीत सुनते

समय गजब के कार्यक्षम पाये गये। इतना ही नहीं, बहुत दूर होने वाली बातचीत भी उन्हें स्पष्ट सुनाई दी। यह सब अलौकिक गुण हैं, यह माना; परंतु स्मरणशक्ति के मामले में तो वाकई गवाहों की गणना सामान्य मर्त्यजनों के अंतर्गत नहीं होनी चाहिये। किसी विशिष्ट कारण के अभाव में औसत आदमी की याददाश्त पांच-दस वर्षों से अधिक का दायरा पार नहीं करती और उसकी पकड़ सिर्फ महत्वपूर्ण बातों तक ही सीमित रहती है। परंतु गवाहों के मन पर स्मृति का नागपाश बड़ा प्रबल होता है। बात कितनी ही छोटी क्यों न हो, और उसे बीते कितने ही वर्ष क्यों न हो गये हों, गवाहों की सदाबहार स्मृति में वह सदा तरोताजा रहती है। पंद्रह-पंद्रह वर्ष पहले के व्यवहारों को भी, फिर वे चाहे जितने उलझे हुए क्यों न हों, वे यों धड़ाधड़ दोहरा देंगे मानो वे कल ही हुए हों और सारी बातें उन्हें जबानी याद हों। उन्हें देखकर आजकल के कुछ वक्ताओं की याद आ जाती है। ये लोग अपना जोशीला व्याख्यान अकसर घर से रट आते हैं। कभी-कभी तो भाषण का पूरा मजमून पहले से छाप दिया जाता है। फिर भी, सभा में किसी सुभाषित को दोहराते समय या किसी प्रसिद्ध पुरुष के विचारों का उल्लेख करते समय जान-बूझ कर, सशंक मुद्रा से, 'इफ आइ रिमेंबर राइटली' (यदि मेरी याददाश्त धोखा नहीं दे रही है, तो····) इत्यादि शब्द जरूर जोड़ते हैं।

जन्मजात गवाहों की बिरादरी के लोग ऐसी कोई दुर्बलता प्रकट नहीं करते। उन्हें अकसर बड़ी-बड़ी रकमों के जमाखर्च वर्षों के बाद भी ज्यों के त्यों याद रहते हैं। बल्कि सच तो यह है कि बात जितनी ही क्षुद्र और छोटी हो, उतना ही उसका इनके मन पर अधिक स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। अभी उस रोज एक गवाह ने पच्चीस साल पहले के किसी व्यवहार की सिर्फ कानों सुनी तफसीलों को आने-पाई के साथ दोहराया था और एक अन्य महानुभाव ने चालीस वर्ष पहले पालने में पड़े हुए, अंगूठा चूसते-चूसते सुनी हुई किसी भूमि-विभाजन की बारीकियों का न्यायालय में आद्योपांत वर्णन किया था। दरअसल इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। माता के गर्भ में रहकर कृष्ण की व्यूहनीति को आत्मस्थ कर अठारह वर्ष बाद चक्रव्यूह-भेदन के समय उसका समुचित प्रयोग करने वाले अभिमन्यु का उदाहरण इस प्रकार के संशय को दूर कर सकता है।

अंततोगत्वा गवाह भी मनुष्य ही होता है। इसलिए कभी-कभी उपरोक्त नियम के अपवाद भी पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ किसी-किसी गवाह में यह कमजोरी

होती है कि वर्षों पहले की बातें जहां उसे ब्यौरेवार याद रहती हैं वहां कुछ रोज पहले की घटनाएं उसकी याददाश्त के शिकंजे से अनजाने ही खिसक जाती हैं। कभी-कभी तो उसके स्मृतिपट पर अंकित होने वाले चित्रों की स्पष्टता कालसान्निध्य के विपरीत अनुपात में पायी जाती है। दशाब्दियों पहले की बातें जहां उसे सिलसिलेवार याद रहती हैं, वहां कल दोपहर को कौन-सी सब्जी खायी थी यह उसे अकसर याद नहीं रहता। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो दो मिनट पहले मुंह से निकली हुई बात याद न रहने के कारण वह परस्पर विरोधी बयान कर बैठता है। इसके अलावा परोपकार के व्यापक सिद्धांत पर अटल श्रद्धा होने के कारण खानदानी गवाह अपने वैयक्तिक मामलों के प्रति अकसर उदासीन भी होता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' उसका चरम ध्येय होता है। इस नियम के अनुसार उपरोक्त सर्वज्ञ गवाह से आप यदि पूछें कि "जहां यह लेनदेन और जमाखर्च की बातें चल रही थीं, वहां तुम्हारा क्या काम था" तो वह शायद आपके प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकेगा। इसी प्रकार उससे यदि यह पूछा जाय कि "पारसाल तुमने अपने पिता का श्राद्ध किस ब्राह्मण से करवाया था ?" तो यह भी शायद उसे याद नहीं होगा। ऐसे प्रश्न पूछ कर उसे कुंठित करना उचित नहीं। परंतु बीस साल पहले के किसी समारोह में एकत्रित पचासों व्यक्तियों के नाम, वल्दियत, दो-तीन पीढ़ियों की वंशावली, उम्र, जाति, व्यवसाय इत्यादि ही नहीं बल्कि जरूरत पड़ने पर प्रत्येक ने किस प्रकार के कपड़े पहने थे, इसका वर्णन भी वह बिना हिचकिचाये कर सकेगा।

उपरोक्त उदाहरणों में जिस प्रकार अंधे, बहरे, लंगड़े आदि विकलांग गवाहों की नष्ट इंद्रियां पुनरोज्जीवित होती देखी गयी हैं उसी प्रकार कभी-कभी उनकी स्वस्थ और कार्यक्षम इंद्रियां नाकाम होती भी देखी जाती हैं। आंखों वालों को कभी-कभी कुछ दिखाई नहीं देता और कान वालों को कुछ सुनाई नहीं देता। यह विकार अकसर आसामी से दस्तावेज या अनुबंधपत्र लिखवाने वालों में पाया जाता है। इसी कारण से सादे बंधकपत्र के बजाय भोगबंधक या बेदखल-रेहननामा और रेहननामे के स्थान पर विक्रयपत्र लिखवा लेने का प्रमाद कभी-कभी उनके हाथों होता रहता है।

गवाहों में प्रायः चिलम पीने का एकमात्र व्यसन पाया जाता है। परंतु यह आदत अकसर उनके हित में ही प्रमाणित होती है। उनकी यह लत सुविख्यात

होने के कारण समान व्यसनी लोगों की ओर से उन्हें तंबाकूनोशी का निमंत्रण मिलता रहता है। इससे गवाहों को बड़ा लाभ होता है। अपने समव्यवसायी लोगों के साथ परिचय होने के अलावा एक लाभ यह भी होता है कि उनकी झिझक खुल जाती है और तरह-तरह के लोगों के व्यवहार का सूक्ष्म निरीक्षण करने का भी उन्हें मौका मिलता है। साथ ही विपक्षी की छावनी में प्रवेश मिल जाने पर दुश्मन के दांव-पेंचों की जानकारी भी मिल जाती है। जहां तंबाकू पीने की सुविधा नहीं होती वहां के गवाहों की प्रिय आदत होती है बाजारों का चक्कर लगाना। परंतु इसमें एक खतरा रहता है। मुकदमेबाज लोग अकसर उन्हें अपने टंटे-फसाद मिटाने के लिए पकड़कर ले जाते हैं और उनकी उपस्थिति में फिर वही सारे काम करते हैं जिनकी भविष्य की किसी गवाही में फिर आवश्यकता पड़ सकती है।

उपरोक्त दो प्रसंगों के सिवा खरे गवाह आपस में कभी बात नहीं करते। एक साथ लंबी यात्रा करने का मौका आन पड़े तो अभिजात गवाहों का बर्ताव अकसर अंगरेज अपरिचितों की तरह औपचारिक और रूखा रहता है। न्यायालय में कदम रखने से पहले तो उनका एक-दूसरे से परिचय भी नहीं होता।

सत्यप्रियता के लिए भारतीय गवाहों की ख्याति तो ब्रह्मांड में फैली हुई है। अब यह बात अलग है कि जिसके पक्ष में वे गवाही देते हैं वे अकसर उनके सगे-संबंधी या साहूकार ही होते हैं। परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि गवाह हमेशा सच ही बोलते हैं और सच के सिवा कुछ नहीं बोलते। एक बार जो बात मुंह से निकल गयी वह पत्थर की लकीर बन जाती है और उससे वे "प्राण जाय पर वचन न जाई" की टेक से चिपके रहते हैं। तफसील बताने पर उतारू हुए तो किसी भी प्रश्न के उत्तर में "मालूम नहीं" उनके मुंह से नहीं निकलेगा और एक बार यदि "मालूम नहीं" की परंपरा शुरू हो गयी तो साक्षात् ब्रह्मदेव भी उनके मुंह से एक शब्द भी नहीं उगलवा सकते। हां, कभी-कभी प्रसंगानुसार वे अपने उत्तरों का ढांचा अवश्य बदल देते हैं। उदाहरणार्थ जिरह के समय यदि गवाह से पूछा जाए कि "अमुक-अमुक इकरारनामा गांव के चौपाल में हुआ था क्या ?" तो इसका उत्तर 'हां' या 'नहीं' में देने के बजाय निम्नोक्त दो प्रकारों में से एक में दिया जा सकता है। कुछ गवाह तो "इस प्रकार के समझौते चौपाल में नहीं तो और कहां होंगे,...तुम्हारे घर में ?" इत्यादि त्वरित प्रतिप्रश्न पूछ

कर आपको निरुत्तर कर सकते हैं जबकि कुछ "इस प्रकार के करार-मदार तो चौपाल में ही होते हैं। गांव का बच्चा-बच्चा यह जानता है" आदि निश्चयात्मक बयान देकर पूछने वाले को मूर्ख प्रमाणित कर सकते हैं। उत्तर देने की इस पद्धति में वैचित्र्य के अलावा लोगों को लौकिक ज्ञान प्रदान करने की और कभी-कभी हाकिम की हमदर्दी प्राप्त करने की भी शक्ति होती है। कभी-कभी तो इस उत्तर पद्धति में गवाह इतने पटु हो जाते हैं कि कचहरियों में निम्नलिखित श्रेणी की मनोरंजक प्रश्नोत्तर माला सुनाई दे सकती है:—

किसी मुसलमान गवाह से पूछा गया, "तुम्हारी चार बीवियां हैं ?"

उत्तर : "सभी की चार-चार बीवियां होती हैं।"

प्रश्न : "पहली स्त्री शायद मर गयी ?"

उत्तर : "जो जनमता है वह कभी न कभी मरता ही है।"

प्रश्न : "तुम्हारे संसर्ग से उसे एक लड़का हुआ था ?"

उत्तर : "मेरी बीवी को बच्चा मुझसे नहीं होगा तो क्या आप से होगा ?" इत्यादि।

गवाहों की सबसे बड़ी बीमारी यह होती है कि कभी-कभी पूछे गये प्रश्न उनकी समझ में नहीं आते और वे उनके विसंगत उत्तर देने लगते हैं। एक बार यह प्रक्रिया शुरू हो गई कि पूछने वाले की खैर नहीं। कब, कहां, कैसे, इत्यादि प्रतिप्रश्न पूछ-पूछ कर या पूछे गये प्रश्नों के कुछ शब्दों को ही दोहरा-दोहरा कर वे प्रश्नकर्ता की नाक में दम कर देते हैं। किसी प्रसंग का वर्णन करने की कुछ गवाहों की पद्धति तो किसी उपन्यासकार की वर्णन शैली की तरह सुनियोजित और लच्छेदार होती है। "अमुक प्रश्न के संबंध में तुम्हें क्या जानकारी है ?" ऐसे सीधे-सादे प्रश्न का सरल सा उत्तर देने के बजाय वे "छह महीने पहले की बात है। एक दिन सुबह मैं सो कर उठा और मुंह-हाथ धोकर खेत की ओर जा ही रहा था कि…" आदि शब्दों से आरंभ करके उक्त घटना के देशकालादि ब्यौरे के साथ अपनी वैयक्तिक दिनचर्या को जोड़ कर पूरे प्रसंग का सूक्ष्म वर्णन धाराप्रवाह गति से करने लगेंगे। किसी भी प्रकार की पूर्व तैयारी किये बिना इस प्रकार का सुसंबद्ध और स्पष्ट व्याख्यान दे सकने वाला वक्ता साधारण सामाजिक जीवन में विरला ही होता है।

एक महत्व की बात का उल्लेख रह गया। वह यह कि इस सर्वज्ञ प्राणी को

बहुत-सी निजी बातों की कतई जानकारी नहीं होती। उदाहरणार्थ अपनी उम्र का सही-सही अंदाज शायद ही किसी गवाह को होता है। फलस्वरूप कोई नौजवान गवाह अपने आपको मृत्यु के बिलकुल करीब पहुंचा हुआ मानता है तो कब्र में पांव लटकाये बैठा हुआ कोई खूसट अपने आप को नौजवान समझता है। परंतु गवाहों की उम्र की जानकारी न्यायाधीशों को भलीभांति होती है। उन्हें मुकदमे के लिखित बयानों से इसका पक्का ज्ञान हो जाता है। दूसरी आश्चर्य की बात यह होती है कि गवाहों की उम्र अकसर पांच के पहाड़े में ही घटती-बढ़ती है। मसलन किसी गवाह की उम्र का पैंतीसवां वर्ष पूरा होते ही वह अन्य क्षुद्र प्राणियों की तरह छत्तीस, सैंतीस आदि के सोपान पार करता हुआ आगे नहीं बढ़ता; बल्कि एकदम चालीसवें वर्ष में ही पदार्पण करता है। गवाहों की एक खासियत यह भी होती है कि गवाही देते समय वे अकसर ऊपर की ओर शून्य में ताकते हुए बोलते हैं; मानो अपने वक्तव्य की सच्चाई प्रमाणित करने के लिए उस त्रिकालज्ञ परमेश्वर का आवाहन कर रहे हों। इसी प्रकार बोलते समय वे अकसर खांसते-खंखारते भी रहते हैं। यह प्रायः चिलम पीने का दुष्परिणाम होता है। व्यसनी लोगों को इस से सबक सीखना चाहिये।

2. ताले

ताले जैसा स्वामिभक्त और ईमानदार पहरेदार तीनों लोक में ढूंढे नहीं मिलेगा। उसके सामने अपार संपत्ति ऊंड़ेल देने पर भी वह विचलित नहीं होता और दरवाजे पर की उसकी पकड़ ढीली नहीं पड़ती। किसी त्रिभुवन-सुंदरी के नेत्रकटाक्ष से भी उसका लौहहृदय पिघलता नहीं। पहरा देते समय उसे न तो नींद की झपकी आती है, न भूख-प्यास जैसी सामान्य बाधाएं ही उसे सताती हैं। सर्दी-गर्मी या धूप-छांव का भी उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लुहार को बुलवा कर उसके वज्र-हृदय को प्रहारों द्वारा छिन्न-भिन्न करवा दिया जाय, तो बेशक उसके सामने कोई चारा नहीं रहता। प्राचीन रोमन सैनिकों की तरह कर्त्तव्यपालन करते-करते मृत्यु का मुकाबला करना ही उसका परम ध्येय होता है।

परंतु इस संसार में सर्वगुणसंपन्न तो शायद कोई भी नहीं है। बेचारा ताला भी इस नियम का अपवाद कैसे हो सकता है ? उपरोक्त दुर्लभ गुणों को आत्मसात करने के लिए जिस बुद्धिशून्यता की आवश्यकता पड़ती है, उसी के कारण कभी-कभी उसके हाथों बड़े-बड़े कांड घटित हो जाते हैं। उसका काम होता है मुख्यत: कुंडे और सांकल की जोड़ी में वियोग न होने देना। पर कोई चोर यदि कुंडी को तोड़ कर दोनों का वियोग कर दे तो ताले को कदाचित् कोई आपत्ति नहीं होती। इसी प्रकार सांकल की सबसे ऊपर वाली कड़ी का दायरा ताले से अधिक हो, और कोई बंद ताले को उसके बीच में से निकाल कर सांकल खोल ले, तो इस चमत्कार को भी चकित दृष्टि से देखते रहने के सिवा और कोई विरोध ताले की ओर से प्राय: नहीं होता। लकड़ी के बक्सों के तख्तों को किसी तीक्ष्ण औजार की मदद से निकालकर भीतर का माल गायब कर दिया जाय तो ताले का उससे कोई लेना-देना नहीं माना जा सकता। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो

ताले के साथ पूरा बक्सा ही उड़ा लिया जाय, तो भी उसे विशेष हर्ष या शोक नहीं होता। वस्तुतः किसी भी परिस्थिति का अपने स्थान से विचलित हुए बिना स्थितप्रज्ञता से सामना करना ही उसके जीवन का चरम ध्येय है।

ताले के जैसे दृढ़निश्चयी और कृतसंकल्प प्राणी पर भी कभी-कभी स्थानभ्रष्ट और कर्तव्यच्युत होने का आरोप लगता है। ऐसा किस कारण से होता है यह ईसाई धर्मग्रंथों के अध्येताओं को बताने की आवश्यकता नहीं। उन ग्रंथों के अनुसार मानवजाति के आदिपुरुष के अधःपतन का कारण भी नारी है। ताले की कर्तव्यभ्रष्टता के लिए भी उसकी स्त्री चाभी ही जिम्मेदार है। चमत्कार की बात तो यह है कि आदम का पतन जिस प्रकार हव्वा की अतिरिक्त जिज्ञासा के कारण हुआ था, उसी प्रकार ताले का अधःपतन भी उसकी स्त्री चाभी की अति-जिज्ञासा के कारण ही होता है। यह विचित्र स्त्री पति के पेट में बैठकर अंदर के कोने-कोने की जानकारी प्राप्त कर लेती है और अंत में उसके हृदय पर कब्जा जमाकर उसकी निश्चलता को भंग कर देती है। और तो और इस स्त्री का अपने पति पर ऐसा दबदबा रहता है कि उसकी अनुपस्थिति में ताले महाशय अपने स्वामी की भी एक नहीं सुनते।

चाभी को ताले में दाहिनी ओर घुमाने पर वह बंद हो जाता है और बायीं ओर घुमाने से खुल जाता है। स्त्री-पुरुष की अर्धांगिनी होती है और उसका स्थान पति के बामांग में होता है। मनुष्य के हृदय का स्थान भी छाती में बायीं ओर ही होता है। प्रकृति ने ये सारी योजनाएं शायद ताले की रचना को देखकर ही की होंगी।

कुछ ताले आजीवन अविवाहित रहते हैं। इन ब्रह्मचारी तालों को अक्षर या संख्या वाले ताले (Letter locks or Combination locks) कहा जाता है। हमारे सनातनी मित्रों के समाधान के लिए हम यह निश्चय पूर्वक कहने को तैयार हैं कि इन इने-गिने धर्मच्युत तालों के भ्रष्टाचार को नजरअंदाज कर दिया जाय, तो बाकी के बहुसंख्यक तालों का व्यवहार इस आर्यभूमि के सुपुत्रों को शोभा देने वाला ही होता है। मतलब यह कि प्रत्येक ताले के साथ दो-दो चाभियां मिलती हैं। इतना ही नहीं, ये दोनों नष्ट हो जायें, तो तालों को तीसरी या चौथी भार्या करने की भी धर्माज्ञा है।

हमारे मित्र बंडू नाना को तरह-तरह के ताले इकट्ठे करने का गजब का शौक है। अनेक धातुओं के बने हुए, विविध आकृतियों वाले विभिन्न प्रकार के सैकड़ों

ताले इकट्ठे करके उन्होंने घर में एक छोटा-मोटा संग्रहालय इकट्ठा कर लिया है। इतना ही नहीं, वे उन्हें काम में भी लाते हैं। घर में रुपयों की तिजोरी से लगाकर दूध-दही रखने की जालीदार आलमारी तक और नाज की कोठरी से लेकर उसका अंतिम विसर्जन होने की कोठरी तक हर जगह ताले लगाकर पक्की मोर्चेबंदी कर रखी है। घर पर डाका पड़ने वाला है। ऐसी सूचना मिलने पर भी किसी ने शायद इतनी पुख्ता नाकेबंदी न की होती। ऐसा मुकम्मल बंदोबस्त उन्होंने अपनी संपत्ति की रक्षा करने के क्षुद्र हेतु से नहीं बल्कि अपने प्रिय तालों पर आने-जानेवाले मित्रों की नजर पड़ती रहे और वे सहज कौतूहल से उनके संबंध में पूछताछ करते रहें इस उदात्त भावना से प्रेरित होकर किया है। इस शौक की खातिर नाना ने कहीं-कहीं तो एक-एक कुंडी में दो-दो और कहीं एक ही दरवाजे को दोनों ओर भी ताले लगा रखे हैं।

इस विचित्र आयोजन के कारण उन्हें कई बार बड़ी विचित्र परिस्थितियो का मुकाबला करना पड़ा है। एक बार गल्ले के कोठार की चाभी उनकी पत्नी से कहीं खो गयी। ताला विदेशी और विजातीय होने के कारण उसके लिए दूसरी सह-धर्मिणी पूरा बाजार ढूंढने पर भी नहीं मिली। लोहार को बुलवाकर ताले का उदरविदीर्ण करना संभव नहीं था। अपनी संतान से भी अधिक जतन किये हुए ताले के इस प्रकार अंजरपंजर अलग होते देखना नाना के बूते से बाहर की बात थी। फिर थे वे स्वाभिमानी व्यक्ति और इसीलिए किसी पास-पड़ोसी से दो छवड़ी गेहूं मांगने में उनकी नाक नीची होने की संभावना थी। परिणाम यह हुआ कि उस रोज पूरे परिवार को ताले के कारण उपवास करना पड़ा। खैर, उस रोज एकादशी होने के कारण किसी को यह बात अखरी नहीं और अनायास ही उपवास का पुण्य सबके पल्ले पड़ गया। परंतु दूसरे दिन भी यही हालत रही। नाना की नाक में दम आ गयी। आखिर हमें सब बातें मालूम हुईं और हम खुद लोहर को लेकर उनके घर पहुंचे। ताला तुड़वाया तब कहीं बच्चों को खाना नसीब हुआ। परंतु इस छोटी-सी बात को लेकर हमारे इस अभिन्न मित्र को इतना गुस्सा आया कि कई दिनों तक उन्होने हमसे बात करना भी छोड़ दिया। तीन दिन तक उन्होंने उस टूटे हुए ताले का मातम मनाया और घर में सूतक रखा। इन तीन दिनों में अपने प्राणप्रिय ताले की छिन्न-विच्छिन्न देह को चूमते हुए भी उन्हें कई लोगों ने देखा था।

रोजमर्रा के व्यवहार में आनेवाले तालों की चाभियों को बंडू नाना जनेऊ में बांधे रखते हैं। इसी कारण वे कभी खोती नहीं हैं। अकसर उनकी अर्धांगिनी के अधिकार की चाभियां ही खोती हैं। उपरोक्त अनर्थकारी घटना के बाद उन्होंने यह नियम बनाया कि पत्नी के हाथों में अपने खानदानी और अभिजात ताले सौंपने के बजाय बाजार में बिकने वाले मामूली ताले दिये जायें। ये ताले चाभी के मामले में किसी विशिष्ट विधिनिषेध का पालन नहीं करते। उन्हें खोलने के लिए कोई-सी भी चाभी, कील, या सादी सलाई भी पर्याप्त होती है। कभी-कभी तो वे मामूली से झटके से भी खुल जाते हैं। अपने हृदय की अंतरंग बातें किसी विशिष्ट ताली के सामने ही प्रकट करने की कोई जिद इन स्वेच्छाचारी तालों को नहीं होती। दूसरे शब्दों में कहें तो ये ताले एक पत्नीव्रती नहीं होते। इन बाजारी तालों की इस 'वसुधैव कुटुम्बकम्' नीति को देख कर ही एक बार नाना के एक पुराने नौकर को चोरी करने की प्रबल प्रेरणा मिली थी और वह कई हजार रुपये का माल लेकर चंपत हो गया था। इसके बाद अब वे फिर अपनी पत्नी को अधिक निपुण और विश्वसनीय ताले सौंपने लगे हैं।

और किसी ताले को लेकर तो विशेष तर्क-वितर्क नहीं हुआ, पर तिजोरी में कौन-सा ताला लगाया जाय इस समस्या को बंडू नाना कई दिनों तक हल नहीं कर सके। पहले उन्होंने विशिष्ट अक्षरों के योग से खुलने वाला ताला (Combination lock) लगा कर देखा पर तिजोरी वाले कमरे में अंधेरा होने के कारण अक्षर देखने में कठिनाई होने लगी। फिर बड़े प्रयास से उन्होंने उस भारी-भरकम और महाकाय तिजोरी को बाहर के कमरे में रखवाया। परंतु इससे एक और बाधा खड़ी हुई। रोशनी में सबके सामने अक्षर जोड़कर ताला खोलते समय अक्षरों का गोपनीय योग सबको दिखाई पड़ने लगा। इस पर नाना ने फतवा दिया कि "पढ़े-लिखे लोगों की तरह ये साक्षर ताले भी निकम्मे होते हैं। इससे तो भारतीय परंपरा के निरक्षर ताले कहीं अच्छे!" आधुनिक शिक्षा-पद्धति पर यह ताना कसकर वे फिर पुराने तालों की शरण में गये और कई प्रकार के तालों की योजना बनायी। परंतु किसी से भी उन्हें संतोष नहीं हुआ। अंत में उन्होंने किसी अनूठी किस्म का अजूबा ताला खुद ईजाद करने का निश्चय किया। तालों के साथ के इतने लंबे और घनिष्ठ संपर्क के कारण वे अपने आपको इस विषय का छोटा-मोटा विशेषज्ञ मानने लगे थे।

उन दिनों बाजार में एक नये प्रकार के जापानी ताले मिलने लगे थे। इनकी विशेषता यह थी कि चाभी की जरूरत सिर्फ उन्हें खोलते समय पड़ती थी बंद वे सिर्फ दबाने भर से हो जाते थे। नाना की आविष्कारक प्रतिभा के लिए यह एक चुनौती थी। एक दिन वे प्रसन्न मुद्रा से हमारे पास आये और कहने लगे : "हमारी इस आर्यभूमि में कल्पनाशक्ति और आविष्कारक प्रतिभा का नितांत अभाव है, ऐसी शिकायत अकसर सुनाई देती है। पर यह इलजाम है बिलकुल झूठा। बात यह है कि हमें ऐसा कोई मौका ही नहीं मिलता, मौका मिला होता तो हमारे यहां भी सैंकड़ों एडीसन पैदा हुए होते।" देशाभिमान के इस आकस्मिक उफान का कारण पूछा जाने पर नाना ने पहले तो हम से यह वादा करवाया कि हम उनकी प्रशंसा नहीं करेंगे। फिर किसी लोहार की सहायता से उन्होंने स्वयं निर्माण किया हुआ एक ताला हमें दिखाया। कहने लगे : "इस ताले की मौलिक कल्पना मुझे इन खटके वाले तालों को देखकर सूझी। पर मेरे इस ताले के गुणधर्म इन जापानी तालों से ठीक उलटे हैं। उन तालों को सिर्फ खोलने के लिए चाभी की आवश्यकता पड़ती है; इसे सिर्फ बंद करने के लिए पड़ेगी। उनको बंद करने के लिए सिर्फ दबा देना काफी होता है; इसे खोलने के लिए मामूली सा झटका पर्याप्त है। वे खटके से बंद होते हैं; यह झटके से खुलता है। अब कहीं जाकर मैं निश्चित हुआ। पुराने ताले निकालकर सब जगह, और खासतौर से तिजोरी को तो मैं यही ताला लगाऊंगा।"

हमने उन्हें समझाने का भरसक प्रयत्न किया, पर सब बेकार ! लोग भले ही इसकी कीमत न समझें, पर दृढ़निश्चय नाना का एक दुर्लभ और अलौकिक गुण रहा है। "कला या कारीगरी को प्रोत्साहन देना तो हम लोगों के खून में ही नहीं है"—इत्यादि बड़बड़ाते हुए वे चले गये। घर पहुंचते ही उन्होंने अविलंब अपनी योजना को कार्यान्वित किया। यह अलग बात है कि हमारी आशंका के अनुसार कुछ ही दिनों में उनके यहां चोरी हुई। नाना तिलमिलाए तो बहुत; पर किया क्या जाय ! उन्हीं के शब्दों में कहें तो, "इस देश के चोर भी ससुरे देशद्रोही और स्वदेशी कारीगरी को प्रश्रय न देने वाले होते हैं।"

इसके बाद नाना ने तिजोरी को अपने सोने के कमरे में रखवाया और उसमें घंटी बजानेवाला अलार्म ताला लगवाया। हमसे कहने लगे : "अब देखता हूं कि चोर मेरे हाथों से कैसे बचता है। बिटवा को मालूम भी नहीं पड़ेगा। जैसे ही ताले

में चाभी लगायेगा कि घंटी बजने लगेगी और घर भर के लोग इकट्ठे हो जायेंगे। फिर तो ससुर को सीधे हवालात के ही दर्शन होंगे। इसके अलावा आजकल मेरी नींद भी बहुत सतर्क हो गई है। ये तो सोती रहती हैं कुंभकर्ण की तरह, पर मुझे तो अपने खर्राटे भी सुनाई देते रहते हैं। घंटी की पहली आवाज के साथ ही मैं उठकर चोर की गर्दन पर सवार हो जाऊंगा।"

सब मिलाकर उनकी यह योजना हमें भी बहुत पसंद आयी। परंतु जिस रोज यह स्वयंनिदानी ताला लगाया गया उसी रोज आधी रात बीते हमें घंटी की आवाज जोर-जोर से सुनायी दी। हम भागते हुए पहुंचे और उनके कमरे में जाकर देखते हैं तो हंसी रोकना मुश्किल हो गया। नाना खुद ही दाहिने हाथ से तिजोरी के ताले को खोलने की कोशिश कर रहे थे और बाएं हाथ से दाहिने हाथ को कसकर पकड़कर 'चोर-चोर' चिल्ला रहे थे।

इसके कई दिनों बाद बलूची खानाबदोशों के एक गिरोह ने शहर के बाहर पड़ाव डाला। ये लोग अकसर तरह-तरह के चाकू, छुरियां, कैंची, ताले आदि वस्तुएं बेचने का धंधा करते हैं। बंडू नाना को मालूम पड़ते ही उन्होंने इन लोगों के पास के तमाम ताले खरीद लिए और घर के सब पुराने तालों के स्थान पर इन नये तालों की प्रस्थापना कर दी। संयोग से उन्हीं दिनों एक नाटक कंपनी भी शहर में आयी हुई थी। हमारे नाना ठहरे नाटक के गजब के शौकीन। पहले ही दिन सपरिवार नाटक देखने गये। खेल था 'सुभद्राहरण उर्फ चौर्यकर्म विपाक'। उन नये श्रेष्ठ तालों की वजह से अब चोरी-वोरी का तो कोई डर रहा ही नहीं। ऐसा उन्हें दृढ़ विश्वास था। इसलिए वे निश्चित मन से वहां पहुंचे। इतना ही नहीं, जाते समय कहने लगे, "चोरों से कहो कि बेटे अब आकर करो चोरी! सारी अकल ठिकाने आ जायेगी। बापजनम ऐसे ताले कभी देखे भी नहीं होंगे।"

नाटक सुबह पांच बजे समाप्त हुआ। आकर देखते हैं तो सब संदूकों के ताले ज्यों के त्यों मौजूद थे, पर भीतर का माल गायब था। कीमती चीजों के अलावा घर के बर्तन-भांडे और कपड़े-लत्ते तक नदारद थे। पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि बलूचियों की टोली भी रफूचक्कर हो चुकी थी। इस अनुमान के लिए तर्कशास्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं थी कि बलूचियों ने बेचारे सीधे-साधे नाना को उल्लू बना दिया था। पहले तो अपने सारे ताले उन्होंने बेचे और फिर मौका देखकर अपनी चाभियां लगाकर माल लेकर चंपत हो गये।

गनीमत यह हुई कि उस रोज नाना की पत्नी पति के मना करने के बावजूद अपने सारे गहने पहन कर नाटक देखने गयी थी, इसलिये गहने बच गये। नाना पत्नी की आभूषणप्रियता की सदा आलोचना करते रहते थे। अब श्रीमतीजी को मौका मिल गया। अब वे उठते-बैठते नाना को ताना सुनाती रहती हैं कि उनके असंख्य तालों की मोर्चेबंदी की अपेक्षा आखिर उनका गहनों का शौक ही घर की संपत्ति की रक्षा करने में काम आया।

बेचारे बंडू नाना ! जवाब भी क्या देते ! उनके मुंह पर तो जैसे उन्हीं के संग्रहालय का सबसे मजबूत ताला लग गया था।

3. होली

हमारे सिद्धांतवादी पूर्वजों ने हमारे लिए जो अनेक रस्मोरिवाज बनाये थे, उनमें होली-धुलैंड़ी के त्यौहार और उन्हें मनाने के तरीकों का स्थान बहुत ऊंचा है।

बाह्य दृष्टि से निरर्थक ही नहीं बल्कि अनुचित और अनीतिपूर्ण दिखाई देने वाली बातों में भी कितना सत्यांश छिपा रहता है इसकी गवेषणा करने का हमें कुछ दिनों से नया शौक लगा है। इसका सारा श्रेय प्रोफेसर अतीतप्रिय को है। ये प्रोफेसर साहब दो-तीन वर्ष पूर्व हमारे शहर में पधारे थे और लंबे-चौड़े एवम् सरस व्याख्यानों द्वारा लोगों को विश्वास दिला गये थे कि आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता में नया कुछ भी नहीं है।'अग्निमीडे पुरोहितम्' आदि वेदमंत्रों की सहायता से उन्होंने सप्रमाण सिद्ध कर दिया था कि वेदकाल में रेलगाड़ियों का अस्तित्व था। इसी प्रकार तार, टेलीफोन, बिजली आदि सारे आधुनिक आविष्कार अत्यंत पुरातन हैं और प्राचीन भारतीयों को वे अवगत थे। इस संबंध में भी उन्होंने किसी के मन में कोई शंका नहीं छोड़ी थी। श्रोतागण उनके वक्तृत्व से आनंद विभोर होकर तालियों की वर्षा करते। यह बात इस हद तक बड़ी कि अंत होते होते तो उनका व्याख्यान स्पष्ट सुनाई भी नहीं देता था। फिर भी उनके व्याख्यानों पर से लोगों की श्रद्धा रंचमात्र भी कम नहीं हुई। अपने सिद्धांतों के लिए तार्किक आधार या अपनी अनूठी गवेषणाओं के लिए शास्त्रीय प्रमाण देने के झंझट में तो वे कभी नहीं पड़े; परंतु उनके आवेशमय भाषणों के मध्य सुनाई दे जाने वाले 'वेदकाल में कोट-पतलून ही नहीं, बूटों का भी अस्तित्व था', 'स्मृतियों में ऐनक और इस्तरी का उल्लेख पाया जाता है', 'अगस्त्य ऋषि ने सोमरस में मिलाने के लिए सोडावाटर का कारखाना खोला था' इत्यादि महत्वपूर्ण और ऊंची आवाज में कहे गये वाक्यों

की सुनकर श्रोतागण वक्ता की विद्वत्ता पर मुग्ध हो जाते थे।

अंत में उन्होंने जब यह स्थापित किया कि पूर्वकालीन ऋषिमुनि मद्यमांस का सेवन भी करते थे, तब तो हमारे आनंद की सीमा न रही। हम आधुनिक सुधारवादियों की ओर तुच्छता और तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगे। इन उन्मत्त सुधारकों को लगता है कि मद्यमांस की ईजाद उन्होंने ही की है। इन पामरों को इतना भी ज्ञान नहीं कि भोजन करते समय वशिष्ठ ऋषि पूरा का पूरा बैल पार कर देते थे और सोमरस नामक विशुद्ध भारतीय ठर्रे का सेवन करके नालियों में लोट लगाने से देवराज इंद्र की प्रतिष्ठा रंचमात्र भी कम नहीं होती थी। इन कमअकल लोगों को मालूम नहीं कि उनके सारे आधुनिक आचार हमारे पूर्वजों ने पहले ही उच्छिष्ट कर दिये हैं।

इसके बाद तो शीघ्र ही शहर में एक शराब के ठेके की और एक कसाई की दूकान की स्थापना हुई। तब से लगा कर आज तक इन दोनों प्रतिष्ठानों की निरंतर प्रगति हो रही है और अपने पूर्वजों की परंपरा को आत्मसात् करके बहुत से सनातन-धर्माभिमानी लोग सुधारवादियों से भी कई कदम आगे बढ़ गये हैं। इससे सुधारकों की बड़ी हेठी हुई और कम-से-कम हमारे शहर में तो सुधारकों का नामोनिशान भी नहीं बचा। ताड़ीखाने के मालिक ने बीच में एक ऐसा प्रवाद फैलाया था कि उपरोक्त प्रोफेसर महोदय को घूस देकर उसीने मद्यमांस के प्रचार के लिए भेजा था। परंतु हम सबको विश्वास दिलाते हैं कि यह निरी अफवाह है; झूठा अभियोग है। हम जैसे कुछ गिने-चुने लोगों ने यह बात फौरन ताड़ ली और इस मिथ्यावादी कलाल का विरोध करने के लिए उसकी दूकान के ठीक सामने हमने एक विशुद्ध आर्य मधुशाला की स्थापना की। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसकी भी आशातीत प्रगति हुई। इन सब बातों से मर्मज्ञ पाठकों की समझ में आ गया होगा कि सत्य की सदा जय होती है।

उपरोक्त प्रोफेसर साहब ने यह भी बताया था कि हमारे दूरदर्शी पूर्वजों ने भोजन-पूजन के समय रेशमी पीतांबर पहनने की प्रथा क्यों शुरू की। जाहिर है कि उन्हें रेशम में विद्युत् का निवास होने की बात मालूम थी। इससे पहले रेशमी वस्त्रों में छिपी रहने वाली बिजली की बात हमने सुनी भी नहीं थी। व्याख्यान का हमारे मन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उसी रोज से हमने रेशमी पीतांबर पहनना छोड़ दिया। बल्कि यों कहिए कि पहनने की हमारी हिम्मत ही

नहीं हुई। न मालूम लांग बांधते समय या अंटी खोंसते समय घर्षण से कब बिजली उत्पन्न हो जाय और हमें भस्म कर दे। इस हालत में देशोपकार की हमारी अनेक योजनाएं मन में ही रह जातीं। वैसे अपने प्राणों की हमें रत्ती भर भी परवाह नहीं है। परंतु हमारे चले जाने से देश और जाति का कल्याण अधूरा रह जाय, यह हमें बिलकुल गवारा नहीं था।

तो इस प्रकार के दूरदर्शी और सिद्धांतवादी पूर्वजों द्वारा निर्माण किया हुआ होली-धुलैंड़ी का त्यौहार अहेतुक कैसे हो सकता है? हमारी विनम्र राय में इसके मूल में चार प्रकार के हेतु हो सकते हैं। पहला ऐतिहासिक, दूसरा सैद्धांतिक, तीसरा स्वास्थ्यसंबद्ध और चौथा नैतिक। हमारा अतीत का रहन-सहन कितना प्रबुद्ध और वैज्ञानिक था, यह सिद्ध करने का प्रयत्न ऐतिहासिक प्रयोजन के अंतर्गत आता है। योरप के लोग अभी कुछ शताब्दियों पहले तक नंगे घूमते थे यह बात तो हमारी कई सांस्कृतिक पत्रिकाओं ने निर्विवाद रूप से सिद्ध कर दी है। नंगेपन में तो आज भी कोई विशेष फर्क नहीं पड़ा है; सिर्फ अब वे तरह-तरह के रंग और लेप तैयार कर शरीर के विभिन्न भागों पर चुपड़ने लगे हैं। कृत्रिम रंग बनाकर उन्हें शरीर पर चुपड़ने की क्रिया, कुछ भी कहिए, पर है आधुनिक और पाश्चात्य! उसकी अपेक्षा हमारी इस स्वर्णभूमि की निसर्गनिर्मित और सब जगह प्रचुर मात्रा में, बनी-बनायी, तैयार मिल जाने वाली धूल और प्राकृतिक रूप से उपलब्ध गोबर का शरीर पर विलेपन करके घूमना क्या बुरा है? सिर्फ इसी एक प्रथा से हमारी संस्कृति की प्राचीनता और श्रेष्ठता सिद्ध हो जाती है। इसके बाद पाश्चात्य विद्वान हमारी सांस्कृतिक प्राचीनता के बारे में चाहे जितनी शंका-कुशंका व्यक्त करते रहें, वे अपने आप अप्रामाणिक और मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं।

दूसरा हेतु है सैद्धांतिक! सर्व चराचर वस्तुओं का अंतिम विनियोग मृत्यु में ही होता है यह सिद्ध करने के लिए हमारे पूर्वजों को इससे अच्छा साधन कहीं ढूंढे न मिलता। देखिए न, कितनी तर्कसंगत बात है कि चैत्र की प्रतिपदा के दिन वर्ष का आरंभ हो फूल-तोरणों से और उसका अंत हो धूल-धुआं, गोबर-कीचड़, होहल्ला और अंत्ययात्रा के जुलूसों से। नासमझ लोग चाहें तो इससे कितना सबक सीख सकते हैं। मृत्यु और विनाश के अवश्यंभावी होने के उदात्त तत्व को किसी भी प्रकार का पर्दा न रखते हुए, कुछ अभद्र और अशिव तरीके से ही सही,

पर इतने स्पष्ट रूप में प्रस्थापित कर देने के लिए हम हमारे पूर्वजों के सदा ऋणी रहेंगे। हमारी अल्प बुद्धि को तो ऐसा भी लगता है कि इस हुड़दंग में शामिल होने की स्त्रियों को भी छूट दी गयी होती तो इससे होने वाला लाभ कई गुना बढ़ गया होता।

तीसरा हेतु है आरोग्य-विषयक ! उस जमाने में आज की तरह म्युनिसिपल-कमेटियां तो थीं नहीं। वर्षभर में एकत्रित होने वाली गंदगी को सामुदायिक प्रयत्नों से ही उलीचना जरूरी होता था। इन उपायों में धुलैंड़ी का त्यौहार अत्यंत लोकप्रिय, सर्वमान्य और कार्यक्षम सिद्ध हुआ होगा। आज के धर्मभ्रष्ट युग में भी गंदी नालियां और घूरे धुलैंड़ी के दिन जितने साफ दिखाई देते हैं उतने और किसी दिन नहीं। अन्य प्रगतिशील देशों में प्रयुक्त कृत्रिम उपायों की अपेक्षा यह कितना अच्छा तरीका है कि बिना किसी प्रकार का आईन-कानून बनाये और बिना कुछ खर्च किये इतना बड़ा काम केवल धार्मिकता के बल पर सरलता से हो जाता है। चारों ओर की गंदगी अनायास ही नष्ट हो जाने के उपरांत इन दिनों और भी कई वैज्ञानिक लाभ होते हैं। चारों ओर छोटी-मोटी अनेक होलियां जलने से दूषित हवा स्वच्छ हो जाती है। गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाने से फेफड़े मजबूत होते हैं और चारों ओर गोबर का विपुल छिड़काव होने के कारण लोगों का स्वास्थ्य बढ़ता है। इन बातों को तो बड़े-बड़े डाक्टर भी स्वीकार करेंगे। हमारे पूर्वजों को शरीरविज्ञान और आरोग्यशास्त्र का कितना सूक्ष्म ज्ञान था यह बात इन रिवाजों का निरीक्षण करने वाले किसी भी समझदार व्यक्ति की समझ में आ सकती है। जिसे ऐसा दिखाई नहीं देता वह मनुष्य या तो नासमझ होना चाहिए या फिर उसकी निरीक्षण-शक्ति अति सूक्ष्म नहीं होनी चाहिये।

अब रहा नैतिक हेतु ! पाश्चात्य विज्ञान में ऐसा एक नियम है कि किसी भी क्रिया के साथ उसकी प्रतिक्रिया भी जुड़ी रहती है। विपरीत दिशा में होने वाली यह प्रतिक्रिया मूल क्रिया के जैसी ही बलवती होती है। यह नियम यहां भी चरितार्थ होता है। कोई मनुष्य यदि हमेशा ही सभ्यतापूर्ण बर्ताव करता रहे, तो उसे कभी न कभी असभ्य व्यवहार करने की इच्छा अवश्य होगी। उदाहरणार्थ द्रौपदी जैसी सतीसाध्वी को भी जो, केवल पांच पतियों के प्रति एकनिष्ठ रही थी, कर्ण के प्रति आकर्षण उत्पन्न हुआ था। इसका एकमात्र कारण था प्रतिक्रिया

अथवा खुलकर खेलने के मौके का अभाव। इसी नियमानुसार हम यदि हमेशा शरीर को स्वच्छ और इत्र-फुलेल आदि से सुवासित रखने के आदी हों, तो कभी न कभी हमें नाली में लोट लगाने की इच्छा भी हो सकती है। पाश्चात्यों की देखादेखी हमारे देश के बहुत से सुधारक भी होली-धुलैड़ी का उपहास करके सदा साफ-सुथरे रहने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन ईसाई नववर्ष का स्वागत करते समय नशे में धुत्त होकर नालियों में लोट लगाते हैं या नहीं? इसी प्रकार हम यदि सदा-सर्वदा सभ्य भाषा में संभाषण करते रहें तो कभी न कभी हमें किसी अभद्र गाली का प्रयोग करने की भी इच्छा होगी ही। हम यदि हमेशा ही घुड़सवारी करते रहें, तो द्रौपदी की कर्ण के प्रति आसक्ति की तरह हमारे मन में भी हमारे पुराने मित्र श्री गर्दभराज लंबकर्ण की सवारी करने की इच्छा होगी ही। इन सब बातों को देखते हुए यही प्रमाणित होता है कि जिन-जिन अशिव और वीभत्स बातों का प्रतिक्रिया के रूप में होना अवश्यंभावी है, उन्हें यदि हम स्वेच्छा से स्वीकार कर लें तो अतिरिक्त भाप को निकलने का मौका मिल जायेगा और स्फोट कभी नहीं होगा। इसके अलावा, आदत के रूप में ये बातें स्थापित हो जाने पर ये क्रिया का रूप ले लेंगी और फिर इनकी प्रतिक्रिया रूप सभ्य संभाषण और सुसभ्य बर्ताव भी हमारे हाथों होता रहेगा। साल में तीन-चार दिन हम यदि स्वेच्छा से बदन में गोबर, कीचड़ और कोलतार पोत कर शहर भर के घूरों में लोट लगाते रहें, अभिन्न मित्रों और निकट के संबंधियों को अश्लील गालियां देते रहें, गधों पर उलटे-मुंह बैठ कर जुलूस निकालते रहें और भयावह हुड़दंग मचा कर होहल्ले से आसमान सर पर उठाते रहें तो शीघ्र ही इन बातों से ऊब कर हमारे मन में प्रतिक्रिया उत्पन्न होगी और फिर वर्ष के बचे हुए दिनों में भूल कर भी हमारे हाथों असभ्य बर्ताव होने की संभावना नहीं रहेगी। आप हमारा ही उदाहरण ले सकते हैं। होली-धुलैड़ी के त्यौहार का बचपन से ही निस्सीम भक्तिभाव से पालन करने के कारण आज तक हमारे मुंह से दस-पांच चुनींदा गालियों को छोड़ कर और कोई अश्लील शब्द नहीं निकला।

भारत के अन्य स्थानों की तरह हमारे शहर में भी लोगों के मन में होलिकोत्सव और धूलिकोत्सव के प्रति नितांत पूज्यभाव है। प्रतिवर्ष ये त्यौहार बड़ी धूमधाम से मनाए जाते हैं। महीने भर पहले से ही छोटे बच्चों को उद्दात शृंगारिक रसिया गाने की और विशुद्ध अभिधार्थ गालियां बकने की तालीम दी

जाती है। इसी प्रकार गोबर के गोलों की अचूक निशानेबाजी, हुड़दंग के विभिन्न शास्त्रोक्त प्रकार, नालियों का पानी गुब्बारों में भरकर दूर तक फेंकने की कला, अश्लील शब्दों के छापे बना कर उन्हें लोगों की पीठ पर जड़ने का कौशल इत्यादि बातों की तालीम बड़े मनोयोग से दी जाती है। दुर्गापूजा के उत्सव में जिस प्रकार लड़कों से कवायद करवायी जाती है उसी प्रकार होली के दिनों में भी एक पंक्ति में पांच-पांच लड़कों को खड़ा करके मुखिया के सीटी बजाते ही एक साथ अभद्र शब्दों का तोपखाना दागने की तालीम दी जाती है।

परंपरा से इस मुहीम में हमारे पक्ष के नेता होते हैं हमारे पुराने मित्र बंडू नाना और विपक्षियों के अग्रणी होते हैं हमारे दूसरे मित्र पांडू तात्या। परंतु नाना के जैसा कठोर अनुशासनप्रिय नेता विरोधी पक्ष में न होने के कारण हमारा पक्ष सदा बाजी मार ले जाता है। उपरोक्त कवायद में कुछ लड़के तैयार हो जाने पर उनकी नियुक्ति विभिन्न कामों पर की जाती है। कुछ चतुर लोगों को गोबर इकट्ठा करने का काम सौंपा जाता है। इन लोगों की टुकड़ियां गली-गली घूम-कर हफ्तों का सड़ा हुआ गोबर एकत्र करके उसकी प्रचंड राशि जमा कर लेती हैं। कुछ लोग मवेशियों के पीछे-पीछे घूमकर गोबर इकट्ठा करते रहते हैं जबकि कुछ अति उत्साही लोग गाय-भैंसों को डंडों से पीट-पीट कर राजस्व वसूल करने से भी नहीं चूकते। इस प्रकार गोबर का पर्याप्त संग्रह हो जाने के बाद उस पर पहरा देने के लिए एक पहरेदार की नियुक्ति होती है और बाकी के लोग गोबर के छोटे-छोटे गोले बनाकर उनके बीच में कौशल से कंकड़-पत्थर भरने के महत्वपूर्ण कार्य में जुट जाते हैं।

इस प्रकार सैन्य का तोपखाना और पैदल दस्ते सज्जित हो जाते हैं। कसर रह जाती है सिर्फ घुड़सवार फौज की। इसके लिए कुम्हारों के यहां से गधे मांग-मांगकर एक पलटन तैयार की जाती है। हमारे धर्म की यह एक विशेषता है कि उसमें प्रायः सभी जानवरों को समय-समय पर महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। स्वयं श्री विष्णु भगवान ने मत्स्य, कच्छ, बराह आदि रुप धारण कर के इन प्राणियों की श्रेष्ठता प्रस्थापित की है। नंदी की नियुक्ति भगवान शिवशंकर के अनन्य अनुचर के रूप में है। इसी प्रकार ऋषिपंचमी के दिन बैलों की और दशहरे के दिन घोड़ों की पूजा करने का विधान है। गोमाता की पवित्रता पर तो पूरे हिंदू धर्म की बुनियाद टिकी हुई है। वानरों की प्रतिष्ठा के लिए हनुमान जयंती

और सिंहों के समाधान के लिए नृसिंह जयंती के त्यौहार मनाए जाते हैं। हाथी को तो शिकायत का बिलकुल मौका नहीं दिया गया। उसका तो शिरच्छेद करके उसकी स्थापना स्वयं विघ्नहर्ता गणेशजी के धड़ पर की गयी है और उनका वजन ढोने के लिए परम चपल, सर्वव्यापी और महाबुद्धिमान प्राणी मूषकराज की नियुक्ति की गयी है। इस उपकार का ऋण चुकाने के लिए चूहे आजकल कितने प्रयत्नशील रहते हैं इसका अनुभव तो प्लेग का प्रकोप होने वाले सभी क्षेत्रों को है। अहसान-फरामोश मनुष्य मूषक को प्लेग के आगमन की पूर्व सूचना देने वाला परोपकारी प्राणी मानने के बजाय प्लेग का प्रवर्तक समझने लगे, तो इसे उनकी कृतघ्नता और धर्मभ्रष्टता के सिवा और क्या कहा जा सकता है?

इस प्रकार सब प्राणियों का महत्व सिद्ध हो जाने पर बेचारे गर्दभ को ही क्यों वंचित रखा जाय। उसके हिस्से में तो ले-देकर धुलैड़ी का एक दिन आता है और वह इसी में खुश हो लेता है। अतः पर्याप्त संख्या में लंबकर्णों की पलटन एकत्रित हो जाने पर कुछ लोंगों को उन पर उलटे-मुंह बैठने का अभ्यास कराया जाता है। इन चमूपतियों को कवच के स्थान पर फटे हुए चिथड़ों की धज्जियां और मुकुट के बजाय फटे हुए जूतों की माला पहनाई जाती है। बीच-बीच में शोभा के लिए कुछ लोगों को अर्थियों पर बांध कर खड़ा कर दिया जाता है। मृत्यु का यह उपहास हमारे मन से मृत्यु का भय दूर करने में बहुत सहायक सिद्ध होता है। इस प्रकार पूरे आयोजन के साथ बंडू नाना के नेतृत्व में हमारा डेढ़-दो सौ हुड़दंगियों का जुलूस शहर के राजमार्गों से कूच करता हुआ गुजरता है। ऐसे मौकों पर यदि भूले-भटके भी कोई खानदानी स्त्री खिड़की खोलकर बाहर झांकने की धृष्टता करे तो उसे अवाच्य गालियों की वर्षा द्वारा मर्यादाशीलता का ऐसा सबक सिखाया जाता है कि वह जिंदगी भर याद रखे। आर्यनारी की मर्यादा को हमने आज तक इन्हीं उपायों से बांध कर अक्षुण्ण रखा है।

इस प्रकार यह जुलूस राजमार्ग से आगे बढ़ता रहता है। हर गली और हर मोड़ पर छोटी-मोटी स्थानीय मंडलियां उसमें आकर मिलती रहती हैं। आखिर उसकी संख्या पांच-सात सौ तक पहुंच जाती है। चौक में पहुंचने पर इस चतुरंग-वाहिनी का स्वागत करने के लिए पांडू तात्या की सेना सदल-बल तैयार रहती है। दोनों सैन्यों की मुठभेड़ होते ही जो हुड़दंग मचता है उसका वर्णन करने में हमारी पामर लेखनी असमर्थ है। 'युद्धस्य वार्ता रम्या' से लगाकर 'शंखम् दध्मौ

पृथक् पृथक्' तक सारे महाभारत की पुनरावृत्ति होती है और हृदय वीर एवं भक्ति रस से गद्‌गद् हो उठता है। पहली मौखिक सलामी समाप्त होते ही दोनों सेनाओं की ओर से प्रतिपक्ष पर कीचड़ मिश्रित नाली के पानी का अभिषेक और गोबर से अवगुंठित पत्थरों की वर्षा शुरू होती है। यह अलग बात है कि इन पत्थरों की बदौलत कभी-कभी ठठरियों पर बंधे हुए सूरमाओं की प्रत्यक्ष मुरदा बनने की नौबत आ जाती है। तात्या का पक्ष कुछ दुर्बल होने के और कवायद में उतना पारंगत न होने के कारण अंत में उसकी पराजय होती है जिसके फलस्वरूप हमारी वाहिनी विभिन्न प्रकार की अभिनव गाली-गलौज के रूप में विजयदुंदुभी बजाने लगती है।

इस मुकाबले के लिए जिस प्रकार हमें महीने भर पहले से तैयारी करनी पड़ती है, उसी प्रकार होली के लिए काठ कबाड़ जमा करने के प्रयत्न भी कई दिन पहले से शुरू हो जाते हैं। मुहल्ले वालों के घर के लकड़ी के समान की टोह लेने के लिए हमारे जासूस रातदिन गश्त लगाते रहते हैं और मौका देखते ही सामान पार कर देते हैं। इस संबंध में किसी भी प्रकार के विधिनिषेध का पालन नहीं किया जाता। लकड़ी की बनी हुई हर वस्तु उपयोगी होती है। खिड़की-दरवाजे, फाटक, कुरसी-टेबल, चकले-बेलन, ओखली-मूसल, गाड़ियों के पहिये, हल, रहट, चौकी, कटघरे, खूंटियां—गरज यह कि लकड़ी से निर्मित कोई भी वस्तु इन स्वयं-सेवकों की नजर से नहीं बचती। नाना की इस संबंध में बड़ी कड़ी हिदायतें रहती हैं। एक बार तो किसी संन्यासी की खड़ाऊं और पड़ौस में से किसी के शतरंज के मोहरे भी (राजा, वजीर, ऊंट, हाथी घोड़े सहित) अग्नि में स्वाहा कर दिए गये थे। इन दिनों फौजदारी, क़ानून की चोरी, मारपीट, दंगा-फसाद और मानहानि संबंधी कलमें शायद मुअत्तल हो जाती हैं। इसलिए किसी प्रकार की दाद-फरियाद का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

अंत में एक महत्व की बात का उल्लेख करके यह लेख समाप्त किया जाता है। ऊपर अश्लील शब्दों के ठप्पे बना कर उन्हें लोगों की पीठ पर छापने की लोकप्रिय क्रीड़ा का उल्लेख हुआ है। इससे यह प्रमाणित होता है कि हमारे पूर्वज छपाई की कला से अवगत थे। इस हालत में उनका गौरवगान करने के बजाय मुद्रणकला के आविष्कार का श्रेय चीनियों या अंग्रेजों को देना सरासर अन्याय की बात है।

4. गणेशचतुर्थी

[महाराष्ट्र में गणेशचतुर्थी का उतना ही महत्व है जितना बंगाल में दुर्गापूजा या उत्तर प्रदेश में दशहरे का है। चतुर्थी के दिन घर-घर में और सार्वजनिक स्थानों पर बड़ी धूमधाम से गणेशमूर्ति की स्थापना होती है। प्रतिमा के सामने विभिन्न प्रकार की सजावट और प्रकाश-योजना की जाती है। दस रोज तक मूर्ति के सामने गाने-बजाने और अन्य प्रकार के सांस्कृतिक कार्यक्रम होते रहते हैं। अनंत-चतुर्दशी के रोज प्रतिमाओं का जुलूस निकाला जाता है और उन्हें नदी, समुद्र या अन्य किसी जलाशय में विसर्जित कर दिया जाता है। इसमें धार्मिकता का अंश तो प्राचीन है। उत्सव के अंश का आरंभ लोकमान्य तिलक ने हिंदू संगठन की दृष्टि से किया था। —अनुवादक]

'गणेशचतुर्थी'! यह नाम सुनते ही मेरे रोम-रोम में आनंद का संचार होने लगता है। इस नाम के साथ जुड़ी हुई अनेक आह्लादपूर्ण और मजेदार कल्पनाएं बचपन से ही मेरे मन में बद्धमूल हो गयी हैं। गणेशजी के सामने की वह सजावट, वह रोशनी, वे प्रसाद के ढेर, वे मंत्रघोष, वे कथा-कीर्तन, वे जुलूस, वे तरह-तरह के कार्यक्रम—सभी मेरे मन में इतने जीवित हो उठते हैं कि उनका स्मरण होते ही मन क्षण भर के लिए उन्हीं में लीन हो जाता है।

गणेशजी बचपन से ही मेरे प्रिय देवता रहे हैं। पुराणों के अनुसार प्रत्येक युग में उनका द्रश्यावतार भिन्न-भिन्न प्रकार का रहा है। सतयुग में उनके दस हाथ थे और देह की कांति थी दिव्य एवं सुनहरी! इतने हाथों से क्या किया जाय, यह समस्या जरूर उनके सामने आयी होगी। इसलिए बाद के त्रेतायुग में उन्होंने चार हाथ कम कर दिये और शरीर धारण किया श्वेत वर्ण का। फिर इस विदेशी वर्ण से ऊब कर द्वापर में उन्होंने रक्तवर्ण धारण किया। हाथ भी छह में से दो कम होकर

चार रह गये। इसके बाद तो इस देश की जलवायु के नितांत अनुकूल कृष्णवर्ण से आकर्षित होकर कहो या आंखों में लगाने का काजल चेहरे पर क्यों नहीं मला जा सकता ऐसे किसी तर्क से प्रेरित होकर कहो, कलयुग में उन्होंने धूम्रवर्ण या स्पष्ट शब्दों में कहें तो काले रंग को स्वीकार कर लिया। हाथ भी अब मर्त्य मनुष्यों की तरह दो ही रह गये। हम अज्ञानी मनुष्यों की दुनिया में यदि किसी चीज़ पर काला रंग लग जाय तो उसे रासायनिक प्रक्रियाओं से दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। परंतु देवताओं की दुनिया के सारे रिवाज निराले होते हैं।

यही वैचित्र्य गणेशजी के वाहन के संबंध में पाया जाता है। कृतयुग में उनका वाहन सिंह था और त्रेता में मयूर। परंतु इन वाहनों में चपलता का नितांत अभाव था। यह बात उस बुद्धिदाता की तुरंत समझ में आ गयी। इसलिए द्वापर में उन्होंने मूषक पर जीन कसा। कलियुग में उनकी शास्त्रोक्त सवारी है अश्व। परंतु कुछ धर्ममार्तंडों ने अन्य सब बातों में परिवर्तन स्वीकार करके भी वाहन में तब्दीली करना उचित नहीं समझा। इसलिए गणेशजी आज भी अपने द्वापरयुग के पुराने वाहन पर आरूढ़ हैं।

इन बातों से हमारे सुधारवादी मित्र मितव्ययता और सादगी जैसे उदात्त गुणों का सबक सीख सकते हैं। गणेशजी ने उनकी तरह घुंघराली जुल्फों वाले विलायती बाल नहीं रखे; आंखों पर ऐनक नहीं लगायी या बूट-पतलून नहीं पहने। उनका बाहर निकला हुआ एक दांत सिगार के जैसा दिखाई अवश्य देता है; पर वास्तव में उन्होंने सिगार-सिगरेट की छूत से कभी अपने मुख को अपावन नहीं किया। शाम को दो घोड़ों की बग्घी में बैठ कर वे कभी घूमने भी नहीं निकले। कभी-कभी मूषक पर सवार होकर गश्त लगाते हुए अवश्य देखे जाते हैं। बाह्य सौंदर्य और दिखावे की नितांत महत्वहीनता प्रमाणित करने के लिए ही उन्होंने हाथी जैसे ऊबड़-खाबड़ प्राणी का सिर अपने कंधों पर लगा रखा है और उनके उदर का विस्तार भी कुछ कम नहीं है। सिर्फ भक्तों को सुबुद्धि देने के सद्हेतु से ही विघ्नहर्ता ने यह सारा परिश्रम किया है। इस विचारके मन में आते ही उनके प्रति भक्तिभाव से हमारा मन सराबोर हो उठता है।

देशकाल के अनुरूप साधनों का प्रयोग करने का गुण भी गणेशजी में प्रचुरता से दिखाई देता है। सिंह जब उनका वाहन था, तब उसे काबू में रखनें के लिए उन्होंने दस हाथ धारण किये, परंतु उस स्थान पर चूहे की नियुक्ति होते ही वे दो

हाथों से ही काम चलाने लगे। चूहे पर कोई बिल्ली न झपट पड़े इस ख्याल से सुरक्षा के लिए उन्होंने चेहरे पर सूंड लगायी। किंतु इन सब बातों की अपेक्षा कृष्णवर्ण और अश्व वाहन को स्वीकार करने में ही उनका चातुर्य अधिक दिखाई देता है। कलियुग के नास्तिक लोग गौरवर्ण के साथ ऐसी ऊबड़-खाबड़ देह देख कर उनका उपहास करेंगे और वक्रतुंड, धूम्रवर्ण, लंबोदर आदि सम्मानसूचक विशेषणों का प्रयोग करने के बजाय दुर्मुख, कलूटा, पेटू इत्यादि प्राकृतिक शब्दों का प्रयोग करने लगेंगे इस आशंका से उन्होंने स्वेच्छा से कृष्णवर्ण स्वीकार कर लिया। इसकी भला कोई क्या खाकर खिल्ली उड़ायेगा। सूरदास की कारी कमरी चढ़े न दूजो रंग। इसी प्रकार प्लेग की महामारी आते ही अपने वाहन का बड़ी संख्या में संहार होकर पैदल चलने की नौबत आ सकती है यह सोचकर उन्होंने युग भर की कठोर सेवा के बाद मूषक को इस जिम्मेदारी से मुक्त कर दिया और सवारी के रूप में घोड़े की नियुक्ति करना उचित समझा। गणेशजी की यह स्पष्ट मर्जी होने के बावजूद हमारे धर्माभिमानी लोगों ने उनकी सवारी को द्वापरयुगीन रूप में ही कायम रखा है, यह बड़े खेद की बात है। कलियुग में जिस प्रकार अग्निहोत्र, युवासंन्यास इत्यादि वर्जित हैं उसी प्रकार ताम्रवर्ण गजानन भी निषिद्ध हैं। एक तरह से यह उचित भी है। इस देश में और किसी वर्ण के देवता की अपेक्षा कृष्णवर्णीय देवता की उपासना करने से ही सिद्धि की आशा अधिक हो सकती है।

शारीरिक अवयवों और वाहनों की योजना में इतना चातुर्य दिखाई देने पर भी गणेशजी की एक कमी आंखों में खटकती है। परंतु जरा गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह त्रुटि नहीं बल्कि उसका आभासमात्र है। सवाल उठता है कि भक्तों के अपराध पचाते-पचाते पेट बड़ा होगा ही यह मालूम होने पर भी गणेशजी ने चूहे जैसे क्षुद्र प्राणी पर आसन क्यों जमाया। सुधारक लोग यह प्रश्न बड़े अभिमान से पूछते हैं। उन्हें यह मालूम नहीं कि बहुत दिन हुए एक बार गणेशजी को चूहे पर से कूदते हुए देखकर चंद्रमा ने खिलखिला कर उनका उपहास किया था और गणेशजी ने उसे शाप दिया था। चंद्र उस शाप के परिणाम को अब तक भुगत रहा है। गणेश चतुर्थी के दिन कोई उसका मुंह भी नहीं देख सकता। हमारे सुधारवादी मित्र यदि समय रहते नहीं समझे तो किसी रोज उसी प्रसंग की पुनरावृत्ति हो सकती है और हमारे यह प्रबल-पराक्रमी

एकदंत देवता दांत निपोरने वालों के सारे दांत तोड़ सकते हैं ऐसा हमें दृढ़ विश्वास है। परंतु ऐसा होने से पहले हम अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार इस विरोधाभास का निराकरण करने का प्रयत्न करते हैं। आशा है वह सबको मान्य होगा और मूषक की योग्यता के संबंध में प्रश्न पूछा जाना हमेशा के लिए बंद हो जायेगा।

बात दरअसल यह है कि चूहों में भी मनुष्यों कि तरह अनेक जाति-उपजातियां पाई जाती हैं। उनमें से कुछ का यहां उल्लेख किया जाता है। बहुत दिन पहले चूहों की एक विराट सभा में बिल्ली के गले में घंटी बांधने का प्रस्ताव सर्वानुमत से पारित हुआ था। 'घंटी बांधेगा कौन ?' इस गौण प्रश्न को लेकर बात खटाई में पड़ गयी और बिल्ली मौसी की गर्जनाएं आज भी अबाधित रूप से सुनाई देती रहती हैं, यह अलग बात है। इस सभा में सम्मिलित होने वाले चूहे वाचाल जाति के थे। उनकी तुलना आजकल के सिर्फ नारेबाजी के बलबूते पर सुधार चाहने वाले वाग्शूर राजनीतिज्ञों से की जा सकती है।

बच्चों की कहानियों में वर्णित राजा को भी चिढ़ाने वाले मूषकों की गणना दूसरी जाति में होती है। इनकी तुलना उन कर्मठ राजनीतिज्ञों से हो सकती है जो आवश्यकता पड़ने पर जेल जाने से भी नहीं डरते। इनका नैतिक धैर्य इतना प्रबल होता है कि राजा यदि क्रोध में आकर उन्हें कारागृह (चूहेदानियों) में बंद कर दे तो भी वे डरते नहीं और अपनी चीख-पुकार उसी प्रकार जारी रखते हैं। इस जाति में अनेक विशिष्ट मानसिक और नैतिक गुण दिखाई देते हैं। शरीरबल और क्षात्रतेज के लिए तो उनकी संसार भर में प्रसिद्धि है। इस जाति में अनेक उप-जातियां भी पाई जाती हैं। कुछ केवल कपड़े कुतरने के विशेषज्ञ होते हैं जबकि कुछ नाज के मोटे-मोटे बोरों की भी धज्जियां उड़ा सकते हैं। इससे भी आगे बढ़कर कुछ लकड़ी की वस्तुओं का बुरादा बनाने में प्रवीण होते हैं। परंतु इन सबमें श्रेष्ठ है जाल में फंसे हुए शेर की मुक्ति करने वाला जवांमर्द मूषक-शिरोमणि ! वैसे प्राचीन ग्रंथों में इनसे भी अधिक शक्तिशाली जातियों का उल्लेख पाया जाता है। गणपति का वाहन बनने वाला मूषक इन्हीं में से किसी श्रेष्ठ जाति का प्रतिनिधि रहा होगा ऐसा हमारा अनुमान है।

इस जाति के पूर्वपुरुष की जन्मकथा इस प्रकार है। एक बार एक पहाड़ को तीव्र प्रसववेदना होने लगी। मनुष्यसृष्टि में गर्भधारण का दायित्व मात्र स्त्रियों

ने संभाला हुआ है; परंतु अचल सृष्टि में ऐसा कोई नियम नहीं होता। पहाड़ियों की तरह कभी-कभी पहाड़ भी मनोरंजन के लिए गर्भधारण करते हैं। हमारी पुराणकथाओं में इसका उल्लेख कई बार हुआ है। तो पहाड़ को प्रसववेदना होने का समाचार सुनकर इर्दगिर्द के लोग उसकी कुशल पूछने के लिए आने लगे। उनमें कुछ वैद्य भी थे। उन्होंने सुलभ-प्रसूति के लिए औषधियों से भरे हुए पीपे पहाड़ की कंदराओं में उंडेले; परंतु वेदना कम होने के बजाय बढ़ती ही गयी। इर्दगिर्द की पहाड़ियों में से जो अनुभवी दाइयां थीं वे भी समीप आकर चिंतातुर दृष्टि से परिणाम की राह देखने लगीं। शीघ्र ही ऊपर छाये हुए बादलों की गर्जना के मिष से पहाड़ चीत्कार करने लगा। अब तो लोगों के मन में बड़ा कुतूहल उत्पन्न हुआ और विभिन्न देशों के वैज्ञानिक और स्वर्ग के देवता विमानों में बैठकर दूरबीनों से स्थिति का निरीक्षण करने लगे। इस गड़बड़ी में एक महीना बीत गया। अंत में जब पहाड़ के स्वास्थ्य के विषय में लोगों की उत्कंठा पराकाष्ठा को पहुंच गयी तब एक दिन पहाड़ के विवर में से एक चूहा कूद कर बाहर निकला और देखते-देखते पहाड़ की सारी वेदना का शमन हो गया। इससे पहाड़ को तो राहत मिली, परंतु तमाशा देखने के लिए गांठ से पैसे खर्च करके दूर-दूर से आये हुए जिज्ञासुओं को बड़ी निराशा हुई। तमाशबीनों की अपेक्षा थी कि इतने बड़े पहाड़ की होने वाली संतान उसके सर्वथा अनुरूप यानी कम से कम कोई पहाड़, कोई शिखर, या गये-बीते, किसी टीले की आकार की तो अवश्य होगी। परंतु यहां तो अक्षरशः खोदा पहाड़ और निकला चूहा। दर्शकों को निराशा अवश्य हुई, परंतु पहाड़ का यह सुपुत्र निकला बड़ा प्रतापी और बलवान। आगे चलकर गणेशजी जैसे विशालकाय देवता का वाहन बनने का सम्मान इसी को मिला। तभी से वह अपने स्वामी की नाक का बाल बना हुआ है। यह मूषक-श्रेष्ठ पर्वतराज हिमालय के छोटे भाई का पुत्र होने के नाते गिरजासुत गणेश का मामा लगा। इस निकट के रिश्ते को गणेशजी ने आज तक मर्यादापूर्वक निभाया है, यह उनके लिए बड़े गौरव की बात है।

यह तो हुआ गणेशजी के वाहन का जन्मवृत्तांत। खुद गणेशजी के जन्म की कथा इससे भी अधिक रोचक है। उपरोक्त कथा की तरह इसमें भी निर्जीव वस्तु या शरीर के किसी भी अंग में से संतानोत्पत्ति होती देखी जा सकती है। उस युग में शायद आजकल की तरह गर्भधारण के संबंध में कोई निश्चित नियम नहीं था।

शंकरजी की जटा में से वीरभद्र और भस्म में से भस्मासुर का निर्माण हुआ था। मधु और कैटभ नामक दैत्यों का जन्म श्रीविष्णु जब बेखबर सो रहे थे तब उनके कान में से हुआ था और कमलासनस्थ ब्रह्माजी का प्रादुर्भाव उनकी नाभि में से। ब्रह्माजीने भी यह परंपरा जारी रखी। उनकी जम्हाई में से सिंदुरासुर दैत्य उत्पन्न हुआ और चातुर्वर्ण्य की उत्पत्ति भी क्रमशः उनके मुख, बाहु, जंघा और चरणों में से मानी जाती है। इतना ही नहीं, आजन्म नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले और ब्रह्मचारियों के परम आदर्श हनुमानजी को भी अपने पसीने से एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई थी। ऐसा उल्लेख पुराणों में पाया जाता है। यदि इसी प्रकार संतानोत्पत्ति जम्हाई, छींक, हिचकी, डकार इत्यादि से होती रहे तो इस पृथ्वीतल पर खड़े रहने की जगह मिलना भी मुश्किल हो जायेगा। आधुनिक युग में प्रचलित गर्भाधान के सुनिश्चित नियम परमेश्वर ने शायद इसी आशंका से घबरा कर रचे होंगे। यह जो कुछ भी हुआ वह अच्छा ही हुआ, वरना रोज सुबह उठकर जम्हाई लेते ही एक और दोपहर को भोजनोपरांत डकार लेते ही दूसरा, यों दो पुत्र उत्पन्न होकर साधारण नागरिक के घर में सालभर में सैकड़ों पालने हिलने लगते। ये सब पुत्र ही होते, क्योंकि उपरोक्त पौराणिक कथाओं में इन अवयवों में से जन्म लेने वाली संतानों में कहीं भी कन्या का उल्लेख नहीं है। आजकल समय का अंदाज जिस प्रकार घड़ी के हिलने वाले लंबक द्वारा किया जाता है उसी प्रकार वर्ष के दिनों की गणना इन हिलने वाले पालनों की संख्या से की जाती।

हां, तो हम वर्णन कर रहे थे गणेशजन्म की कथा का। एक बार भगवान् भूतनाथ भगवती गिरिजा से रुष्ट हो गये। पार्वती उन्हें प्रसन्न करने के लिए तपस्या करने लगीं। इसके लिए उन्होंने निविड़ अरण्य में किसी कंदरा को चुना। एक दिन स्नान करते समय उन्होंने अपने शरीर के मैल से एक पुतला बनाया और 'मेरी आज्ञा के बिना किसी को अंदर मत आने देना' ऐसी कड़ी सूचना देकर उसे पहरा देने के लिए कंदरा के द्वार पर बिठा दिया। इधर भगवान शंकर को पार्वतीजी की याद आयी और उन्हें ढूंढते हुए वे वन-वन में भटकने लगे। घूमते-फिरते वे पार्वती की कंदरा के पास आ पहुंचे, परंतु भीतर जाते समय द्वार के पहरेदार ने उन्हें रोका। उस बेचारे सद्यजात बालक को शिव-पार्वती के रिश्ते की जानकारी भला कहां से होती। शिवजी ने क्रोधित होकर पति-पत्नी के वियोग

की कुछ कल्पना इस नासमझ बालक को देने के इरादे से उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। भीतर पहुंचने पर पार्वती ने पूछा—"भगवन्, द्वार पर मेरा कृतकपुत्र पहरा दे रहा था, फिर भी आप भीतर कैसे आ सके?" शंकरजी ने सब बात कह सुनाई। सुनते ही भगवती गिरिजा पुत्रवियोग में विलाप करने लगीं। शंकरजी ने उन्हें बहुत समझाया। अपनी जटाएं खींचकर या कान मरोड़ कर एक नहीं बीसियों पुत्र उत्पन्न कर देने की बात कही; पर पार्वती का समाधान नहीं हुआ। उन्हें तो अपना वही देहज पुत्र प्यारा था। शिवजी ज्यों-ज्यों सांत्वना करते गये त्यों-त्यों पार्वती के मन में अपने उस मलोत्पन्न पुत्र को दुलारने की इच्छा प्रबल होती गयी। आखिर शिवजी ने किसी हथिनी के सद्यजात शिशु का सिर काटकर बालक के कटे हुए धड़ पर जोड़ दिया और उसे जीवन प्रदान किया। इस प्रकार हाथी के सिर और मनुष्य के धड़ का जो द्वंद्व समास तैयार हुआ वही आगे जाकर गजानन कहलाया।

शंकरजी ने जो हाथी का सिर चिपकाया था उसमें पहले दोनों तरफ दो विशाल गजदंत थे। इससे वह अत्यंत प्रमाणबद्ध और सुंदर दिखाई देता था। सवाल उठता है कि फिर आजकल एक ही दांत क्यों दिखाई देता है। क्या दांत का दर्द होने के कारण विघ्नहर्ता ने अश्विनीकुमारों द्वारा एक दांत जड़मूल सहित उखड़वा दिया था? या ब्रह्माजी ने जब अपनी पुत्रियां बुद्धि और सिद्धि उन्हें ब्याह दीं, तब पान का बीड़ा चबाने में अड़चन न हो इसलिए एक दांत को उन्होंने तिलांजलि दे दी? नहीं, ऐसा कोई भी कारण नहीं था। इस एक दांत का रहस्य बहुत थोड़े लोगों को मालूम है; पर वह संक्षेप में बताया जा सकता है। बात यह हुई थी कि शिवजी एक बार कहीं से एक अमृतफल लाये। गजानन और षडानन दोनों उसे मांगने लगे। पर छोटा पुत्र अधिक प्यारा होने के कारण शिवजी ने वह अकेले गजानन को दिया। इससे क्रोधित होकर षडानन ने एक जोर का रहपट गणेशजी के मुंह पर जड़ दिया जिससे उनका एक दांत स्थान-च्युत हो गया। तभी से उन्हें एकदंत की संज्ञा प्राप्त हुई। गणेशजी ने बड़े भाई साहब का आदर करते हुए इस कठोर दंड को चुपचाप सह लिया। इससे उनका भ्रातृ-प्रेम स्पष्ट दिखाई देता है।

गणेशजी को हरी दूब बहुत प्रिय होती है। इसका भी पौराणिक कारण है। दूब की किसी समय उन्हें बहुत आवश्यकता पड़ती थी। रावण ने जब तेंतीस

करोड़ देवताओं को अपने यहां विभिन्न सेवाओं में जोत रखा था तब गजानन के हिस्से भी दशानन के गधे चराने का काम आया था। शांत चित्त से चिंतन-मनन के लिए पशु चराने का काम बहुत अनुकूल है, शायद इसीलिए गणेश जी ने स्वेक्षा से यह काम स्वीकार कर लिया। इससे उनकी प्रतिभा और दूरदृष्टि ही प्रमाणित होती हैं। परंतु गधों को चराते समय उन्हें चारे की बड़ी कमी महसूस होने लगी। लंबकर्णों का दल चारे के ढेर के ढेर साफ कर देता था और गणेशजी बेचारे काटते-काटते थक जाते थे। अतएव उन्होंने अपने भक्तों के सामने इच्छा प्रकट की कि वे उन पर पूजाद्रव्य के रूप में दूब चढ़ाया करें। बस, तब से दूब की रसद विपुल मात्रा में उपलब्ध होने लगी। गणेशजी को घास छीलने से राहत मिल गयी और गधे भुखमरी से बच गये। इससे यही सिद्ध होता है कि विघ्नहर्ता का हृदय कितना दयालु और कोमल था।

इस समय तो गणेशजी चरवाहे के रूप में चुपचाप रावण की सेवा करते रहे परंतु एक अन्य मौके पर उन्होंने रावण को चकमा देकर मृत्युलोक के निवासियों पर बड़ा उपकार किया था। दशकंठ अपनी संगीतकला से भगवान भोलेनाथ को प्रसन्न करके वरदान के रुप में उनके आत्मलिंग को जब लंका लिये जा रहा था तब रास्ते में गणेशजी ने ही चरवाहे का रूप धारण करके बड़ी युक्ति से उसके हाथ से उसे जमीन पर रखा लिया था। पृथ्वी पर रखते ही शिवलिंग पाताल तक पहुंच गया और रावण फिर उसे उखाड़ न सका। भारतभूमि इस प्रकार शिवलिंग से सदा के लिए वंचित होते-होते बच गयी। आगे चलकर उसकी गणना महादेवजी के द्वादश ज्योतिर्लिंगों में हुई। गोकर्ण महादेव माहात्म्य में यह कथा इतने विस्तार से वर्णित है कि यहां उसे फिर से दोहराने की आवश्यकता नहीं। इस प्रसंग से गणेशजी की त्वरित बुद्धि और शठम् प्रति शाठ्यम् की नीति स्पष्ट होती है।

गणेशजी पर हमारा स्नेह बाकी के बत्तीस करोड़ निन्यानबे लाख निन्यानबे हजार नौ सौ निन्यानबे देवताओं से अधिक है इसका मुख्य कारण है उनके शारीरिक व्यंग। उनका बचाखुचा एक दांत भक्तों के हृदय में करुणा के स्रोत बहाता रहता है। विस्तृत उदर की वजह से मूषक पर सवारी जमाने में उन्हें होने वाले कष्ट को देखकर भी हमारा मन विचलित हो जाता है। अनंत चतुर्दशी के दिन गणेश प्रतिमा का विसर्जन करते समय हम सुबकने लगते हैं और रुलाई

से हमारा गला भर आता है उसका भी कारण यही है। वास्तव में भय से नहीं बल्कि दया से प्रीति उत्पन्न होने वाली बात अक्षरशः सत्य है।

'गणेशचतुर्थी के दिन कोई तेरा मुंह नहीं देखेगा, और देखेगा तो उस पर झूठा कलंक लगेगा' ऐसा शाप गणेशजी ने चंद्रमा को दिया था, इसका उल्लेख हम कर चुके हैं। उस दिन चंद्रदर्शन न करने का दृढ़निश्चय करके, शहर की छोटी-बड़ी सभी गणेशमूर्तियों का दर्शन करने के हेतु हम घर से निकलते हैं। परंतु मनुष्य स्वभाव भी कितना विचित्र है ! निषिद्ध वस्तुओं की तरफ मानव मन की सदा से आसक्ति रही है। एकादशी के रोज दाल-चावल खाने को मन बेहद ललकता है और चतुर्मास में प्याज की याद अवश्य आती है। हमें ये चीजें अधिक प्रिय न हों, तो भी। किसी चंद्रमुखी परस्त्री से किसी न किसी बहाने बात करने की इच्छा भी बड़ी बलवती होती है। इसी प्रकार भाद्रपद की शुक्लचतुर्थी के दिन चंद्र की ओर देखने की इच्छा (चोरी-छिपे ही सही) हमारे मन में अवश्य होती है। वैसे देखा जाय तो इस रोज चंद्र में कोई वैशिष्ट्य नहीं होता। किसी भी महीने की शुद्धचतुर्थी के दिन जैसा ही वह उस रोज भी दिखाई देता है। परंतु फिर भी उसकी ओर देखने का मोह टाले नहीं टलता। हम उसकी ओर अदबदा कर देखते हैं और दोष के भागी बनते हैं।

परंतु हमारे शास्त्रों ने इस दोष के परिमार्जन का उपाय भी बताया है। उपाय बहुत सरल है। पराये घर पर तब तक पत्थर मारते रहिये जब तक गृहस्वामी आप को गालियां न देने लगे। बस, गालियां सुनते ही आपके दोष का निवारण हो जायेगा। एक बार गणेशचतुर्थी के दिन चंद्रदर्शन का पातक (जान बूझकर) करने के बाद हमारी मित्रमंडली ने पड़ोसियों के घर पर पत्थर फेंकना शुरू किया। परंतु हाय रे दुर्भाग्य ! घंटों तक पथराव करने पर भी कोई हमें गाली देने को तैयार नहीं हुआ। उस समय हमारे कान गालियां सुनने को जितने उत्सुक थे, उतने साधारण दिनों में कभी नहीं रहते। हमारा यह धर्मावेश बढ़ता ही गया और अंत में उसकी परिणति यह हुई कि हमारे पत्थरों की बौछार से रास्ते से गुजरने वाले एक आदमी की आंख फूटकर उसे शुक्राचार्य बनने की नौबत आयी; दूसरे एक वृद्ध के दो अवशिष्ट दांतों में से एक टूटकर वह एकदंत हो गया और तीसरी किसी की खोपड़ी फटकर खून बहने लगा। तब कहीं जाकर हमें मां-बहन की कर्णमधुर गालियां सुनाई दीं। इस प्रकार हमारे पातक का

शास्त्रोक्त परिमार्जन करके हम घर लौटे। यह अलग बात है कि दूसरे दिन हमारे ऊपर दंगा फसाद करने और गंभीर चोट पहुंचाने के जुर्म में मुकद्दमे दायर होकर सबको एक-एक दो-दो साल की सजा हुई। धर्मपालन के मार्ग में ऐसी छोटी-मोटी बाधाएं तो आती ही रहती हैं। हम पर सचमुच का अभियोग बेशक लगा, पर चंद्रदर्शन के कारण लगने वाले किसी झूठे कलंक से हमें सदा के लिए मुक्ति मिल गई यह कुछ कम संतोष की बात नहीं थी।

गणेशचतुर्थी के उत्सव में दिनोंदिन वृद्धि हो रही है यह बड़े आनंद की बात है। अब तक मुसलमानों के मुहर्रम के त्योहार को देखकर हमें उनसे बड़ी ईर्ष्या होती थी और ऐसा लगता था कि हमें भी उनकी तरह उछल-कूद करने का मौका न जाने कब मिलेगा। अब यह कमी संपूर्णतः दूर हो गई है। इतना ही नहीं, कई बातों में तो हमने उनको मात भी दे दी है। उनका तमाशा तीन-चार रोज में समाप्त हो जाता है जब कि हमारा दस-बारह दिन तक और कभी-कभी तो पूरे पखवाड़े तक चलता रहता है। वर्तमान व्यवस्था में हमें सिर्फ दो बातों की कमी महसूस होती है। एक तो अब तक हमने नाल साहब की सवारी की तरह गणेशजी की मूर्ति को सिर पर उठाकर नाचने की प्रथा शुरू नहीं की है। यह सही है कि ऐसा करने में उस विघ्नहर्त्ता के विशाल उदर के कारण कुछ कठिनाई होगी। पर हमें अधिक दिनों तक इस मामले में पीछे नहीं रहना चाहिए। लंबोदर के विशाल पेट के कारण बढ़ने वाले वजन की टूटे हुए दांत के गढ़े से क्षतिपूर्ति हो जाएगी ऐसा हमें दृढ़ विश्वास है। दूसरी कमी यह है कि अनंत-चतुर्दशी के जुलूस में अब तक हमारे यहां बाघ के स्वांग दिखाई नहीं दिये। इसमें भी कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां अवश्य हैं। गणेशोत्सव के व्याख्यानों में लंबी-चौड़ी डींगे हांकने वाले हमारे धर्ममार्तंड हाथ भर लंबी पूंछ लगाकर और शरीर पर काली-पीली धारियां खींचकर नाचने लगें और नकली गर्जना करने लगें, तो आरंभ में लोग हंसेंगे जरूर; पर अंत में धार्मिक अनुष्ठान की प्रतिष्ठा बढ़ेगी, इसमें कोई संदेह नहीं।

प्लेग की महामारी का प्रकोप अकसर गणेशोत्सव के दिनों में होता ही है और उसका आरंभ चूहों के मरने से। इससे प्रेरित होकर कुछ धर्मद्रोही सुधारक ऐसा प्रलाप करने लगे हैं कि प्लेग को मूषकवाहन का अवतार मानना चाहिए। इस अनुमान का आधार पूछा जाने पर वे कहते है कि प्लेग के आगमन से पहले

चूहे मरने लगते हैं इसलिए दोनों में कार्यकारण संबंध अवश्य होना चाहिए। परंतु यह उनका मिथ्या प्रलाप है। पहली बात तो यह कि गणेशजी जान-बूझकर भला अपने प्रिय वाहन का संहार क्यों करने लगे ? और दूसरी बात यह कि गजानन जब-जब भक्तों पर प्रसन्न होते हैं वे उन्हें शारीरिक और मानसिक उन्नति का दोहरा वरदान देते हैं। उदाहरणार्थ बंगाली लोगों का यदि पेट बड़ा होता है तो बुद्धि भी तीव्र होती है। पारसी लोगों की नाक की तरह उनकी बुद्धि भी तीक्ष्ण होती है। इन दोनों जातियों पर श्री गजानन का वरद हस्त है ऐसा निश्चित रूप से मानना चाहिए। भृशुंडि नामक ऋषि पर तो गणेशजी की इतनी कृपा हुई कि उन्होंने उसे अपनी तरह विशाल उदर देने के अलावा उसकी भ्रकुटि के बीचोंबीच एक सूंड भी प्रदान की थी। इससे ऋषि को बड़ी राहत मिली। तपस्या करते समय परेशान करने वाले मक्खी-मच्छरों से उनकी रक्षा हो गई। प्लेग के रोगियों में गणेशकृपा का ऐसा कोई लक्षण दिखाई नहीं देता। प्लेग के रोगी की बुद्धि तीव्र होने के बजाय सुन्न हो जाती है और अधिकांश समय वह बेहोश पड़ा रहता है। इसी प्रकार शारीरिक वरदान का कोई चिन्ह भी उसमें दिखाई नहीं देता। एकाध गांठ-वांठ निकल कर सूजन आ जाती है। परंतु रोगी को सूजन आती है बगल में जबकि गणेशजी को यह विकार पेट पर ही अधिक पसंद है। इसीलिए गणेशजी का इससे कोई संबंध नहीं हो सकता। इस सारे विवेचन से यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि सुधारकों का यह अभियोग सर्वथा बेबुनियाद है।

हमारे परम प्रिय त्योहार का हमने अपनी अल्पबुद्धि के अनुसार विवेचन और समर्थन किया है। जिस बुद्धिदाता की कृपा से ये चार पंक्तियां घसीटने की योग्यता हम में आई उसका जयघोष करके यह लेख समाप्त किया जाता है :

बोलो श्री गजानन महाराज की जय !

5. गवैये

ललित-कलाओं में संगीत को जो मूर्धन्य स्थान प्राप्त होता है उसे अनुचित भला कौन कह सकता है। स्वरों के आरोह-अवरोह के बल पर मन की समस्त भावनात्मक स्थितियों का अनुभव कराने वाली इस कला की जितनी महिमा गाई जाए, थोड़ी है। संगीत अल्हड़ जवानों को गंभीर बना सकता है तो गंभीर बुजुर्गों को मदहोश करके नचा भी सकता है ! सुखी को दुखी और उदास को आनंदमय बना सकता है। स्वार्थी मनुष्यों के मन को उदात्त कर उन्हें कुछ समय के लिए स्वहित का विस्मरण करवा सकता है। उसमें श्रोताओं के अंतःकरण को ही नहीं बल्कि समूचे वातावरण को उल्लसित करने की शक्ति है। मृदंग के घनगंभीर ताल पर किसी रचना के बोल झूम रहे हों तब सुनने वालों को विश्व संगीतमय प्रतीत होने लगता है। देशकाल के बंधन अपने आप तिरोहित हो जाते हैं और विराट विश्व की भावना हृदय में घर कर लेती है।

ऐसी इस महान कला में वाद्यों का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। उनमें भी तंतुवाद्यों का वर्णन भला कहां तक किया जाय ? इस संसार में लोहे या तांबे के तार का प्रताप चारों दिशाओं में व्याप्त है। परंतु सितार या वीणा के तार के रूप में उसका जितना प्रभाव है उतना एक बिजली के अपवाद को छोड़कर अन्य किसी क्षेत्र में दिखाई नहीं देता। परंतु बिजली के तार की भी सीमाएं हैं। टेलीग्राफ के जड़ तारों द्वारा प्राप्त होने वाले संदेश कभी तो हमारी निराशा को मार भगाते हैं तो कभी हमारे आनंद का ही जड़मूल से विध्वंस कर देते हैं। विद्युत् के अन्य उपकरणों के तार एक झटके में निर्जीव को सजीव और सजीव को निर्जीव बना सकते हैं। ऊंची इमारतों के शिखरों पर लगे हुए तार खुद बिजली को धरती के गर्भ में समाधि दे देते हैं। परंतु संगीत के तार ऐसा बेतुका व्यवहार कभी नहीं

करते। वे तो सदा आनंद की दिशा में ही उन्मुख होते हैं और श्रोताओं को सदा सवर्गसुख पहुंचाते हैं।

वीणा या सितार के तूंबे का महत्व तारों की अपेक्षा रत्ती भर भी कम है ऐसा मानने का कोई कारण नहीं। तूंबे लौकी की बेल पर लगते हैं और उनमें दो मुख्य प्रभेद पाये जाते हैं : मीठे और कड़वे। इसमें से मीठे का उपयोग तो सबको मालूम है। उसकी सब्जी सभी खाते हैं। कहीं-कहीं इसे कद्दू भी कहा जाता है। शादी-ब्याह की ज्यौनारों में मेजबान की इज्जत अकसर इसी सब्जी की बदौलत बचती है। अत्यंत सस्ते दामों बिकने वाली तरकारी होने के कारेण वह प्रचुरमात्रा में बनाई जाती है और विशेष स्वादिष्ट न होने के कारण उसकी अधिक खपत भी नहीं होती। मिठाइयों में जो स्थान लड्डू या जलेबी का है, सब्जियों में वही कद्दू का समझिए। निमंत्रितों की संख्या कितनी ही क्यों न हो, तीन बुलाने पर तेरह आये हों, तो भी इसके खत्म होने की संभावना नहीं रहती। दावतों में रसगुल्ले या समोसे तो अकसर खतम होते देखे जाते हैं, पर कद्दू की सब्जी चुक गई हो, ऐसा कभी सुनने में नहीं आया। दरिद्र या मक्खीचूस लोग इसके छिलकों की चटनी तक बनाते हैं। इनमें से दूसरे वर्ग के लोगों में तो यह खास तौर पर लोकप्रिय है।

इस सर्वगुणसंपन्न सब्जी के मीठे फलों का संबंध जिस प्रकार खाद्य सामग्रियों के साथ है उसी प्रकार कड़वे का संबंध पानी के साथ है। कड़वे तूंबों को सुखाकर और भीतर से खोखला कर अनेक प्रकार के उपयोग में लाया जाता है। संन्यासियों के कमंडल अकसर इसी के बने हुए होते हैं। परंतु प्यास बुझाने का काम यह हमेशा ही करता हो, सो बात नहीं। तैरना सीखते समय लोग मुंह बंद किए हुए दो तूंबों को दोनों ओर बांध लेते हैं। इस हालत में कोई नौसिखिया यदि डुबकियां खाने लगे तो ये जिद्दी तूंबड़े उसे एक बूंद भी पानी नहीं पीने देते। उनका यह भेदभाव बिलकुल सराहनीय नहीं है। शायद इसी वजह से, उन्हें नीचा दिखाने के लिए याचक लोग कभी-कभी तूंबड़ों का उपयोग भिक्षापात्र के रूप में भी करते हैं।

परंतु रसनेंद्रिय को कड़वा लगने वाले इस कटु तूंबे का सबसे अधिक उपयोग होता है सितार या तानपूरे के नाद को घुमाकर उसे कर्णेंद्रिय के लिए मधुर बनाने के लिए। किसी-किसी तंतुवाद्य में तो दो-दो तीन-तीन तूंबे होते हैं। उनकी संख्या के हिसाब से वाद्य को अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और वह वीणा या

रुद्रवीणा कहलाता है। इस प्रकार के किसी दर्शनीय वाद्य को कंधे से टिकाए या गोद में लिए जब कोई गवैया गाने लगता है तो वह हूबहू कद्दू की बेल के जैसा दिखाई देता है। श्रोताओं के सागर को सुरक्षित ढंग से पार कर जाने में इन तूंबों से उसे पर्याप्त सहायता मिलती है इसमें कोई संदेह नहीं।

इस प्रकार के तूंबों से मंडित और तारों से कसे हुए वाद्य बहुत मधुर बजते हों, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। उनके साथ मृदंग हुआ फिर तो श्रोताओं के लिए आत्मरक्षा की कहीं कोई गुंजाइश नहीं रहती। घूम कर बज उठते ही यह चर्मवाद्य बहुत जल्द श्रोताओं को भी अपने नाम के समान बधिरांग कर डालता है। उसके मधुर नाद को सुनकर शायद ही कोई श्रोता कच्ची मिट्टी के ढेले की तरह गल जाने से बचता हो।

हमारे पूज्य पिताजी को संगीत का बेहद शौक था। जिस कला में वे खुद पारंगत न हो सके उसे अपने पुत्र को सिखाने की उनकी हार्दिक इच्छा थी। नामी गवैयों का गाना मेरे कानों में पड़ता रहे इस महत् विचार से वे हर महीने गाने की दो-तीन महफिलों का आयोजन घर पर करवाते रहते थे। गाने की समाप्ति से पहले कहीं नींद न आ जाय इसलिए मैं अपनी बुद्धि के अनुसार उपायों की योजना बनाया करता था। दोपहर को दो-तीन घंटे सो जाता और गाना शुरू होने से पहले आंखों में कपूर या सुरमा आंजता। परंतु सब व्यर्थ ! उस्तादजी सितार के तार और तबले का ताल मिलाते तब तक तो किसी न किसी तरह मैं आंखें खुली रख लेता था। परंतु जैसे ही गवैये ने आलाप लेने के लिए मुंह खोला कि मेरी आंखें बंद होने लगतीं। मेरे जैसा शांत और एकाग्रचित्त श्रोता शायद ही किसी गवैये को नसीब हुआ हो। जब नींद पर किसी प्रकार काबू न रह सका तो थोड़ी-थोड़ी देर बाद चिकोटी काट कर मुझे जाग्रत रखने के लिए मैं अपने किसी साथी को अपने साथ बैठाने लगा। आरंभ में तो गवैयों का जैसा विश्वास तबलची पर होता है कुछ उसी प्रकार का भरोसा मुझे भी मेरे साथी पर रहता था। परंतु बाद में वह युक्ति नाकामयाब सिद्ध होने लगी। गवैये के सम्मोहनास्त्र का असर मेरी तरह मेरे साथी पर भी पड़ने लगा। कभी-कभी तो उसकी चिकोटी के बजाय उसके खर्राटों से मेरी आंख खुलने लगी और अंत में तो नौबत यहां तक पहुंची कि मुझे ही उसे चुटकी काट कर जगाना पड़ता।

इस प्रकार जागते रहने के सारे प्रयत्न असफल हो जाने पर मैंने नींद के मार्ग

में रुकावट डालना छोड़ दिया। तकदीर सिकंदर होने के नाते मेरे नींद के झोंकों की गणना गर्दन हिला कर दी जाने वाली दाद में होने लगी और मेरी सुषुप्तावस्था की ओर अकसर किसी का ध्यान ही न जाता। कभी-कभी तो काकतालीय न्याय से गाने के चरमोत्कर्ष बिंदु, गवैये की दृष्टि और मेरी गर्दन के झोंके का ऐसा अद्भुत त्रिवेणीसंगम होता कि बड़े-बड़े कांइयां गवैये भी धोखा खा जाते। शीघ्र ही ऐसी प्रगाढ संगीतमर्मज्ञता के लिए मेरी प्रशंसा होने लगी। नींद को संभाल कर यह यश मिलता हो, तो सौदा बुरा नहीं था। अधिकांश गवैये मेरे इस प्रासंगिक ग्रीवाभंग की दाद देने लगे और पिताजी के सामने तारीफ करने लगे कि इतनी छोटी उम्र में तालसुर की इतनी गहरी समझ अन्य किसी बालक में मिलना मुश्किल है। एक बार इस तरह निश्चित हो जाने पर मैं भरी महफिल में पर्याप्त निद्रासुख का उपभोग करने लगा और कभी-कभी तो जोर के खर्राटों द्वारा ताल के समान सुरों का भी ज्ञान प्रकट करने लगा।

परंतु यह सुख अधिक दिनों तक नहीं टिका। मेरे ऊपर जबरदस्ती थोपी गई इस मर्मज्ञता का यह दुष्परिणाम निकला कि पिताजी ने मुझे गाना सिखाने के लिए एक मुसलमान उस्तादजी की नियुक्ति की। उनका नाम था उस्ताद टर्रखां। यथा नाम तथा गुण होने वाले इन हजरत ने शीघ्र ही मेरा जीना मुहाल कर दिया। इन दिनों तो गाना सुनते ही नींद आने की मेरी आदत इस हद तक बढ़ चुकी थी कि यदि मुझे कभी नींद न आने की शिकायत होती और वैद्यजी सारे उपचार करके थक जाते तो अंत में वे पिताजी को गाने की महफिल का आयोजन करने की सलाह दे सकते थे। गवैये के मुंह खोलते ही मुझे कुंभकर्ण-सी नींद आ जाती। परंतु अफसोस ! वे दिन अब कहां ? अब तो उस्तादजी ने टर्रा-टर्रा कर नाकों दम कर दिया था। फिर उनकी आवाज इतनी मधुर थी कि गाना शुरू होते ही मुहल्ले भर के कुम्हारों के गधे एकत्रित होकर पूर्ण एकाग्रता और शांत चित्त से गायन सुनने लगते और कभी-कभी तो अपने इस सहोदर बंधु के सुर में सुर मिलाने लगते। इस सुरीली आवाज ने शीघ्र ही मेरी नींद का जड़मूल से नाश कर दिया।

ऐसे अलौकिक मार्दव के अलावा उनकी आवाज का दूसरा गुण था कष्टसाध्यता। गाने में मामूली सी खटक लाने के लिए उन्हें भयानक झटकों के साथ गरदन की तोड़-मरोड़ करनी पड़ती थी। तान फेंकने के समय तो मानो पूरे

शरीर में भूचाल आ जाता और फिर भी वह ऐसी मंद गति से निकलती कि तान के बजाय सुरों की धड़धड़ाती हुई मालगाड़ी मालूम देती। कई बार तो वे तान को गले से निकालने के बदले हाथों से उसका अभिनय करते और सुरों को ऊपर चढ़ाने के बजाय पूरे शरीर को आसन छोड़कर फुटों ऊंचा उठा लेते। उनकी अपनी तैयारी इतनी उच्च कोटि की होने के कारण मुझे सिखाते समय भी वे आंतरिक और नैसर्गिक गुणों की अपेक्षा बाह्य और कृत्रिम साधनों की ही अधिक सहायता लेते। गाने में मूर्च्छना नामक एक चीज होती है। इसे साध्य करने के लिए वे मुझे मूर्च्छा आने तक पीटते रहते। आवाज में खटक लाने के लिए मेरी चुटिया पकड़ कर सिर को जोर का झटका देते और तान की गति को तीव्र करने के लिए जाड़ों में भोर होते ही ठंडे पानी का घड़ा सिर पर उंडेल देते।

उस्तादजी के इन अघोरी उपायों की बदौलत शीघ्र ही मुझे तिजारी बुखार आने लगा। तिजारी चढ़ने का और उस्तादजी के आने का समय प्रायः एक ही होता। कभी उस्तादजी समय बदल देते तो हमारी तिजारी भी आगे-पीछे हो जाती। आखिर मेरी बीमारी और उस्तादजी के आगमन के बीच का कार्यकारण संबंध समझ में आ जाने पर और उस्तादजी का न आना ही मेरे रोग की एकमात्र प्रभावकारी औषधि है यह मालूम हो जाने पर, पिताजी ने उनकी छुट्टी कर दी। उसके बाद शीघ्र ही मेरी तबीयत सुधरने लगी। वैद्यजी ने पिताजी को कड़ी हिदायत दी कि कुछ दिनों तक मेरे कानों में किसी भी प्रकार के गाने-बजाने का एक सुर भी नहीं पड़ना चाहिए। इतना ही नहीं, सितार या तानपूरे के तूंबे की कहीं याद न आ जाय इस डर से मैंने लौकी की सब्जी खाना भी कई दिनों तक छोड़ दिया था।

गवैयों की महफिल में अकसर ख्याल नामक चीज गाई जाती है। इसकी विशेषता यह है कि यह अत्यंत संक्षिप्त होती है। कभी-कभी तो पूरा गाना दो पंक्तियों में समाप्त हो जाता है। गवैये उन्हीं दो पंक्तियों को सैकड़ों बार दोहरा-दोहरा कर घंटों तक घोंटते रहते हैं। तीन पंक्तियां हुईं, तो विस्तार की पराकाष्ठा समझिये। यह संक्षिप्तता उनके रचियताओं ने शायद गाने वालों के मस्तिष्क की सीमाओं को ध्यान में रखकर निश्चित की होगी। 'ख्याल' शब्द का अर्थ 'विचार' या 'याद' भी होता है। इससे भी हमारे विचार की पुष्टि होती है और यह प्रमाणित होता है कि रचना छोटी होने के बावजूद भी गवैयों की स्मृति

पर उसका बड़ा तनाव पड़ता होगा। खैर गीत छोटा ही सही, परंतु गवैये उसे पूरा सुनाते हों ऐसा शायद ही कभी होता है। छप्पन प्रकार के व्यंजनों से भरे हुए थाल को सिर्फ थोड़ा-बहुत चाख-चूख कर सरका देने वाले किसी पैदाइशी रईस की तरह अभिजात गवैये भी सिर्फ चीज के मुखड़े को ही हाथ लगाते हैं। स्थाई सुनाने की कृपा हुई तो अंतरे को तुच्छ मानकर छोड़ देंगे। अर्थ की ओर (यहां 'अर्थ' से 'धन' का अभिप्राय नहीं है) तो उनका ध्यान ही नहीं जाता और व्याकरण के साथ शायद उनकी खानदानी दुश्मनी होती है। व्युत्पत्ति और शुद्ध उच्चारण के साथ भी उनकी पटरी नहीं बैठती। अगर वे दोनों मेलगाड़ी से बंबई जा रहे हों, तो ये मालगाड़ी से कलकत्ते की ओर रवाना होंगे। कभी-कभी तो गाना ऐन रंग में आने पर ये एक शब्द की पूंछ के साथ दूसरे शब्द का सिर जोड़कर बड़े मजेदार गंगाजमनी शब्दों का निर्माण करते हैं। 'खूबसूरत वला' को 'खूबसूर तबला' बनाकर बजाने में इन्हें बड़ा आनंद आता है। प्राचीन वैयाकरणों ने शब्द की महत्ता अर्थवाहक के रूप में ही मानी है। आधुनिक गायनाचार्य उसे केवल स्वरवाहक मानते हैं। दोनों हालतों में शब्द बेचारा कोरा भारवाहक ही रह जाता है। ह्रस्वदीर्घ के विधिनिषेधों का उच्चाटन कर देना आर उच्चारण के साथ मनमानी करना तो इनके बांयें हाथ का खेल होता है। 'संग', 'मंद' आदि सीधे साधे सानुस्वार शब्दों पर दोहरी मात्राओं का बोझ चढ़ा कर उनका उच्चारण 'सौंग' 'मौंद' इत्यादि किया जाता है।

अब रही संगीत में जाति भेद या ऊंच-नीच की भावना की बात ! इस भेद का पालन खानदानी गवैये अलबत्ता बड़ी कठोरता से करते हैं। संगीत की समाज व्यवस्था में ध्रुपद या ख्याल को उच्चवर्णीय और ठुमरी-दादरे को हीन वर्ण का माना जाता है। गजल-कव्वाली को तो बिलकुल अछूत ही समझिये। इनको गले में से निकालने की कल्पनामात्र से खानदानी गवैयों का कंठ दूषित हो जाता है। श्रोताओं का बहुत ही आग्रह हुआ तो एकाध तराना सुना देंगे। इसके शब्द अर्थशून्य होने के कारण अपेक्षाकृत सुरक्षित माने जाते हैं। परंतु ठुमरी तो प्राण जाने पर भी नहीं सुनाएंगे। और गजल···? अब्रह्मण्यम्··· !···शांतम् पापम्··· !

ठुमरी-दादरे को पहचानने की एक सरल युक्ति है। गीत के बोलों में 'सैंयां' या 'गुंइयां' की इफरात हो तो समझ लीजिए कि ठुमरी है या दादरा। इनके विषय भी नितांत परिचित होते हैं। अकसर नवेली दुलहिन के कंगन या पायल

की झनकार सुनने के लिए रात-रात भर जगने वाली सास-ननदिया का शिकवा या नीर भरन के लिए जमना तट जाते समय कंकरिया मार कर गगरिया फोड़ देने वाले अथवा पनघट पर छेड़छाड़ करने वाले नटवर नागर की शिकायत। आज तक भारत में बैजू, तानसेन, सदारंग, अदारंग, हद्दूखां, हस्सूखां आदि अनेक प्राचीन और अर्वाचीन संगीतज्ञ हुए हैं जिन्होंने संगीत की विभिन्न चीजों को राग-रागनियों में बांधा है। परंतु किसी ने भी इस दायरे के बाहर पांव रखने की जुर्रत नहीं की। सास-ननद का अत्याचार आज भी वैसा ही जारी हैऔर जमुना तट पर गोकुल की गुजरियों की गगरी फोड़ने का नंदलाल का नटखटपन भी उसी प्रकार चल रहा है। इसकी शिकायत भी 'मोरी आली' या 'मोरी गुइयां' के सिवा भला और किस से की जाए ?

जिसे प्रसिद्ध गायक बनने की अभिलाषा हो, उसे निम्नलिखित नियमों का पालन अवश्य करना चाहिए। हम विश्वास दिलाते हैं कि इन द्वादश सूत्रों पर अमल करने वालों की गणना, अन्य गुणों के अभाव में भी, शीघ्र ही महान गवैयों में होने लगेगी।

1. गवैयों के आज तक के संप्रदायों को नजर में रखते हुए, होनहार गायक को गुलमुच्छे अवश्य रखने चाहिए। उनका आकार ॐ अक्षर की दाहिनी ओर की गांठ की तरह हो, तो उत्तम। चित्रकला में एक सिद्धांत होता है कि प्रत्येक कलाकार के व्यक्तित्व की कुछ छाया उसकी कलाकृतियों में भी प्रतिबिंबित होती है। यह सिद्धांत यदि सही हो, तो ॐकार की आकृति पर से यह अनुमान निकलता है कि इस चिह्न का रचयिता सामवेद का कोई गायक रहा होगा। उसने अपने गुलमुच्छों के आधार पर ही इस आद्याक्षर की रचना की होगी। ॐकार में दिखाई देने वाले उसकी मूछों के अवशेष के बल पर सामवेद की प्राचीनता के साथ गुलमुच्छे रखने की प्रथा का औचित्य सहज ही सिद्ध हो जाता है।

2. सिर पर जरदोजी का साफा और कंधों पर दोशाला अवश्य होना चाहिए। इनका श्रोताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

3. महफिल में कोई और गवैया गा रहा हो तब 'वाह-वाह' 'बहुत खूब' इत्यादि प्रशंसात्मक शब्दों का प्रकट उच्चारण करके साथ ही पास बैठे हुए लोगों के कानों में धीरे से 'क्या गधे की तरह रेंक रहा है' 'इनकी सात पुश्तों में भी किसी ने गाना गाया था क्या' आदि साभिप्राय शब्द फुसफुसाते रहना चाहिए। इस संसार

में जब तक चारों ओर जीवन कंटकाकीर्ण हो गया है और जीवित रहने के लिए सभी को 'जीवो जीवस्य जीवनम्' के सिद्धांत पर अमल करना पड़ रहा है तब तक एक गुणी दूसरे का इसी प्रकार उपहास करता रहे, तो इसमें बुराई की कोई बात नहीं।

4. महफ़िल में अपना गाना होने वाला हो तो हमेशा कुछ देर से जाना चाहिए। दूसरों को परेशान किए बिना अपना महत्व कभी नहीं बढ़ता इस सिद्धान्त को गिरह में बांध रखना चाहिए।

5. महफिलों के संयोजकों और निमंत्रकों के प्रति अत्यंत बेरुखी और लापरवाही का बर्ताव करना चाहिए। उदाहरणार्थ, किसी ने यमन कल्याण की फरमाइश की हो, तो आप भैरवी का आरंभ करें, केदार की सूचना आए तो मेघ-मल्हार छेड़ दें, ख्याल का माहौल हो, तो धितलांग तननन तोम् का रेला बहायें और ठुमरी का मौका हो, तो ध्रुपद को घोंटें। कलाकारों को अकसर मनमौजी माना जाता है। इस प्रवाद को जारी रखना प्रत्येक खानदानी गवैये का कर्तव्य है।

6. गाना आरंभ करने से पहले घंटे डेढ़ घंटे का समय वीणा या सितार के तार कसने में और तबले का ताल सही करने में बिताना चाहिए। तार कसने की क्रिया के साथ-साथ श्रोताओं की उत्कंठा भी बढ़ती जाती है। कभी-कभी बहुत अधिक कसे हुए तार की तरह वह भी टूट जाती है, यह अलग बात है। समय नष्ट करके अपना महत्व बढ़ाने की इस तिकड़म में एक और खतरा भी रहता है। गवैये को बहुत अधिक समय तक तानपूरे की खूंटियां मरोड़ते या तबले पर थाप देते देखकर श्रोताओं के मन में भी कभी-कभी उसके कान ऐंठने या गाल पर दो थप्पड़ जमा देने की इच्छा बलवती हो उठती है। परंतु ये सब असंबद्ध और अवांतर बातें हैं। खानदानी गवैयों को इनकी उपेक्षा करके अपने उसूलों के प्रति एकनिष्ठ रहना चाहिए।

7. हर अभिजात्य गवैये को तबलची को चकरघिन्नी खिलाने की कोशिश अवश्य करनी चाहिए। ऐसा न हो सके, तो उसकी ओर सिर्फ तिरस्कार और तुच्छतासूचक दृष्टि से घूरते रहने पर भी काम चल सकता है। यह याद रखना चाहिए कि संगीत का सच्चा मर्म संवाद में नहीं बल्कि विसंवाद में निहित है। साजिंदों का पानी उतारते रहने से एक लाभ यह भी होता है कि गाना यदि श्रोताओं को पसंद न आये, तो दोष उनके मत्थे मढ़ा जा सकता है।

8. श्रोता या संयोजक आपकी तारीफ करें, उससे पहले ही आत्मप्रशंसा का आरंभ कर देना चाहिए। अपनी कामयाबी के सच्चे-झूठे लतीफे या चुटकुले सुनाने से यह सहज ही साध्य हो जाता है। अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों की राय है कि हममें आत्मसम्मान या आत्मगौरव होगा तो लोग हमारा सम्मान और गौरव करेंगे। यह बात अक्षरशः सत्य है। हमारे यहां भी प्राचीन काल में महाकवियों द्वारा अपने काव्य या नाटक के आरंभ में अपनी और अपने ग्रंथ की प्रशंसा करने की प्रथा थी। इससे हमारे उपरोक्त कथन की पुष्टि होती है। वैसे तो आत्म-श्लाघा की प्रवृत्ति हमारे यहां के हर छोटे-बड़े कलाकार को जन्मघुट्टी में ही पिला दी जाती है। इसी कारण से उनके द्वारा सुनाए जाने वाले पद्य की अपेक्षा यह आत्मस्तुति का गद्य ही अधिक मनोरंजक होता है।

9. आत्मस्तुति के साथ-साथ अन्य गवैयों की निंदा करते रहना भी उतना ही आवश्यक है। आत्मश्लाघा की कशीदाकारी अकसर परनिंदा की पृष्ठभूमि पर ही खिलती है।

10. नाटकों में गाने वाले लोकप्रिय गायकों की सदा खिल्ली उड़ाते रहना चाहिए। यह मत भूलिये कि वे आपके प्रतिस्पर्धी और जन्मजात बैरी हैं। उनके तबले-हारमोनियम ने ही आपके मृदंग-तानपूरे का पत्ता काटा है। उनके अर्थपूर्ण और भावमधुर पदों ने ही आपके सैंयां-गुइयां गायन को देशनिकाला दिया है। यह बड़े महत्व की बात है। इसकी उपेक्षा करने पर आत्मनाश के सिवा कोई चारा नहीं रहेगा।

11. आवाज जन्मजात ही कर्कश हो, तब तो उत्तम बात है। यदि न हो, तो रेंक-रेंक कर और गले की नसों को तान-तान कर उसे यथासंभव कर्णकटु बनाना चाहिए। याद रहे, हमारी आवाज जितनी ही कर्णकर्कश होगी, उतनी ही हमारी संगीतपटुता की अधिक शोहरत होगी।

12. परंतु इन सब नियमों की अपेक्षा अधिक महत्व का नियम यह है कि गाते समय चेहरे को जितना हो सके उतना टेढ़ा-मेढ़ा और भयानक बनाया जाय। आपका चेहरा जितना अधिक विद्रूप और भीषण दिखाई देगा उतनी ही आपके गाने की श्रेष्ठता सिद्ध होगी। जिस प्रकार अंधेरे में छोटे से दीपक का प्रकाश भी अधिक मालूम देता है या सहारा के रेगिस्तान के बीचोंबीच कोई रमणीय उद्यान हो, तो वह अधिक मनोरम मालूम देता है, उसी प्रकार भयावह मुखमुद्रा में से

मधुर गीत सुनाई देने पर उसकी प्रतिष्ठा भी दस गुनी बढ़ जायेगी। हमारे धूर्त पुराणकारों ने शायद इसीलिए श्रेष्ठ गायक देवर्षि नारद के घुटमुंड सिर पर सरो के पेड़ की तरह खड़ी हुई चुटिया चिपकाकर और बेचारे तुंबरु को अश्व का मुख देकर जान-बूझकर बदसूरत बना दिया है।

6. हजामत की नैतिक मीमांसा

"जो रोज मरे उसके लिए भला कौन रोये" यह कहावत बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। इसका अर्थ समझते समय सिर्फ शब्दार्थ से काम नहीं चलेगा; क्योंकि आहार निद्रा की तरह प्रकृति ने मरने को नित्यकर्म नहीं बनाया। संसार के आरंभ से लगाकर आज तक किसी-को रोज मरने की अभिलाषा हुई हो ऐसा कोई उदाहरण सुनने में नहीं आता। आत्महत्या करने वाले आदमी को एक बार मरने की उत्कट इच्छा अवश्य होती है। परंतु वह यदि मरने के बाद पुनर्जीवित हो जाय तो दूसरी बार मरने की अपेक्षा संसार के समस्त कष्ट-संकटों को झेलकर भी वह जीवित रहने का ही प्रयत्न करेगा। पाठकों को इस विषय से संबद्ध ईसप नीति की कहानी याद होगी। अतएव इस कहावत का हमें लाक्षणिक अर्थ लेना होगा। वास्तविकता के संदर्भ में उपरोक्त कहावत का भावार्थ केवल इतना है कि कोई भी दुखदाई घटना यदि रोज-रोज होने लगे, तो कालांतर में उससे होने वाला दुख कम हो जाता है। एक तो लगातार होते रहने के कारण हमें उस दुख को सहन करने की आदत पड़ जाती है और दूसरे, आरंभ में दुख की अभूतपूर्वता के कारण हमें उसका जो डर रहता है वह नित्य परिचय के कारण शनैः शनैः नष्ट हो जाता है।

हमारे चारों ओर व्याप्त अनेकविध सुविधाओं के पीछे निश्चय ही एक लंबा इतिहास छिपा होता है। उन्हें प्राप्त करने के लिए प्राचीन युग में हजारों लोगों को अनंत कष्ट झेलने पड़े होंगे और सैकड़ों को प्राणों का बलिदान करना पड़ा होगा तब कहीं बीसियों पीढ़ियों के बाद वे सफलता पा सकी होंगी। बाद में अति-परिचय के कारण लोग उनके महत्व को भूल बैठे। हजामत भी इसी प्रकार की अब महत्वहीन लगने वाली परंतु अत्यंत उपयुक्त और संस्कृति के विकास के साथ

क्रमशः साध्य होने वाली कला है। नाई की संदूकची में मिलने वाली कैंची, उस्तरा, साबुन, शीशा आदि वस्तुओं में से प्रत्येक न मालूम कितनी पीढ़ियों की गहन गवेषणाओं का परिपाक है। ये सारी वस्तुएं जब एक साथ उपलब्ध होती हैं तब कहीं हजामत का आरंभ हो पाता है।

बालों की यह विशेषता है कि एक दिन की मोहलत मिली कि वे तुरंत जड़ जमा लेते हैं। हम हर सप्ताह हजामत बनवाते (या बनाते) हैं इसलिए बाल बढ़ जाने पर हमारी कैसी दुर्दशा हो सकती है इसका हमें अंदाज नहीं होता। परंतु सौभाग्य से अशौच या दुर्भाग्य से सूतक पालने का मौका आ जाए तो हजामत की महत्ता दस-बारह दिनों में ही प्रगट होने लगती है। सच कहा जाय तो हजामत को चित्रकारी, संगीत, नाट्य आदि कलाओं के बीच मूर्धन्य स्थान मिलना चाहिए। हाथ में उस्तरा लेकर हमारे चेहरे को रक्तरंजित कर डालने वाला नाई हाथ में कूंची लेकर रंग भरने वाले चित्रकार से किस बात में कम है? इसी प्रकार साबुन चुपड़कर चेहरे को झाग से आवृत्त करने और नाटक के पात्रों के चेहरों को रंग पोतकर सजाने में कोई मौलिक अंतर नहीं है। चेहरे पर होने वाले जख्मों के कारण बिलबिलाने वाले लोगों का कराहना ध्यान में रखा जाए तो संगीत का श्मश्रूकला से बिलकुल ही संबंध नहीं है यह बात भी कोई कसम खाकर नहीं कह सकेगा। सारांश यह कि हजामत में उपरोक्त तीनों कलाओं का सुभग समिश्रण होने के कारण उसका स्थान उनसे रंचमात्र भी नीचा नहीं माना जाना चाहिए।

इस कला का जिन लोगों में जितना अधिक प्रचार होता है उन्हें उतना ही अधिक सुसंस्कृत माना जाता है। पशुओं में हजामत का बिलकुल ही रिवाज नहीं होता। बकरे की दाढ़ी आमरण उस्तरे के संस्कार से अछूती रहती है। पशुओं में इस विषय में नर-मादा को लेकर भी कोई भेदभाव नहीं पाया जाता। बिलाव की तरह बिल्ली को भी मूंछे होती हैं जिन पर वह फुरसत के समय ताव देती रहती है। इसमें उसके जन्मजात स्त्री-स्वभाव के कारण कोई बाधा खड़ी नहीं होती। मोर के सिर पर की कलगी नारदजी की चुटिया की तरह सदा खड़ी रहती है और सिंहों की अयाल पशु-नाइयों के अभाव में शाकुंतल के सातवें अंक में वर्णित बूढ़े ऋषि की जटा की तरह सदा उलझी रहती है। इस हालत में यह मानी हुई बात है कि सांस्कृतिक दृष्टि से पशुओं का स्थान सबसे नीचे आता है। जंगली लोगों का स्थान पशुओं से सिर्फ एक श्रेणी ऊपर होता है। लोहे के औजार आसानी से

उपलब्ध न होने के कारण इनमें भी हजामत का प्रचार अत्यंत सीमित होता है।

पहली बार जब उस्तरे का आविष्कार होकर हजामत का आरंभ हुआ होगा तब पृथ्वी के अर्धसभ्य लोगों में बड़ी खलबली मची होगी। अमरीका की शोध से कोलंबस को या मुद्रणकला के आविष्कार से कैक्सटन को जितना आनंद हुआ था उतना ही इस कला के आविर्भाव से इन असभ्य लोगों को हुआ होगा। हर्षावेश में शायद उन्होंने नाइयों को बड़ी-बड़ी पदवियां देकर उनका गौरव भी किया होगा। खंडेराव महाराज के राज्यकाल में जिस प्रकार पहलवानों और नौटंकी वालों की खूब आवभगत होती थी उसी प्रकार उस युग में नाइयों का पल्ला भी बहुत महत्वपूर्ण रहा होगा। केवल शब्दार्थ से ही नहीं बल्कि लाक्षणिक अर्थ में भी पूरे समाज की चुटिया इन्हीं लोगों के हाथ में रही होगी। आज भी नाइयों में जो एक विशिष्ट प्रकार के कांइयांपन और गहरी धूर्तता के दर्शन होते हैं वे शायद इसी उत्कर्षावस्था के अवशेष हैं।

केशकर्तन कला का इस प्रकार समुचित विकास हो जाने के बाद भी कुछ दिनों तक लोगों को सारे के सारे बाल मुंडवाने में हिचकिचाहट हुई होगी। इस लिए आरंभ में उनमें केवल दाढ़ी मुंडवा कर सिर के बालों को कैंची से कतरने की प्रथा प्रारंभ हुई। पाश्चात्य देशों के लोग आज तक इसी अर्धसभ्य अवस्था में हैं। इससे आगे बढ़कर पूर्णावस्था को प्राप्त किया हमारे पड़ोसी चीनियों ने और हम भारतीय आर्यों ने। हमने बालों की प्राकृतिक बाढ़ के लिए गाय के खुर के जितनी जगह खोपड़ी के मध्य में निश्चित कर दी और इस मर्यादा के बाहर कदम रखने का प्रयत्न यदि एक भी बाल ने किया तो उस बलवाई का जड़मूल सहित नाश कर देने का शास्त्रों ने विधान बना दिया।

हजामत करवाने का अधिकार हमारे यहां के पुरुषों ने पाश्चात्य पुरुषों की तरह स्वार्थभावना से सिर्फ अपने लिए ही सुरक्षित नहीं रखा। पति की मृत्यु के कारण जिन्हें विशेषाधिकार प्राप्त हो चुका है उन विधवा स्त्रियों को भी इसमें सहभागी बनाया गया। बल्कि उन्हे यह अधिकार कुछ अधिक व्यापक रूप में मिला। पुरुषों के सिर पर तो फिर भी गोखुर के जितनी जगह पर शिखा रखने की पाबंदी थी। स्त्रियों को इस बंदिश से सर्वथा मुक्त करके उनके सिर को तो पूर्णतः घुटाने के लिए स्वाधीन कर दिया गया। पुरुषों में यह अधिकार सिर्फ संन्यासियों को ही

प्राप्त है। लोग नाहक इलजाम लगाते हैं कि भारतीय समाज-व्यवस्था में स्त्रियों को कोई अधिकार प्राप्त नहीं।

केशकर्तन का सभ्यता के साथ क्या संबंध है इस पर हमने गहराई से विचार किया। अब यह देखना है कि नैतिक दृष्टि से उसका क्या परिणाम होता है। दुर्भाग्य से नैतिकता के क्षेत्र में इसकी प्रतिक्रिया ठीक उलटी पाई जाती है। जिस दिन हम हजामत बनवाते हैं उस दिन मानो हमें जवानी का फिर से अनुभव होता है; फिर उम्र हमारी कितनी ही क्यों न हो। उस दिन पूरे शरीर में एक विलक्षण उत्साह का संचार होता है। हमें सिर ऊंचा उठाकर और छाती फुला कर चलने की इच्छा होती है। रास्ते पर जाती हुई युवतियों से छेड़छाड़ करने की और घर के बड़े बुजुर्गों को ठेंगा दिखाने की प्रबल अभिलाषा होती है। धर्म और ईश्वर सब झूठी बकवास है यह प्रतिपादित करने का प्रबल आवेश भी इसी दिन उत्पन्न होता है। मूंछों पर अकारण ताव देने में आवारागर्दी की कोई बात मालूम नहीं देती और संभाषण में गालियों का अनुपात अनायास बढ़ जाता है। टोपी को एक कान पर तिरछी किये बिना चैन नहीं पड़ता। इसी प्रकार और भी कई यौवनसुलभ चेष्टाएं इस दिन होती हैं।

परंतु दो-तीन दिन बीतते ही हमारा नूर बदलने लगता है। टोपी फिर एक बार क्षितिज के समांतर हो जाती है। 'तू' के बदले 'तुम' और 'तुम' के स्थान पर 'आप' का प्रयोग अपने-आप होने लगता है। चलते समय कुछ झुककर और इधर-उधर आंखें लड़ाये बिना नाक की सीध में चलने की वृत्ति होती है। दार्शनिक विचारों की उत्पत्ति शुरू हो जाती है और "जगत का नियंत्रण करने वाली ईश्वर नामक कोई शक्ति हो भी सकती है" इत्यादि संदेह मन में उमड़ने लगते हैं। शीघ्र ही उनकी परिणति गोलमोल और मृदु मधुर भक्तिभाव में हो जाती है। लोगों के गुणों के प्रति आदर और दोषों के प्रति सहानुभूति से देखने की वृत्ति अंतःकरण में उत्पन्न होने लगती है।

परंतु इतने में हजामत बनवाने का दिन फिर नजदीक आने लगता है। इन अंतिम दिनों में तो हम अत्यधिक सदाचारी और आदर्शवादी हो उठते हैं। चेहरे पर गंभीरता छा जाती है। जबान पर प्राकृत के बजाय संस्कृत शब्दों की भरमार होने लगती है। अधिक हंसने में लाज आती है और रंगीन कपड़ों के बजाय श्वेत वस्त्र धारण करने की इच्छा होती है। ईश्वर पर तो इन दिनों असीम भक्ति हो

जाती है। यह सारा परिवर्तन सिर्फ सप्ताह भर में हो जाता है। इस अल्पकाल में किया हुआ सारा सदाचार हजामत बनवाते ही न जाने कहां विलीन हो जाता है और हम फिर से एक बार बीस साल के युवक की तरह अल्हड़, छिछोरे और बेलगाम हो उठते हैं। यदि हम यह कहें कि हर सप्ताह हम अपनी पूरी आयु को फिर से जीते हैं और उसमें के प्रत्येक अनुभव की पुनरावृत्ति करते हैं, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

परंतु एक तरफ जहां यह परिवर्तन होता है, वहां दूसरी तरफ एक और फर्क हमारी नीतिमत्ता को प्रभावित करता रहता है। बालों के साथ-साथ नाखून भी बढ़ते रहते हैं। नाखूनों की पर्याप्त वृद्धि हो जाने पर उनकी तीक्ष्णता की जांच करने के लिए उनका प्रयोग दूसरों पर करने की इच्छा बलवती हो उठती है। प्राकृत भाषा में कहें तो दूसरों को नोंचने-खरोंचने की वृत्ति पनपने लगती है। मनुष्य की देह में सामर्थ्य का संचार हुआ कि उसका दुरुपयोग होना प्रारंभ हुआ ही समझिये। दूर जाने की आवश्यकता नहीं। खुद हमारा ही उदाहरण ले लीजिये। इस समय हमारे हाथ में लेखनी है, इसलिए हमारे मन में विचार भी सभ्यता और संस्कृति के उठ रहे हैं। परंतु इसी कलम को छीलने के लिए चाकू हाथ में आ जाए तो फिर तमाशा देखिये। हमारी आंखें तर्रा जाएंगी, खून में सनसनाहट फैल जाएगी और चाकू का वार करने के लिए उपयुक्त लक्ष्य की तलाश में हम घर भर में चक्कर काटते रहेंगे। चाकू जैसा घरेलू और हल्का-फुल्का हथियार हाथ में आने पर जब यह स्थिति हो जाती है तो फिर प्रत्येक उंगली में से प्राकृतिक रूप में ही तीक्ष्ण हथियार बाहर निकलने पर अगर हमारी जिघांसा की सीमा न रहती हो तो आश्चर्य किस बात का ?

इस प्रकार हमने देखा कि नैतिक प्रतिक्रिया की दृष्टि से बालों और नाखूनों की वृद्धि का परिणाम एक-दूसरे से नितांत विपरीत होता है। परंतु प्राकृतिक संतुलन का नियम यहां भी चरितार्थ होता है। हजामत बनवाने के कारण सभ्यता और नैतिकता का जितना नाश होता है, उतना ही नाखून कटवा देने से पाशवी वृत्तियों का ह्रास होता है। हजामत के कारण जितना नुक्सान दिखाई देता है, उसकी भरपाई नखकर्तन के द्वारा पूर्ण रूप से हो जाती है।

अब तक हमने हजामत से होने वाले एक ही लाभ का विवेचन किया। वास्तव में इस बहुमुखी कला से और भी अनेक लाभ होते हैं। हजामत बनवाते समय

हमारी चुटिया पूर्णतः नाई के नियंत्रण में रहती है और वह उसे पकड़ कर उत्तमांग को चाहे जिस दिशा में मोड़ सकता है। इससे हमें अनुशासन और आज्ञापालन का सजीव पाठ मिलता है। प्रजाजनों में जिस राजनिष्ठा का होना राज्यकर्ताओं की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण होता है उसका आरंभिक सबक नाइयों द्वारा ही सिखाया जाता है। इस दृष्टि से उन्हें राज्यशासन के खरे हितचिंतक और आधारस्तंभ माना जाना चाहिए। दूसरे, हजामत में कैंची, उस्तरा आदि विविध आयुधों से पाला पड़ने के कारण हमारे मन में हमारे पूर्वजों के जैसा दाहक आर्यतेज जाग्रत होने में सहायता मिलती है। कटोरी और उस्तरे का पानी हमारी आब को भी जीवत रखता है। शस्त्रबंदी के कानून में कैंची, उस्तरे, नहरनी इत्यादि का समावेश न करके हमारे गौरांग प्रभुओं ने हम पर अत्यधिक उपकार किया है। इसके अलावा, हजामत करवाते समय चेहरे पर जो विविध आकार-प्रकार के जख्म होते हैं उनसे सहिष्णुता के गुण का विकास होता है। हजामत पूरी होने तक इस दुख को चुपचाप सहन करने के सिवा और कोई चारा नहीं होता। इससे हर स्थिति में ईश्वर पर भरोसा रखने की और प्राप्त परिस्थिति को शिरोधार्य करने की संतोषवृत्ति मन में जन्म लेती है। उस्तरे के नानाविध वारों को सहन करते-करते इस संसार के दुखमय होने की प्रतीति बड़ी तीव्रता से होने लगती है और मन सांसारिक माया-मोह से विरक्त हो जाता है। इस हालत में उन्माद और अभिमान की तो भला भावना ही कैसे जागृत हो सकती है।

नैतिकता को बढ़ाने में साबुन का योगदान भी कुछ कम नहीं है। थोड़े से घर्षण से साबुन के एक अणु में से विपुल झाग उत्पन्न हो जाता है। इस चमत्कार को देखते ही शून्य में से इस अपरिमित विश्व की निर्मिति करने वाली पराशक्ति का स्मरण हो आता है। साबुन के बुलबुले कुछ देर बाद अपने-आप विलीन हो जाते हैं। इसे देखकर दृष्टा के मन पर संसार की क्षणभंगुरता अमिट रूप से अंकित हो जाती है।

अब रहा दर्पण ! नाइयों के दर्पण अकसर विषम-दर्शन शीशे के बने हुए होते हैं; इसलिए उनकी वृत्ति सत्यनिरूपण की अपेक्षा विनोदप्रियता की ओर अधिक रहती है। किसी भी वस्तु का हूबहू प्रतिबिंब दिखाने के बजाय वे उसका विपर्यास करना ही अधिक पसंद करते हैं। उनके इस उपहासप्रिय स्वभाव के कारण उनमें

देखने वालों की मुखाकृति बड़े अजीब-अजीब रूप धारण करती है। इसका मतलब यह नहीं कि कान की जगह घुटना या मुंह की जगह पेट दिखाई देता हो। नहीं, वे इतना स्थूल विनोद नहीं करते। उनकी वृत्ति सूक्ष्म विनोद की ओर ही अधिक रहती है। नाक सीधी हो तो कुछ टेढ़ी दिखाई देगी; आंखें अकारण ही ऐंचकतानी दिखाई देंगी; मुक्ता-सी दंतपंक्ति टेढ़ी-मेढ़ी प्रतीत होगी और सुंदर एवं प्रमाणबद्ध कान अनायास ही लंबकर्ण के कानों से होड़ करते हुए दिखाई देंगे। रज्जु में सर्प की भ्रांति कराने वाली माया का इससे अधिक प्रभावी प्रदर्शन करना किसी वेदांती के लिए भी मुश्किल होगा।

अब तक हमने हजामत करवाने वालों पर उसके संभाव्य परिणामों की विवेचना की। परंतु इन परिणामों का खुद कर्तक महोदय पर भी प्रभाव पड़ता है और उस पर भी अनेकविध नैतिक संस्कार हावी होते हैं। सिर झुका कर सामने बैठे हुए असहाय मनुष्य को असह्य यातना होती देखकर उसका मन दयार्द्र हो उठता है। एक क्षण पहले जिसकी चुटिया हाथ में थी, कुछ ही क्षणों बाद उसी के पांवों की चंपी करनी पड़ेगी इस विचार से उसकी उच्च-नीच भावनाओं का शमन होकर मन में समता की स्थापना होती है। कैंची के एक ही वार से हजारों बालों को स्थानभ्रष्ट होते देखकर उसे सांसारिक व्यवहारों की क्षुद्रता और उत्थान-पतन के चक्रनेमिक्रम का अनुभव होता है। हर सप्ताह बढ़ने वाले केशनखादि को काट-काट कर ऐहिक वस्तुओं की क्षणभंगुरता की उसे गहरी प्रतीति होती है और सामने बैठे हुए निराधार प्राणी के चेहरे पर मले हुए पानी को उसकी आंखों से बहता देखकर भगवान की अगाध लीला पर उसकी प्रगाढ़ श्रद्धा जमती है।

प्रस्तुत लेख में हमने यथामति श्मश्रू की नैतिक महत्ता स्थापित की है। मानवजाति की उन्नति के साथ बालों की अवनति का अन्योन्य संबंध स्थापित करने का भी प्रयत्न किया है। आशा है, इस प्रथा की उपयुक्तता के विषय में हमारी तरह पाठकों के मन में भी कोई संदेह नहीं रहा होगा और वे सुधारकों के तर्कशून्य प्रचार की उपेक्षा करके केशकर्तन की आर्यकालीन प्रथा को उसी रूप में जारी रखेंगे। हमारा भला इसी में है। चलते-चलते हम सिर्फ एक सूचना और देना चाहते हैं। पाठक अर्धसभ्य पाश्चात्यों का और असभ्य पशुओं का मतपरिवर्तन करने का प्रयत्न न करें। हमारे कितना ही गला फाड़ने पर भी वे

हमारी चुटिया को शिरोधार्य नहीं करेंगे। पशु तो आखिर पशु ही हैं। शर के सिर पर गोखुर का घेरा नापने का प्रयत्न करने में गाय के सिर पर ही शेर का पंजा पड़ने की अधिक संभावना रहेगी यह कभी नहीं भूलना चाहिए।

7. भविष्यकथन के विविध साधन

अमुक घटना अमुक समय पर होगी, इसकी पूर्व सूचना और उसका होना अनपेक्षित और अनिश्चित होने पर भी, निश्चयात्मक ढंग से उसके संबंध में आगाह करने को भविष्यकथन कहते हैं। इस व्याख्या पर सही उतरने के लिए किसी भी भविष्यवाणी को तीन शर्तें पूरी करनीं चाहिए। पहली बात यह कि निष्कर्ष निश्चयात्मक होना चाहिए। 'अमुक बात हुई तो अमुक परिणाम निकलेगा'—इस श्रेणी के निष्कर्ष अकसर 'बुआजी के मूंछें होतीं तो वे चचा कहलातीं' जैसे गोलमोल निर्णयों की कोटि के होते हैं और उन्हें अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती। इसी प्रकार 'शायद ऐसा भी हो सकता है' जैसे गुलगुले और गोलमोल निश्चय भी भविष्यवाणी के पद को प्राप्त करने की योग्यता नहीं रखते। अन्यथा चुनाव के समय उम्मीदवारों की सफलता के विषय में समाचार-पत्रों में आने वाली सारी अटकलों को भविष्यवाणी का दर्जा देना पड़ेगा। दूसरी आवश्यक शर्त यह है कि घटना कम से कम उद्घाटित करते समय तक अनपेक्षित या अनिश्चित होनी चाहिए। सन्निपातग्रस्त रोगी के गले की घरघराहट सुनकर उसकी मृत्यु की आगाही कर के श्रेय बटोरने की कोशिश करना विशुद्ध मूर्खता की निशानी है। तीसरी अनिवार्य शर्त यह है कि यह घोषणा घटना के होने से पहले होनी चाहिए। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि किसी अनपेक्षित चमत्कार के हो जाने के बाद अपने-आप को भविष्यवेत्ता कहलाने वाले कुछ लोग 'हमने तो पहले ही कहा था कि ऐसा होगा' इत्यादि वाक्यों का प्रचार बड़े अभिमान से करते हैं। इससे उनके भविष्यज्ञान के बजाय उनकी बेवकूफी ही सिद्ध होती है। अकल का बंटवारा होते समय मौका चूक जाने वाले इन पठितमूर्खों को इतना भी मालूम नहीं पड़ता कि घटना के होने से ही किए जानी वाली जिस सूचना

की गणना भविष्यवाणी के अंतर्गत हो सकती थी, वही घटना के बाद प्रगट करने पर मात्र हास्यास्पद प्रयत्न सिद्ध होगी और लोग उसे मिथ्या घमंड और कोरी बकवास के सिवा और कुछ नहीं मानेंगे।

इन सब शर्तों के पूरा हो जाने पर भी केवल भविष्यकथन के बलबूते पर ही लोग हम पर विश्वास कर लेंगे ऐसा नहीं समझना चाहिए। लोगों का विश्वास संपादित करने के लिए और भी कई हथकंडे और गुर आवश्यक हैं। उनके अभाव में सारे प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। कुछ लोगों को बिना सोचे-समझे कौड़ियों के हिसाब से भविष्यवाणियां करते रहने की आदत होती है। प्रतिष्ठा खोने का यह सरलतम उपाय है। जनमानस में शीघ्र ही उनके नाम के साथ ढपोरशंख आदि प्राकृत विशेषण जुड़ जाते हैं। हमारी सात समुंदर पार की मलिका विक्टोरिया को हम तीस करोड़ भारतीयों की प्रार्थना के बलबूते पर भगवान ने बड़ी लंबी आयु प्रदान की थी। परंतु कुछ लोग उनके जीते जी उनकी मृत्यु की भविष्यवाणी हर साल नियमित रूप से करते रहे और बेवकूफ बनते रहे। अंत में दो साल पहले एक ज्योतिषी को यश मिला। परंतु वह उसके ज्योतिषशास्त्र के ज्ञान के बलबूते पर नहीं बल्कि महारानी साहिबा की वयोवृद्धता के कारण ही मिल पाया।

वंध्या भविष्यवाणी करने में मौसम की आगाही करने वाली वेधशालाओं को कोई मात नहीं दे सकता। उसकी तो पूरी इमारत ही वातावरण की बुनियाद पर खड़ी होती है। और वातावरण क्या है, तो 'धुमोज्योतिः सलिलमरुताम् सन्निपातः'। इस हालत में उनकी पेशीनगोइयां हवा के हर झकोरे के साथ सत्य से दूर हटती रहें तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। वेधशाला ने अनावृष्टि की आगाही की तो अतिवृष्टि होकर समूची सृष्टि बाढ़ग्रस्त हुई ही समझिये। इसी प्रकार अगर वर्षा की आगाही की गई हो, तो पूरी पृथ्वी इन वायुशास्त्र-वेत्ताओं के मस्तिष्क की तरह शुष्क और बंजर होने में देर नहीं लगेगी। वेधशाला की गणना के अनुसार जब तूफान आना चाहिए तब हवा शांतचित्त से अपनी अनुपयोगिता का चिंतन करती रहती है और वेधशाला जब शांत वातावरण की उत्सुकता से राह देखती है तब प्रचंड झंझावत उन्मत्त हाथी की तरह इर्दगिर्द की बस्तियों को उजाड़ते रहते हैं। इस प्रकार वेधशालाएं सदा प्रकृति के साथ आंखमिचौनी का खेल खेलती रहती हैं और जिस प्रकार रात

और दिन की कभी भेंट नहीं होती उसी प्रकार उनकी भविष्यवाणी की सत्य के साथ वर्षों तक मुलाकात नहीं होती।

वेधशालाओं की इस विलक्षण वृत्ति से सरकार और आम जनता का बहुत फायदा हो सकता है। सरकार को जब-जब अकाल के चिन्ह दिखाई दें उसे तुरंत वेधशालाओं द्वारा अकाल की अगाही करने का फर्मान जारी कर देना चाहिए। शीघ्र ही उत्तम वर्षा होकर चहुंओर सब चीजों की बहुतायत हो जाएगी। इसी प्रकार अतिवृष्टि की आशंका होने पर वेधशालाओं को वर्षा की भविष्यवाणी करने का हुकम देना चाहिए। इससे बारिश जहां की तहां रुककर बाढ़ आदि से लोगों की रक्षा हो सकेगी।

भविष्यकथन के जो लोकप्रिय साधन प्रचलित हैं उन्हें दो वर्गों में बांटा जा सकता है। कुछ साधनों का होने वाली घटनाओं के साथ दूरान्वय से ही क्यों न हो, पर कुछ कार्यकारण संबंध अवश्य होता ह; जबकि कुछ इस प्रकार के संबंध से सर्वथा मुक्त होते हैं। इनमें से पहले वर्ग की विवेचना करना प्रस्तुत निबंध का हेतु नहीं है। हमारा संबंध दूसरे वर्ग में आने वाले साधनों से है। इस वर्ग में फलित-ज्योतिष, कज्जलपात्र, रमल इत्यादि का समावेश है। ज्योतिषी आकाश में चमकने वाले ग्रहों की स्थिति को देखकर भविष्य बताता है, कज्जलिक काजल के पात्र में देखकर और रमल वाला पासे फेंककर। पहले का आधार है प्रकाश, दूसरे का अंधकार और तीसरे का शुभ्र पासों रूपी प्रकाश पर अंकित काली बिंदियां रूपी अंधकार। इस दृष्टि से देखा जाए तो रमल का स्थान फलित-ज्योतिष और कज्जलपात्र के बीच में आता है। हमारी राय में ये तीनों साधक भ्रामक हैं। पासे अमुक तरह से गिरे, इसका मनुष्य के भाग्य से क्या संबध हो सकता है ? बहुत हुआ तो चौपड़ आदि खेल खेलने वालों पर उसका कुछ परिणाम हो सकता है; परंतु इस संसार रूपी विशाल बिसात पर खेलने वालों का भाग्य बदलने की शक्ति उनमें कैसे हो सकती है ? यही हाल कज्जलपात्र का है। पश्चिम के देशों में इसका स्थान कांच के विशाल गोलक ने ले लिया है। घुड़ैल जैसी दिखाई देने वाली बुढ़ियाएं उसमें घूर-घूर कर लोगों के भविष्य का निरूपण करती रहती हैं। फलित-ज्योतिष तो इन दोनों साधनों को मात करता है। अरबों-खरबों योजन दूर होने वाले ग्रहों का भला परस्पर क्या संबंध हो सकता है। कल यदि मंगल नष्ट हो जाए, तो शनि को उसका सूतक लगने की संभावना नहीं। इसी

प्रकार वरुण (Neptune) और प्रजापति (Urenus) नामक दो नये ग्रहों का अस्तित्व मालूम पड़ने पर अन्य ग्रहों ने मातृजन्म का आनंदोत्सव मनाया हो, ऐसी भी कोई बात सुनाई नहीं दी। इन आकाशस्थ ज्योतिपुंजों में सचमुच ही कोई मित्रता-शत्रुता की भावना होती तो अरुंधती वसिष्ठ के पास गए बिना इतने युगों तक चुपचाप न बैठी रहती और सूर्य पुत्रवात्सल्य से शनि के गले में बांहें डाले बिना न रहता। इस हालत में पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्यों के भाग्य को ग्रहनक्षत्रों से संचालित मानना तो अहमकपन की पराकाष्ठा है।

उपरोक्त साधनों के अलावा भविष्यकथन के क्षेत्र में अंतःप्रवृत्ति और कर्णपिशाच नामक दो और साधन भी प्रसिद्ध हैं। इनमें से पहले साधन का प्रवर्तक था सम्राट दुष्यंत। यह बात शायद उसी ने पहली बार कही थी कि "सतां ही संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमंतःकरणप्रवृत्तयः। परंतु यह विधान सिर्फ साधुपुरुषों के विशुद्ध अंतःकरण के संदर्भ में ही चरितार्थ होता है। दुष्टजनों के कलुषित अंतःकरण या साधारण जनों के सपाट अंतःकरणों तक उसकी व्याप्ति नहीं। आश्रमवासिनी शकुंतला के साथ अत्यंत साधुजनोचित संबंध स्थापित करने वाले दुष्यंत की तरह हम सामान्य जनों का अंतःकरण शुद्ध न होने के कारण इस साधन की रामबाण क्षमता से हमारा परिचय नहीं हो सका और इसमें हमारा विशेष दोष भी नहीं है। अब रहा कर्णपिशाच ! इस पिशाच की निरंतर गुन-गुनाहट से सुनने वाले भविष्यवेत्ता के कान लंबे होते हैं या नहीं, यह तो हमें नहीं मालूम; पर इस साधन पर विश्वास करके प्रश्न पूछने वाले जिज्ञासुओं के कान काफी लंबे होते हैं यह हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं।

पृच्छकों पर भविष्यकथन के अन्य शास्त्रोक्त साधनों की अपेक्षा उपरोक्त अतींद्रिय साधनों का ही अधिक प्रभाव पड़ता है। जिन बातों का भविष्य में होने वाली घटनाओं के साथ का संबंध बुद्धिगोचर होता है, उनके बारे में आगाही करना विशेष चमत्कारपूर्ण नहीं माना जाता। फिर, कभी-कभी उन अनुमानों के झूठे प्रमाणित होने की भी संभावना रहती है। परंतु साधन और साध्य के बीच यदि बादरायण संबंध भी न हो, तो पृच्छक कितना ही चालाक क्यों न हो, सिवा सर फोड़ने के वह कर ही क्या सकता है ? मनुष्य-स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि बुद्धिगोचर बातों की अपेक्षा अगम्य और रहस्य के आवरण में लिपटी हुई वस्तु ही उस पर अधिक प्रभाव डालती है। इसलिए बुद्धिमान भविष्यवेत्ता को

अपनी इमारत सदा शास्त्रीय आधारों की बुनियाद पर खड़ी करके दिखावा फलित-ज्योतिष, साक्षात्कार या कर्णपिशाच का करते रहना चाहिए। कोलंबस ने भी एक बार चंद्रग्रहण की गणना गणित-ज्योतिष के आधार पर करके भोले रेड-इंडियनों को चंद्र के संकट की भविष्यवाणी से प्रभावित किया था। जिस प्रकार बाजीगर की हाथचालाकियों का उसके फूंक मारने या जादू की लकड़ी घुमाने के साथ कोई संबंध न होने पर भी प्रेक्षकों को मंत्रशक्ति से प्रभावित करने के लिए वह उनका उपयोग करता रहता है, उसी प्रकार पृच्छकों के मन में कुतूहल निर्माण करके उन्हें भ्रमित करने के लिए कुशल भविष्यवेत्ता को भी बाह्य उपस्कारों का अधिकाधिक प्रयोग करते रहना चाहिए।

भविष्य की आगाही करने और घटनाओं के ठीक उसी प्रकार होने का काकतालीय योग बहुत कम भविष्यवादियों के भाग्य में होता है। उपन्यासकारों और नाटककारों का समावेश अकसर इन इनेगिने भाग्यवानों में होता है। शेक्सपीयर ने अपने 'मैकबेथ' नाटक में एक चेटकी के मुंह से एक विलक्षण भविष्यवाणी करवायी है और उसे अल्पकाल में उतने ही अनपेक्षित ढंग से सत्य होते हुए दिखाया है। कालिदास ने भी शाकुंतल में दुर्वासा ऋषि के मुख से ऐसी ही अकल्पित भविष्यवाणी करवा कर उसे उतने ही अकल्पनीय ढंग से सत्य सिद्ध किया है। चोरों की गणना अकसर कवियों के साथ की जाती हैं। अर्थचौर्य के साथ-साथ भविष्यकथन करने का जो दूसरा साधर्म्य उनमें पाया जाता है वह उन्हें एक ही बिरादरी में ला बिठाता है। यदि किसी का कोई आभूषण चोरी हो गया हो, और चुराने वाले ने ही अमुक-अमुक स्थान पर खुदाई करने से उसके प्राप्त होने की भविष्यवाणी की हो, तो उसका सत्य प्रमाणित होना अनिवार्य है। कवियों और चोरों की भविष्यवाणियां सौ प्रतिशत सत्य प्रमाणित होने का एकमात्र कारण यह होता है कि भविष्यकथन के साथ-साथ उसकी पूर्णता की कुंजी भी संपूर्णतः उन्हीं के हाथों में होती है। पहेलियां गढ़ने वालों को जिस प्रकार उनका हल भी मालूम होता है, उसी प्रकार साहित्यिक भविष्यवाणियों को अनेक प्रकार के जोड़-तोड़ से पूरा करवाने की अनेक तरकीबें उनके रचयिताओं को ही अवगत होती हैं।

वैज्ञानिक या अतींद्रिय, किसी भी प्रकार के साधनों की सहायता लिए बिना, केवल धूर्तता और मानव-स्वभाव की जानकारी के बलबूते पर भविष्यकथन

करने का एक निराला ही शास्त्र है। इस संप्रदाय में दीक्षित होना चाहने वालों के मार्गदर्शन के लिए यहां उसके मोटे-मोटे गुर दिए जाते हैं :—

जिस घटना के संबंध में हम आगाह करते हैं उसका काल या तो पृच्छकों की आयुमर्यादा के अंतर्गत हो सकता है या उसके बीतने के बाद का। इस दृष्टि से विचार करते समय हम पहले जिज्ञासुओं के जीवनकाल के भीतर होने वाली घटनाओं का विवेचन करेंगे। इस प्रकार के भविष्यकथन में दो बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए। एक तो यह कि होने वाली घटना सारी परिस्थिति का विचार करते हुए संभव कोटि की होनी चाहिए; और दूसरे यह कि किसी भी भविष्यवाणी में होने वाली घटना का स्वरूप, उसका समय और उसका स्थान इन तीन आवश्यक अंगों में से एक को हमेशा अनिश्चित रख कर बचे हुए दो को निश्चित घोषित करना चाहिए। निम्नलिखित उदाहरणों में बताए हुए ढंग से भविष्यकथन करते रहने पर सफलता की आशा अधिक रहेगी :—

1. 'जर्मनी के बादशाह के साथ उसकी राजधानी में एक वर्ष के भीतर एक चमत्कारपूर्ण घटना घटेगी।'

राजा-महाराजाओं के जीवन में चमत्कारपूर्ण प्रसंग आते ही रहते हैं। अतः भविष्यकथन की तिथि से लगा कर साल भर के भीतर कैसर के जीवन में कोई भी छोटी-मोटी घटना हुई, तो लोगों का ध्यान तुरंत उस तरफ आकर्षित होगा और भविष्यकथन सही निकला, ऐसा समझा जाएगा। यहां समय और स्थान को निश्चित रख कर होने वाली घटना के स्वरूप को जानबूझकर अस्पष्ट रखा गया है। इसीलिए कोई भी छोटी-मोटी घटना होने पर भी हमारी प्रतिष्ठा सुरक्षित रहेगी।

2. 'इस वर्ष के दरमियान पृथ्वी पर कहीं भयानक भूचाल आयेगा।'

इस विशाल पृथ्वी पर हर साल कहीं न कहीं भूकंप आता ही रहता है। इस वर्ष वह कहीं भी हो, स्थान का उल्लेख अनिश्चित रखने के कारण उसका संबंध हमारी भविष्यवाणी के साथ जोड़ने में हमें कोई कठिनाई नहीं होगी। और यह भी अत्यंत स्वाभाविक है कि जिस स्थान पर यह धक्का लगेगा, वहां के लोगों को वह मामूली होने पर भी महाभयानक मालूम देगा।

3. 'शीघ्र ही इंग्लैंड और रूस के बीच बड़ा झगड़ा होने वाला है।'

इन दोनों देशों के वर्तमान संबंधों को नजर में रखते हुए उपरोक्त कथन के

देर-अबेर सत्य होने की पूरी संभावना है। अब वह 'शीघ्र ही' होने के बजाय 20-25 वर्ष बाद हुआ, तो भी हमारी शब्द-योजना के कारण विशेष बाधा नहीं आएगी। 20-25 वर्ष का कालखंड व्यक्ति की दृष्टि से लंबा हो सकता है; पर राष्ट्रों के इतिहास की दृष्टि से देखने पर इस कालावधि का 'शीघ्र ही' के अंतर्गत समावेश कर लेने में विशेष कठिनाई नहीं होगी।

ईसाई धर्मशास्त्र, भविष्योत्तरपुराण इत्यादि धर्मग्रंथों में भविष्य में होने वाली घटनाओं का वर्णन करते समय इसी पद्धति का प्रयोग किया गया है। यूनान में डेल्फाय द्वीप पर जो देवताओं का कौल मिलता था उसमें भी इसी संदिग्ध प्रणाली पर अमल किया जाता था। ईसाई धर्मशास्त्रों में परमेश्वर के पैगंबर का भूतल पर आविर्भाव होने के संबंध में जो भविष्यवाणी पाई जाती है वह इतनी अस्पष्ट और संदिग्ध थी कि मसीहा का अवतार हो जाने के बाद भी उसके पैगंबर होने के संबंध में विवाद उठते रहे। इसी के परिणामस्वरूप उस धर्म में यहूदी और ईसाई नामक दो संप्रदायों का जन्म हुआ। "मैं मेरे प्रियजनों को विश्व का राज्य दूंगा।" इत्यादि ईश्वरीय अभिवचनों को छाती से चिपकाये यहूदी लोग आज भी उस सुदिन की राह देख रहे हैं।

प्रतिवर्ष प्रसिद्ध ज्योतिषियों की ओर से जो वर्षफल प्रकाशित होते हैं उनमें भी कुछ इसी प्रकार की करामात दिखाई देती है। "देश के कुछ प्रदेशों में वर्षा कम होगी और कुछ में बहुत अधिक।" "पश्चिम के देशों में एक भयानक युद्ध होगा।" कुछ वस्तुओं के व्यापार में तेजी आयेगी और बाकी में मंदी।" "देश में मृत्यु की अपेक्षा जनन का अनुपात अधिक रहेगा।" इत्यादि कथनों ? में भविष्यकथन के बजाय हथकंडेबाजी के ही दर्शन अधिक होते हैं। इस अभागे देश में वर्षा के मनमौजीपन से तो सभी परिचित हैं। वह हर वर्ष इसी प्रकार का बर्ताव करती है। दूसरा कथन भी ठीक ही है। पश्चिम के देश आपस में लड़ते ही रहते हैं। अतः युद्ध पश्चिम में हुआ तब तो उत्तम बात है। यदि वह चीन, जापान आदि पौर्वात्य देशों में हुआ तो भी यह कहा जा सकता है कि उक्त देश भारत के पूर्व में होने पर भी अमरीका के पश्चिम में है और भारत से पश्चिम की ओर मुंह करके चलने पर भी वहां पहुंचा जा सकता है। इसी प्रकार अंतिम दो कथन भी कलियुग में आमतौर पर दिखाई देने वाली अर्थप्राप्ति की इच्छा और स्त्री सुखलालसा पर आधारित होने के कारण उचित प्रतीत होते हैं।

कोई घटना यदि हमारी भविष्यवाणी के साथ संबंधित व्यक्तियों की जीवनावधि के बाद होने वाली हो, तो उसके संबंध में अधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता नहीं। इतना ही नहीं, हमारे श्रोताओं या पाठकों के जीवनकाल के बाद होने वाली घटनाओं के संबंध में तो चाहे जैसी बेबुनियाद गप हांकने में भी कोई हर्ज नहीं। हमारे समकालीनों द्वारा उसकी सत्यासत्यता सिद्ध होने की कोई संभावना नहीं रहती और हमारे बादवाली पीढ़ियों को हमारे भविष्यकथन की अयथार्थता मालूम हो जाने पर हमारी कलई खुल जाएगी ऐसी आशंका के लिए भी कोई कारण नहीं होता। अव्वल तो तब तक हमारी तरह हमारा भविष्यकथन भी काल के गर्भ में न जाने कहां लुप्त हो जाएगा। और दूसरी बात यह कि कर्मधर्मसंयोग से मान लो वह जीवित भी बचा और अपनी बेबुनियादी की वजह से सबके उपहास का पात्र भी बना, तो उसे देखने या सुनने के लिए हम जीवित ही कहां रहेंगे ! मृत्यु के बाद हमारा उससे संबंध ही कहां रहेगा ! और उपहास का शूल चुभने के लिए हमारे मन का अस्तित्व भी तब कहां होगा !

हमारी भविष्यवाणियां हमारी मृत्यु के बाद भी जीवित रहेंगी ऐसा भय या घमंड हमारे मन में हो, और उनकी विफलता से उत्पन्न उपहास की कल्पनामात्र से हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हों, तो अलबत्ता हमें कुछ अधिक सावधानी बरतनी होगी। वैसे तो आज का युग ही कुछ ऐसा है कि लोगों को वर्तमान की अपेक्षा भविष्य की कहीं अधिक चिंता रहती है। मनुष्य-स्वभाव की यह कमजोरी भविष्य-वेत्ताओं को बड़ी सहायक सिद्ध होती है। दूसरे, औसत मनुष्य को पुरानी बातों का बड़ा अभिमान होता है। किसी ने छिछोरेपन से उनकी खिल्ली भी उड़ाई, तो बस उसकी एड़ी की आग चोटी तक पहुंच जाती है। इस कारण से, हमारे भविष्य-कथन को भविष्य की पीढ़ियां बड़े गौरव से देखें और हमारी भविष्यवाणियां यदि लाक्षणिक अर्थ में भी पूरी होने लगें तो इसे वे अपने पूर्वजों के अगाध ज्ञान का लक्षण समझें इसकी पूरी संभावना रहती है। वर्त्तमान के संबंध में तो हम छोटी-मोटी बातों को भी, अनेक तर्क विसंगत होने की हालत में, लोगों के गले नहीं उतार सकते। परंतु भविष्य की पीढ़ियों पर उन्हें बिना किसी संकोच के बड़ी आसानी से लादा जा सकता है।

हमारे देश में सामाजिक प्रथा-परंपराओं और लौकिक रस्मोरिवाज की प्रथा नहीं है। इसलिए आने वाली पीढ़ियों को उनके विषय में संपूर्ण अज्ञान होगा।

उनके सामने यदि हम आजकल की बासी और निर्मूल्य प्रथाओं को कुछ रहस्य के आवरण में लपेटकर प्रस्तुत कर सकें, तो वे उसे स्वादिष्ट व्यंजन समझकर चटखारे लेते हुए ग्रहण कर लेंगे। 'कलियुग में प्लेग नामक महामारी फैलेगी' ऐसी भविष्य-वाणी जब हमने हमारे किसी पुराण में प्लेग के आगमन के बाद पढ़ी, तब हमारे पूर्वजों की सर्वज्ञता को लेकर हमने बड़े अभिमान का अनुभव किया था। 'इस सर्वज्ञ भविष्यवेत्ता के जन्मकाल में ही प्लेग की शुरुआत हो चुकी होगी और उपरोक्त पुराण की रचना भी प्लेग के डर से शहर के बाहर बसाई हुई किसी झोंपड़ी में हुई होगी' ऐसा संशय हमारे कुछ सुधारक मित्र व्यक्त कर सकते हैं। पर श्रद्धालुओं के मन को यह बात स्पर्श नहीं कर सकेगी। मनुष्य के मन की इस प्राकृतिक प्रवृत्ति को नजर में रखते हुए हम यदि नीचे लिखी हुई सामान्य श्रेणी की भविष्यवाणियां करते रहें तो आगामी पीढ़ियों को वे निश्चित ही असामान्य और विश्वसनीय मालूम देंगी :—

"आने वाले युगों में लोग शिश्नोदरपरायण हो जाएंगे। उनकी वृत्ति उदरभरण की ओर और उनका झुकाव स्त्रियों की ओर रहेगा।"

"देश में भयानक दारिद्रय फैलेगा और लोग अन्न के दाने-दाने को तरस कर प्राण छोड़ेंगे।"—इत्यादि

इन कथनों के साथ यदि "लोगों की प्रवृत्ति नास्तिकता की ओर अधिक रहेगी; केशवपन का धार्मिक आचार बंद हो जाएगा; विधवा स्त्रियां रिश्तेदारों के बच्चे खिलाने का सात्विक व्यवसाय छोड़कर अपने बच्चे खिलाने की अनीतिमय लालसा से प्रेरित होकर पुनर्विवाह करने लगेंगी" इत्यादि धर्मग्लानिपरक विधान भी जोड़ दिए जाएं तो लोगों की हमारे ऊपर की श्रद्धा परमावधि को पहुंच जाएगी। इस संबंध में ध्यान में रखने लायक एक विशिष्ट बात यह है कि हमारी भविष्य-वाणियां हमेशा भविष्यकाल की संभाव्य स्थितियों के सदा प्रतिकूल होनी चाहिए। मनुष्य-स्वभाव का यह एक सनातन नियम है कि उसे वर्तमान स्थितियों के प्रति सदा असंतोष रहता है जबकि अतीत की ओर वह सदा ललचाई हुई पर निराश दृष्टि से देखता रहता है। वर्तमान स्थितियां पहले की अपेक्षा अत्यंत निकृष्टावस्था को पहुंच गई हैं ऐसा भी उसे दृढ़ विश्वास होता है।

अंत में, एक और ज्ञातव्य बात यह है कि किसी भी भविष्यवाणी की काल-गणना करते समय हमें उसका आरंभ भविष्यकथन के समय से या अन्य किसी

निश्चित वर्ष से न करते हुए सदा कलियुग के आरंभ से करना चाहिए। कलियुग का आरंभ कब से हुआ इस विषय को लेकर विद्वानों में अब तक मतभेद है और आगे भी रहेगा। पिछली कई शताब्दियों में विभिन्न समय पर समाज के पतन की पराकाष्ठा को देखकर धर्मप्रवण लोगों ने उसका आरंभ अपने-अपने युग की विभिन्न तिथियों से माना है। यह बात भविष्यवेत्ता के लिए बड़ी अनुकूल सिद्ध हो सकती है। उसकी आगाही का कालखंड यदि कलियुग के आरंभ की एक गणनापद्धति से गलत साबित होकर लोगों का उस पर से विश्वास उठने लगे, तो दूसरी किसी गणनाप्रणाली से उसके सही प्रमाणित होने की पूरी संभावना रहती है।

8. मेरी भीष्मप्रतिज्ञा

चार साल पहले, उम्र के साठवें वर्ष में मेरी द्वितीय धर्मपत्नी का देहावसान हो गया। उसके बाद यथाविधि मेरा आक के पौधे के साथ विवाह हुआ[1]। पेड़-पौधों से विवाह करने की हमारी इस प्राचीन प्रथा से यही सिद्ध होता है कि प्राणीसृष्टि और वनस्पति जगत् के बीच अभेद का ज्ञान हमारे पूर्वजों को बहुत पहले से था। पश्चिम के विद्वानों को इसकी जानकारी तो अभी हाल में हुई है। उपरोक्त विवाह तो हो गया, पर आक के पौधे के साथ जीवन व्यतीत करने के मोह में न पड़ते हुए मैंने आत्मसंयम करके शीघ्र ही उसका क्रियाकर्म समाप्त किया और चौथी स्त्री से विवाह कर लिया। परंतु दुर्भाग्य से वह भी शीघ्र ही कालकवलित हो गयी। ऐसे दारुण संकट का मुकाबला करने में मुझे कितना कष्ट हुआ होगा इसे भुक्तभोगी ही समझ सकते हैं। उस दुखावेग में मैंने फिर से विवाह न करने की कठोर प्रतिज्ञा कर डाली जो आज तक अक्षुण्ण है। नौजवान पीढ़ी चाहे तो मेरे इस बर्ताव से सबक सीख सकती है।

परंतु बीच में मेरी इस प्रतिज्ञा-भंग होने का खतरा कई बार उपस्थित हुआ। केवल अपने धैर्य और दृढ़ निश्चय के बलबूते पर ही मैं उन प्रलोभनों को जीत सका। बात यह हुई कि सूतक के दिन पूरे होने से पहले ही दो-तीन कन्याओं की जन्मपत्रियां मुझे दी गईं। मनोरंजन का और कोई साधन न होने के कारण मैं उन

---

[1]महाराष्ट्र में तीसरा विवाह अशुभ मानव जाता है। दूसरी पत्नी की मृत्यु के बाद यदि विवाह करना हो तो पहले आक, मदार या इसी प्रकार के किसी पेड़ पौधे के साथ विवाह करके तीसरे विवाह की आपत्ति टाल दी जाती है। कुछ दिनों बाद उस पौधे की मृत्यु घोषित कर के उसका क्रियाकर्म कर दिया जाता है और पुरुष चौथे विवाह के लिए मुक्त हो जाता है—अनु.

पत्रिकाओं को जांचने में और मेरी कुंडली के साथ उनका मेल-मीजान बैठता है या नहीं यह देखने में समय व्यतीत करता रहा। परंतु यह उद्योग करते समय भी मन का पक्का निश्चय कायम था कि इससे आगे अब विवाह नहीं करना है।

अंत में सूतक-काल पूरा होकर पिंडदान का दिन आया; पर किसी भी तरह कौआ पिंड का स्पर्श करने को तैयार नहीं हुआ। आधा घंटा बीता,···एक घंटा बीता,···परंतु काकबलि का स्वीकार नहीं हुआ। आखिर मैंने अपनी मृत पत्नी की अंतिमेच्छा का स्मरण करके फिर से विवाह करने का मन-ही-मन संकल्प किया तब कहीं जाकर कौए ने पिंड को छुआ। मेरी प्रतिज्ञा डगमगाने और कौए के पिंड पर बैठने की क्रियाएं एक साथ हुईं। आधुनिक विज्ञान के पास है कोई इसका जवाब ? इस घोर कलिकाल में भी इस प्रकार के दैवी चमत्कार की हजारों घटनाएं प्रतिदिन होती रहने पर भी सुधारक लोग सनातन धर्म और उसकी प्रथाओं को सदा नाम धरते रहते हैं। इस दृष्टि से देखने पर तो ऐसा मालूम देता है कि चश्मा पहनकर ब्रह्मज्ञान बघारने वाले हमारे इन सूक्ष्मदर्शी सुधारकों की अपेक्षा एकाक्ष कौए की दृष्टि कहीं अधिक पैनी और सारग्राही होती है।

मेरे आंतरिक संकल्प के साथ-साथ ही कौए ने पिंड को छुआ, यह बात जब मेरे संबंधियों को मालूम हुई तो उनका आनंद आकाश को छूने लगा। सबने कौए को उसके निर्णय के लिए धन्यवाद दिया। पर मैं मन ही मन दुखी रहने लगा। कौआ जाते-जाते भी अपने निर्णय में दो-एक काकपद जोड़कर मेरा छुटकारा करेगा ऐसी आशा कुछ समय तक मेरे मन में रही; पर कौए के उड़ जाने के साथ वह भी समाप्त हो गई। फिर मैंने विचार किया कि मेरे निजी सिद्धांत कुछ भी हों, इष्टमित्रों केआनंद में बाधा नहीं डालनी चाहिए। इस विचार से प्रेरित होकर मैंने ऊपर-ऊपर से संतुष्ट होने का दिखावा किया। परंतु इससे संबंधियों के उत्साह में और भी वृद्धि हुई। मेरे मन में तो विचारों का तूफान उठ रहा था। कभी लगता कि मेरी मृत पत्नी की गुणों में बराबरी कर सके ऐसी स्त्री इस भूतल पर मिलना तो मुश्किल है। फिर कभी विचार आता कि गुणों में बराबरी न सही, पर रूप यौवन द्वारा उस कमी को पूरी कर देने वाली कोई सुंदरी मिल जाए तो हर्ज भी क्या है। कभी ऐसा लगता कि एक बार विवाह न करने की कसम खा लेने के बाद अब मन को बहकाना क्षुद्रता की निशानी है। तो कभी यह भावना प्रबल हो उठती कि मृत पत्नी की अंतिमेच्छा के वाहक कौए के साथ

विश्वासघात करने से पाप ही पल्ले बंधेगा। मैं दूसरी स्त्री के पिंड को स्पर्श करने को तैयार हूं इस स्पष्ट वादे के बाद ही उसने मेरी गत स्त्री के पिंड को स्पर्श किया था। अब अपना मतलब निकल जाने के बाद इस तरह खुल्लमखुल्ला विश्वासघात करना, और वह भी एक पक्षी के साथ,—यह तो हमारे कुल की रीत नहीं थी। अंत में काफी सोचविचार के बाद मैं इसी निर्णय पर पहुंचा कि एक तो क्या चार स्त्रियां भी करनी पड़ें तो कोई हर्ज नहीं; पर एक मूक पक्षी को दिए हुए आश्वासन को भंग नहीं किया जा सकता।

इसके बाद और भी कई लड़कियों की जन्मपत्रियां आईं। अब मैंने निश्चय किया कि जन्मपत्रियां देखने के बजाय प्रत्यक्ष लड़कियों को देखना कहीं अच्छा रहेगा। अतः जहां-जहां से बुलावा आता, मैं बड़ी उत्सुकता से लड़की देखने पहुंच जाता। पहली लड़की जो देखी, उसके नाक-नक्श तो अच्छे थे पर आगे के दो दांत गिरे हुए थे। मेरी यह प्रबल इच्छा थी कि पत्नी के और मेरे दांतों का जोड़ कम-से-कम बत्तीस तो होना ही चाहिए। यहां आरंभ में ही दो का घाटा था। इसके बाद की लड़की रूप में तो हजारों में एक थी पर उम्र उसकी कुल जमा ग्यारह वर्ष की थी। मेरा हमेशा से यह स्पष्ट मत रहा है कि विवाह के समय लड़की की उम्र यौवन के जितनी ही निकट हो, उतनी पति-पत्नी के बीच प्रेम की संभावना अधिक रहती है। तीसरी लड़की के भी नक्श तो तीखे थे, पर रंग गज़ब का पक्का। वैसे मैं इसे अधिक महत्व नहीं देता; परंतु इस कृष्णकलीको गले में बांधकर मैं अपनी संतति का नुकसान नहीं करना चाहता था। यह तो सभी के अनुभव की बात है कि परिवार में एक बार काला रंग घुस जाए तो उसके धुलने में चार-पांच पीढ़ियों का समय लग जाता है। पर अधिक दिनों तक राह देखने की मेरी उम्र नहीं थी। इस प्रकार हर लड़की में कुछ-न-कुछ कमी दिखाई दी और मेरा यह मत मन-ही-मन और भी पक्का होता गया कि जब तक अपनी पसंद पर पूर्णतः खरी उतरने वाली लड़की न मिले तब तक विवाह का विचार करना भी पागलपन की निशानी है।

इन सब लड़कियों का अस्वीकार करने में मुझे एक बात से बड़ी सहायता मिली। पांचवें विवाह के लिए जब मैंने अपने संबंधियों का अधिक आग्रह देखा, तो मुझे एक ऐसी युक्ति सूझी जिससे उन्हें भी निराशा न हो और मेरी इच्छा भी पूर्ण हो जाए। मैंने विवाह के लिए दो शर्तें रखीं। एक तो यह कि मेरी होने

वाली पत्नी अद्वितीय सुंदरी होनी चाहिए, और दूसरे, उसकी उम्र कम-से-कम सोलह वर्ष की होनी चाहिए। इन शर्तों के पीछे विचारधारा यह थी कि हमारे समाज में इस उम्र तक कोई लड़की बिन ब्याही रहती ही नहीं। इसलिए अव्वल तो उपरोक्त उम्र की लड़की मिलेगी ही नहीं, और मिल भी गई, तो उसके अप्रतिम सुंदरी होने की कोई संभावना नहीं। मैं मन-ही-मन निश्चित था कि न ऐसी लड़की मिलेगी और न मेरा विवाह होगा। और इस प्रकार मेरी प्रतिज्ञा अनायास ही अक्षुण्य रह सकेगी।

परंतु मेरा दुर्भाग्य यहां भी आड़ा आया। दो-तीन दिन तक लड़कियां देखने का वृथा परिश्रम होने के बाद एक रोज एक नया प्रस्ताव आया। लड़की बिलकुल मेरी अपेक्षा के अनुरूप थी। अल्हड़पन को पार करके मुग्धता की सीमा में कदम रखने वाली उम्र; हिम की शुभ्रता और स्वर्ण की कांति के बीच का रंग; मझोला कद और सुडौल देहयष्टि। उसके एक-एक अंग के सौंदर्य का अलग-अलग वर्णन करना मेरी सामर्थ्य के बाहर की बात है। क्षण भर के लिए तो मुझे चौथी स्त्री की मृत्यु के लिए मन-ही-मन आनंद होने लगा। इसका मतलब यह नहीं कि मैं कृतघ्न या भावनाशून्य था। परंतु मेरे जैसे अनुरक्त और उदार पति के मन में भी क्षण भर के लिए स्वार्थभावना उत्पन्न करने की शक्ति उस लड़की के रूप लावण्य में थी, इसमें कोई संदेह नहीं। लड़की के पिता ने जैसे ही उसकी जन्मपत्री लाकर दी कि तुरंत मैं हमारे उपाध्यायजी को साथ लेकर उनके घर पहुंच गया।

वर-वधू से पहले उनके उच्च-नीच ग्रहों के बीच पटरी बैठनी चाहिए ऐसी मान्यता हमारे देश में सर्वत्र पायी जाती है। परंतु लड़के-लड़की की जन्मपत्रियां एक-दूसरे से पूर्णतः मिलती हों, ऐसा शायद ही कभी देखा जाता है। अकसर कोई न कोई कमी रह ही जाती है। कभी-कभी तो दोनों टीपनाओं के ग्रह एक-दूसरे के इतने विरुद्ध होते हैं कि वे एक-दूसरे पर आक्रमण करके कहीं भयानक युद्ध न छेड़ बैठें, इस आशंका से उन्हें एक साथ रखने में भी डर लगता है। शायद ऐसे ही किसी रणक्रंदन में पिटाई होने के कारण मंगल का मुंह लाल और शनि का बदन नीला पड़ गया है। मेरा ज्योतिष विद्या पर अटल विश्वास होने के कारण मैं दोनों पत्रिकाओं के ग्रहों का बारीकी से अध्ययन करने लगा। परंतु बहुत प्रयत्न करने पर भी इस काम में मन नहीं लगा। चंद्रबल का विचार करते ही उस बाला का मुखचंद्र आंखों के सामने आ जाता और शनि की वक्रगति का

विचार करते समय उसकी गजगति नज़र के सामने तैर जाती। मंगल उसके माथे की लाल बिंदिया की याद दिलाता तो गुरु उसके गुरु नितंबों में मन को उलझाता। आखिर कुछ खास-खास बातों का विचार करके मैंने जन्मपत्री लपेट कर रख दी।

पत्रिका-अवलोकन का निष्कर्ष यह निकला कि मेरे ग्रह वधू के अनुकूल नहीं थे। मेरे साथ विवाह होने पर उसका मृत्युयोग बैठता था। परंतु मैंने इस बात को अधिक महत्व नहीं दिया। मेरे ग्रहों की प्रतिकूलता के कारण मान लो वह मर भी गई तो इससे उसका कल्याण ही होगा। सधवावस्था में मृत्यु का सौभाग्य प्राप्त होने के कारण वह सीधी स्वर्ग में जाएगी। इसके अलावा उसकी मृत्यु के बाद फिर से विवाह न करने का दृढ़ निश्चय मैं पहले ही कर चुका था। पुरुष की इतनी निष्ठा साधारण स्त्री के भाग्य में नहीं होती। अतः मेरे साथ विवाह करने में उसका फायदा-ही-फायदा था। इस प्रकार प्रमुख बाधा का तो निराकरण हो गया। पर एक छोटी-सी अड़चन यह भी थी कि विवाह का मुहूर्त भी अनुकूल नहीं था। परंतु इसे कोई बड़ी दिक्कत नहीं कहा जा सकता। इस दोष के निवारणार्थ में जप करवाने वाला था। दो-चार बामनों को पकड़ कर जप के लिए बैठा दिया कि फिर टेढ़े-से-टेढ़े ग्रह की भला मजाल क्या है कि आपके मार्ग में बाधा डाले। ब्राह्मणों को तृप्त करते ही सारे क्रूर ग्रह अपने-आप तृप्त हो जाते हैं। इसके अलावा, हमारे उपाध्यायजी के हकलाने के कारण मुझे विश्वास था कि एक बार का जाप चार-पांच जपों का श्रेय दे जाएगा।

मेरी जन्मपत्री देखकर वधूपक्ष के लोग कहीं बिदक न जाएं इस आशंका से मुझे उसमें कई महत्वपूर्ण रद्दोबदल करने पड़े। ऐसा करके मैंने कोई अपराध नहीं किया। हमारे अपने मकान में चाहे जैसा परिवर्तन करने का जिस प्रकार हमें अधिकार होता है उसी प्रकार अपनी कुंडली में आवश्यक परिवर्तन करने का भी हर आदमी को जन्मजात अधिकार होना चाहिए। इसलिए सूर्य की स्थापना मैंने बिना किसी संकोच के सुशीतल कुंभ राशि में कर दी ताकि वह किसी को दाहक न हो। शशांक पर अंकित शश की चीख-पुकार की परवाह किए बिना उसे सिंह राशि में धकेल दिया। बुध की वृषभ से और मंगल की मेष से टक्कर करवा दी। इस प्रकार मार-कूटकर जबरदस्ती उनका विषम-विवाह करवाने के कारण ये सारे ग्रह यदि मुझ पर कुपित हो उठते तो भी चिंता की

कोई बात नहीं थी। ब्राह्मणों की मध्यस्थी और जपयज्ञादि की सहायता से उन्हें सहज ही शांत किया जा सकता था। इसलिए उनकी शिकायत की ओर मैंने विशेष ध्यान नहीं दिया।

इस प्रकार की निरापद और सुसाध्य जन्मपत्री तैयार करके और भोजनादि से निवृत्त होकर मैंने कपड़े बदलने की तैयारी की। पगड़ी लेने के लिए अलगनी पर हाथ डालते ही मेरे बड़े लड़के के नये कपड़ों पर नजर पड़ी। देखा तो अंग्रेजी ढंग की कमीज और गोल टोपी। शिव-शिव··· । कितना अधःपतन हो गया है इस नयी पीढ़ी का ! इस यवन पोशाक को देखकर मेरे क्षोभ की सीमा न रही। तनियों वाला अंगरखा और चक्करदार पगड़ी की पोशाक निश्चित करने वाले हमारे पूर्वज कोई मूर्ख नहीं थे। उस पोशाक में दबदबा था, प्रतिष्ठा थी, दूर से देखते ही वह आंखों में समाती थी। आजकल के इस पहनावे में तो निरे छिछोरपन और दिखावे के सिवा कुछ भी नहीं। क्रोध के आवेश में मैं उन कपड़ों को बाहर सड़क पर फेंकने ही वाला था कि विचार आया कि इतने कीमती कपड़ों को यों ही फेंक देने से क्या फायदा ? इससे तो उन्हें पहन कर फाड़ना ही अच्छा रहेगा। परंतु अब यह लड़के के हाथों में नहीं पड़ने चाहिए। मैं ही पहनकर खतम करूंगा। इस विचार से वे कपड़े आखिर मैंने ही पहने और नये आलसी नौकर ने बड़े शीशे को ठीक से साफ किया है या नहीं इस हेतु से उसका बारीकी से निरीक्षण करके उपाध्यायजी के साथ मैं लड़की वालों के घर पहुंचा।

वहां पहुंचते ही पहले तो लड़की के पिता ने हमारी जन्मपत्रियों का मिलान करके देखा। यह रास्ता तो पहले से ही साफ था। मैं छत्तीस गुणों का मेल बैठाकर ही टीपना ले गया था। उन्होंने संतोष व्यक्त किया। फिर लड़की बुलाई गई। मैंने पहला प्रश्न यह पूछा कि वह पढ़ना-लिखना जानती है या नहीं। मालूम हुआ कि जानती है और पांचवीं कक्षा तक पढ़ी हुई है। यह तो प्रथम ग्रासे मक्षिकापातः। लड़कियों को शिक्षा देने से ही उनका पतन होता है और वे वाममार्ग में प्रवृत्त हो कर प्रेमियों को प्रेमपत्र लिखने लगती हैं ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास था। फिर भी मैंने मन को समझाया कि अभी कोई बड़ा अनर्थ नहीं हुआ होगा। चार-पांच दर्जे की ही तो बात है। जितना समय उसने इतना ज्ञान प्राप्त करने में लगाया है, उतना ही उसे भूलने के लिए दिया जाए, तो कुछ ही समय बाद वह फिर से विशुद्ध आर्य नारी हो उठेगी। इसके लिए मैं कोई शिक्षक रखने के लिए भी तैयार था। एक

साल में एक कक्षा का ज्ञान भी भुलवाया गया, तो पांच-चार वर्षों में सब ठीक हो जाएगा और वह हमारी पौराणिक सतीसाध्वियों की श्रेणी में बैठने के काबिल हो जाएगी ।

हमारी प्राचीन प्रथाओं ने घर की चहारदीवारी के भीतर ही स्त्रीशिक्षा की कैसी सुंदर व्यवस्था कर रखी है । स्कूलों में पढ़ाया जाने वाला समस्त ज्ञान उन्हें घर बैठे ही प्राप्त हो जाता है । रसोईघर, कोठार, शयनगृह और प्रसूति की कोठरी —घर का यह सीमित दायरा ही स्त्रियों के लिए सच्चा भूगोल है । अपने अभावों की शिकायत और पड़ौसियों की निंदा ही उनके लिए सच्चा इतिहास है । चौका-चूल्हा उनका विज्ञान है, रसोई रसायनशास्त्र है और मेंहदी-बिंदी लगाना उनकी चित्रकला है । झाड़ना बुहारना, छानना-फटकना, चक्की पीसना और बरतन मांजना आदि घरेलू काम उनके लिए आवश्यक व्यायाम जुटा देते हैं और सास-ननद से बहस कर-करके उनकी तर्कशक्ति सदा तीखी रहती है ।

सनातन धर्म का पक्ष लेकर किए गए मेरे इन तर्कों से लड़की वालों का विशेष समाधान हुआ हो, ऐसा मालूम नहीं दिया । वे लोग मेरे आधुनिक फैशन के कपड़ों की ओर भी घूर-घूर कर देख रहे थे । अंत में उनमें से एक ने लड़के को देखने की इच्छा व्यक्त की । अब कहीं बात मेरी समझ में आयी । परंतु बात को इस हद तक आगे बढ़ा कर ऐन वक्त पर पीछे हट जाना मेरा स्वभावधर्म नहीं । अतः रंचमात्र भी संकोच प्रदर्शित किये बिना, सीना तान कर मैंने कहा कि लड़का मैं ही हूं । यह सुनते ही सब लोग तालियां बजा-बजा कर हंसने लगे । मेरी समझ में नहीं आया कि इसमें उपहास की क्या बात थी । खैर, बदतमीजी का यह दौर समाप्त होते ही लड़की के पिता ने स्पष्ट कह दिया कि उनकी यह संबंध करने की इच्छा नहीं है ।

मैंने उन्हें समझाने का बहुत प्रयत्न किया । मैंने बार-बार कहा कि "इस प्रकार जल्दबाजी से बनती हुई बात को बिगाड़िये मत । दूर की सोच कर निर्णय कीजिये । मैं यह विवाह केवल मेरी स्वर्गवासिनी स्त्री का मन रखने के लिए कर रहा हूं । अपनी पत्नियों के प्रति मेरे मन में कितना प्रगाढ़ स्नेहभाव है, यह इससे प्रमाणित हो जाता है । जैसा प्रेम मैंने उन सबसे किया वैसा ही इससे भी करूंगा । दुर्भाग्य से इसके सामने भी यदि वही प्रसंग आया जो अब तक मेरी चार पत्नियों पर आ चुका है, तो जिस प्रकार उनका मन रखने के लिए मैं एक के बाद एक विवाह

करता गया, उसी प्रकार इसकी इच्छा पूरी करने के लिए, इसके बाद विवाह करने की कतई इच्छा न होने पर भी मैं फिर एक बार सेहरा बांधने को तैयार हो जाऊंगा। मेरी ओर से इसे रंचमात्र भी कष्ट नहीं पहुंचेगा। हमारे पूर्वज काम-वासना की तृप्ति के लिए नहीं बल्कि संतति के लिए विवाह करते थे। मैं उनसे भी एक कदम आगे बढ़ने को तैयार हूं। इस विवाह के मूल में मेरी पुत्रोत्पत्ति की इच्छा भी नहीं। भगवान की दया से मेरे बड़ी उम्र के कई लड़के हैं। यह तो विशुद्ध प्रीतिविवाह होगा। इसकी जड़ में वासनातृप्ति, पुत्रेच्छा आदि कोई क्षुद्र मनोवृत्ति न होकर विशुद्ध प्रेम ही इसका एकमात्र कारण होगा। दरअसल इस उम्र में मैंने जो विवाह करने की सहमति दी है, वह देह का देह से मिलन करने के लिए नहीं, अपितु मन का मन से और आत्मा का आत्मा से संगम करने के लिए है। एक बात और है। हमारे विद्वान शास्त्रकार हमेशा यही कहते रहे हैं कि कुटुंबीं-संबंधियों के बच्चों का पालन-पोषण करते-करते विधवाओं की वासनाएं नष्ट हो जाती हैं और वे कष्ट-परिश्रम में ही अपने जीवन की सार्थकता मानने लगती हैं। इस दृष्टि से भी आपकी लड़की बहुत सुखी रहेगी और उसे आत्मोन्नति का पूरा मौका मिलेगा। भगवान की कृपा से और पूर्वभार्याओं के सहयोग से मेरा कुनबा इतना विस्तृत हो चुका है कि नातीपोतों की तो गिनती ही नहीं। उनकी देखभाल करते-करते आपकी कन्या की सारी तामसिक वृत्तियां नष्ट होकर विशुद्ध सात्विकता मात्र बाकी रह जाएगी। हमारे परम पवित्र धर्म ने बाला-जरठ विवाह के मार्ग में कोई बाधा नहीं डाली। एक के बाद एक चार विवाह करके मैंने तो इस मामले में मिसाल कायम की है। नगर के लोग इसके लिए मेरा बहुत आदर करते हैं। सारांश यह कि इस विवाह को हमारे धर्म, रूढ़ि और लोकाचार, तीनों की मान्यता प्राप्त होने के कारण इसमें समर्थन देने से आप लोग पुण्य के भागी होंगे; परंतु विरोध किया तो घोर पाप के भागी होंगे।"

इस प्रकार के उपदेशपरक संभाषण का उन चिकने घड़ों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे अपने निर्णय से चिपके रहे। आखिर निराश होकर मैं घर लौट आया। दूसरे दिन से फिर लड़कियां देखने का नित्यक्रम शुरू किया। परंतु जहां जायें, वहां वही बात। कहीं-कहीं तो खुद लड़की ने मेरा उपहास करना शुरू किया। यह सब आधुनिक शिक्षा का दुष्परिणाम था और पिछले कुछ वर्षों में सुधारकों ने हमारे समाज को किस हीन अवस्था में पहुंचा दिया है, इसका प्रमाण था।

बात इस हद तक बढ़ जाने पर मैं निरुत्साह हो गया। विवाह जैसे धार्मिक, सात्विक और जन्मजन्मांतर के संबंध की महत्ता और पवित्रता समझने की भी जिनमें अक्ल नहीं, ऐसी लड़कियों और उनके अभिभावकों से फिर से बात भी न करने का मैंने निश्चय किया। फिर से विवाह न करने की मेरी भीष्मप्रतिज्ञा जो आखिर तक अक्षुण्ण रह सकी, वह केवल इस निश्चय के बल पर !

तुकाराम महाराज ने ठीक ही कहा है कि संकल्प का बल ही उसकी सफलता का कारण होता है।

9. विवाह समारोह

पिछले परिच्छेद में मेरे अपने विवाह के संबंध में चर्चा हो चुकी है। उसके बाद मेरे बड़े लड़के के विवाह का योग आया। प्रस्तुत लेख में उसका वर्णन किया जा रहा है।

लड़का देखने के लिए पूना से समधी साहब हमारे यहां पधारे। उन्होंने लड़के को प्रत्यक्ष देखकर और अनेक प्रकार के प्रश्नों द्वारा उसकी परीक्षा करके उसे पसंद किया। समधी द्वारा लड़के की ऐसी कड़ी परीक्षा की जाने के कारण पहले तो मुझे बहुत बुरा लगा। परंतु उन्होंने जब इस सावधानी का कारण बताते हुए हाल ही में हुए अपने अनुभव का वर्णन किया तब क्रोध के बजाय मुझे हंसी आने लगी। समधीजी का अनुभव उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार था :—

"हमारी लड़की हजारों में एक, सुंदर और गुणी होने के कारण उसके लिए घर बैठे उत्तम वर मिल जाएगा ऐसा हमें विश्वास था। इसलिए आरंभ में उसके लिए लड़का ढूंढने की मैंने कोई भागदौड़ नहीं की। धीरे-धीरे उसके लिए कई प्रस्ताव घर बैठे आने लगे। परंतु कहीं कुछ, तो कहीं कुछ त्रुटि अवश्य दिखाई देती और रिश्ता कहीं पक्का नहीं हुआ। अंत में बंबई के एक धनी सज्जन हमारे यहां पधारे और लड़की को देखकर उसे पसंद किया। वर की वे बहुत तारीफ करने लगे। कहने लगे कि दो-दो सौ लोग तो सुबह-शाम उनके यहां भोजन करते हैं। मेरे भी मुंह में पानी भर आया। इतने बड़े घराने के लड़के को देखने की इच्छा व्यक्त करने से उन्हें कहीं बुरा न लग जाए इस डर से हमने वह बात ही नहीं छेड़ी। इतना ही नहीं जन्मपत्री आदि मिलाने को भी विशेष महत्व नहीं दिया और तुरंत अपनी स्वीकृति दे दी। शीघ्र ही मुहूर्त भी पक्का हो गया। विवाह बंबई में होना तय हुआ। विवाह से कुछ दिन पहले हम इष्टमित्रों और संबंधियों के

साथ बंबई पहुंचे। एक बहुत बड़ी इमारत में हमारे ठहरने का प्रबंध किया गया। पूना में हमसे मिलने वाले सज्जन लड़के के पिता नहीं बल्कि कोई पेशेवर मध्यस्त थे, यह हमें यहां आने पर ही मालूम हुआ। हमारे एक संबंधी को हमने लड़के से मिलने के लिए भेजा।···और जानते हो कि क्या हुआ?···वह निकला एक ढाबे का मालिक! मध्यस्थ की बात वैसे झूठी नहीं थी। उसके यहां वाकई सुबह-शाम दो-दो सौ आदमी भोजन करते थे। हमारे तो पांवों तले की जमीन खिसक गयी और पहली गाड़ी पकड़ कर हम पूना वापस आ गए। उसके बाद जब कभी कोई प्रस्ताव आता है, मैं खुद जाकर सब बातें प्रत्यक्ष देखना पसंद करता हूं। मसल मशहूर है, दूध का जला छाछ को भी फूंक-फूंक कर पीता है।···"

समधीजी की रामकहानी से हमारा बहुत मनोरंजन हुआ। इसके बाद वर-वधू की जन्मपत्रियां देखी गयीं। वे एक-दूसरे से इस कदर मिलती हुई मालूम दीं कि लड़के-लड़की के बजाय टीपनों का ही विवाह कर दिया होता तो उनका विवाहित जीवन बड़े आनंद से बीतता। आखिर में निकली दहेज की बात। हमारे पूर्वजों द्वारा आरंभ की गई अनेक परंपराओं में दहेज सबसे अधिक उपयुक्त प्रथा है। सच पूछा जाए, तो सुधारकों द्वारा आरंभ किये गये अनेक सुधारों में से कुछ को मैं पसंद करता हूं। मन से अत्यधिक उदार होने के कारण विरोधियों की उपयुक्त बातों को मान लेने में मुझे कोई संकोच नहीं होता। उदाहरणार्थ, शादी-ब्याह में फजूलखर्ची न करने की बात मुझे पूर्णतः मंजूर है। इस मामले में मेरा बर्ताव भी सदा मेरी वाणी के अनुरूप होता है। सिर्फ दहेज का इसमें अपवाद है, क्योंकि मैं उसे खर्च मानता ही नहीं। परंतु इस संबंध में भी मेरे मन में कोई विशेष जिद की भावना नहीं। आज लड़के का विवाह होते समय मैं दहेज का प्रबल समर्थक हूं। परंतु कुछ वर्ष बाद जब उसके बाद की लड़की का ब्याह होगा, तब हो सकता है कि सुधारकों के समझाने के कारण मेरे विचार बदल जाएं। इतना ही नहीं, उसकी पीठ का लड़का जब विवाह योग्य होगा, तब तक वे फिर बदल जाएं इसकी भी पूरी संभावना है। विचारक और उदारमतवादी मनुष्य कभी अपनी बात से चिपक कर नहीं बैठते। परिवर्तन संसार का नियम है। बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार विचारों को भी बदलते रहना समझदारी और परिपक्वता का लक्षण है। इसलिए हमारे इन वैचारिक परिवर्तनों से किसी को अचरज होना तो नहीं चाहिए।

दहेज के प्रति मेरी इतनी आसक्ति होने का एक और कारण भी था। हाल ही में मैंने अपनी महारानी विक्टोरिया का जीवन-चरित्र पढ़ा था। उनके अलौकिक गुणों का परिचय होने के बाद उनके प्रति मेरी भक्ति इतनी बढ़ गयी है कि जहां से भी हो, मैं उनकी प्रतिमाओं का संग्रह करके उनकी पूजा करने लगा हूं। हमारे देश में उनकी छवि रौप्यमुद्राओं पर अंकित रहती है। अतः आज-कल मैं उन्हीं का संग्रह करने लगा हूं। यह लगाव यहां तक बढ़ चुका है कि गांव की जमींदारी से जब कोई आसामी रकम लेकर आता है तब पहले तो मैं घंटों तक रुपयों पर छपी हुई उस मनोहारी मूर्ति का निरीक्षण करता रहता हूं और फिर उन्हें तिजोरी को सुरक्षा के लिए हवाले कर देता हूं। कुछ दिन हुए महारानी साहिबा तो हमें छोड़कर चली गईं। अब हमारे जैसे उनके परम भक्तों का पवित्र कर्तव्य हो जाता है कि उनकी मुद्राओं का और भी अधिक भक्तिभाव से पूजन करते रहें। उनके वियोग को तो हमने किसी न किसी प्रकार सह लिया। अब उनके रौप्यप्रतीकों का वियोग न सहना पड़े ऐसी भगवान से प्रार्थना है।

किस्सा कोताह, काफी सौदेबाजी के बाद समधीजी से पांच हजार रुपया नकद दहेज तय हुआ। रुपये मिलते ही ब्याह-शादी में अधिक खर्च न करने के सिद्धांत पर मैंने तुरंत अमल करना शुरू कर दिया। चार हजार रुपये तो उसी रोज सरकारी बैंक में जमा करवा दिये। बाकी के एक हजार में से आठ सौ के गहने-कपड़े और दो सौ में बाकी सब निरर्थक खर्च करना तय किया। इष्टमित्रों और संबंधियों को अधिक संख्या में निमंत्रित न करने का निश्चय किया। जिन्हें निमंत्रित करना नितांत आवश्यक था, उन्हें भी निमंत्रण-पत्रिका ऐन समय पर मिले इस तरह भेजने की तरकीब सोची। इससे सबको बड़ी सुविधा रहती है। हमने आग्रहपूर्वक बुलावा दिया हो, तो सामने वालों को भी ना कहना मुश्किल हो जाता है और उन्हें अपने सौ काम छोड़कर और अपना नुक्सान करके आना पड़ता है। इस प्रकार दूसरों को तकलीफ देने की अपेक्षा ऐसी व्यवस्था करना कहीं अच्छा है कि कुंकुम्-मंडित निमंत्रण-पत्रिका ठीक मुहूर्त के दिन ही उनके हाथों में पड़े। इससे शिष्टाचार भी निभ जाता है और परेशानी भी बच जाती है।

निमंत्रण-पत्रिका में शब्दाडंबर फैलाने में अलबत्ता हमने कोई कसर नहीं छोड़ी। 'सहकुटुंब सपरिवार पधार कर समारोह को सफल करें।' 'आपके

आगमन से ही शोभा में अभिवृद्धि होगी।' 'सुदामा की झोंपड़ी में कृष्ण अवश्य पधारें।' इत्यादि वाक्यों की ऐसी भरमार मचा दी कि पढ़ने वाला उनके बोझ के नीचे ही दब जाए। लोगों को सकुटुंब-सपरिवार ही नहीं, बल्कि इष्टमित्रों और आश्रित-सेवकों के साथ पधारने की विनती भी की गयी। सिर्फ निमंत्रण-पत्र डाक में ऐसी योजना से डाले कि विवाह के दो दिन बाद मिलें। अब कोई माई का लाल एकादशी को पत्र मिलने पर भी, दो-चार सौ मील की यात्रा करके अष्टमी के मुहूर्त पर आ धमकने का चमत्कार कर दिखाता, तो हमें पत्रिका में लिखे अनुसार सचमुच ही बहुत आनंद होता और उसकी खातिरदारी में हम कोई कसर न उठा छोड़ते।

इतनी पूर्व तैयारी के बाद हम एक रोज पूना जा पहुंचे। दूसरे दिन अक्षत-निमंत्रण की बारात[1] निकाली गई। हमारे पक्ष के लोग यद्यपि कम थे, पर वधू पक्ष के लोग अधिक होने के कारण बारात में शोभा की कमी नहीं रही। दूसरी बात यह हुई कि उसी समय हमारे साथ-साथ सड़क पर से और भी दो-तीन बारातें गुजर रही थीं। 'वसुधैव कुटुंबकम्' धारणा से हमने कुछ देर के लिए उन्हें भी अपनी ही समझ लिया। अक्षत-निमंत्रण कसबे के गणेशजी को दिया गया। ऐन समय पर उपस्थित रहने में उनसे कोई गलती न हो जाए इसलिए मुहूर्त की घड़ी, पल, विपल तक की याद उन्हें बारबार जता-जता कर दी गई। वापस लौटते समय आखिर गड़बड़ी हो ही गई। मेहमानों में से दो पुरुष और तीन स्त्रियां गलती से किसी दूसरी बारात में शामिल होकर गलत जनवासे में पहुंच गये। बाद में पता पूछते हुए वे बड़ी मुश्किल से वापस आये।

इसके बाद रात को सीमंत-पूजन[2] का समारोह हुआ। इस संबंध में मेरे मन में आरंभ से ही कुछ गलतफहमी थी। मैं इसका अर्थ 'श्रीमंत-पूजन' किया करता था। इस समारंभ में मैं जब कभी उपस्थित रहता, श्रीमंतों (धनवानों) का बहुत

---

[1]महाराष्ट्र में वर की बारात निकालने से पहले यह बारात निकालने का रिवाज है। इसमें वर और वधू, दोनों पक्ष के लोग सम्मिलित होते हैं और सबसे पहले विघ्नहर्ता देवता (पूनामें कसबा पेठ के गणेशजी) को अक्षत देकर निमंत्रित किया जाता है।—अनु.

[2]यह उत्तर भारत के 'खंत' से मिलती-जुलती रस्म है। वधू-पक्ष के लोग वर का सम्मान करते हैं और अपनी हैसियत के अनुसार उसे रुपया, नारियल, वस्त्र, अंगूठी आदि भेंट देते हैं।—अनु.

अधिक आदर-सत्कार करता। अब की वार हमारे उपाध्यायजी ने मुझे इसका सही अर्थ समझाया। तब से, पुरानी कसर निकालने के लिए मैं श्रीमंतों के प्रति अत्यंत तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगा हूं।

दूसरे दिन कुल के देवी-देवताओं की स्थापना का समारोह हुआ। मेरी पत्नी की मृत्यु हो चुकी थी। इसलिए उसके स्थान पर एक सुपारी की नियुक्ति की गई। उसकी स्थापना होते ही कुछ ऐसा चमत्कार हुआ कि मेरे मन में उसके प्रति सचमुच ही प्रीति उत्पन्न होने लगी। इर्दगिर्द के लोगों की नजर बचा कर मैं भावपूर्ण और सलज्ज नेत्रों से उसका निरीक्षण करने लगा। पहले एक बार आक के पौधे के साथ मेरा विवाह हो चुका था। इस पर मैंने जैसा अहैतुक प्रेम किया था, कुछ वैसा ही आकर्षण मुझे इस सुपारी के प्रति भी होने लगा।

इधर एक तरफ पेट में धीरे-धीरे भूख का प्रादुर्भाव होने लगा था तो दूसरी ओर नवग्रह, षोडष-मातृका इत्यादि तेतीस करोड़ देवी-देवताओं पर पुष्पाक्षत चढ़ाते-चढ़ाते हाथों के और हर संकल्प के साथ 'मह्यम्', 'मम' इत्यादि शब्दों की रटंत करते-करते मुंह के जोड़ ढीले होने की नौबत आ रही थी। इतने में अग्निनारायण को घृतमिश्रित आहुतियां अर्पण करने का दौर चला। नैवेद्य और हविष्य के विभिन्न पदार्थों को देख-देख कर उन्हें उदरस्थ कर लेने का अधार्मिक और अनाचारी विचार रह-रह कर मन में उठने लगा। आखिर हर अनिष्ट की तरह इस लंबी पूजाविधि का भी अंत हुआ और हम मिठाई-नमकीन पर हाथ साफ करने के लिए भीतर के कमरे में चले गए।

देव-स्थापना होते ही मैंने घर के लोगों पर हजामत न बनवाने का कठोर निर्बंध लाद दिया था। इस निर्णय के पीछे धार्मिक विधि के पालन के उपरांत सुधारकों के मत को मान कर कुछ किफायत करने का भी हेतु था। परंतु इस स्पष्ट आदेश की अवहेलना करके घर की किसी विधवा चाची-मामी ने सिर मुंडवाने की धृष्टता की। यह सुनकर मेरी तलवों की आग मस्तक तक पहुंच गयी और विधवा केश-कर्तन की प्रथा को मैंने जी भर कर गालियां दीं। क्रोध के आवेश में धर्म के इस पवित्र आचार के विरुद्ध मतप्रदर्शन करने के लिए बाद में मुझे बहुत पश्चात्ताप हुआ। शाम को तेल चढ़ाना इत्यादि रस्में पूरी होकर गोधूलि में विवाह भी संपन्न हो गया।

इस शुभ प्रसंग पर नृत्य करने के लिए वारांगनाएं उपस्थित नहीं थीं यह

अलग से बताने की जरूरत नहीं। सुधारकों के दुराग्रह के कारण हमारी इस परम प्राचीन और रसपूर्ण प्रथा से हम वंचित रह गये। एक विचार यह भी मन में आया कि मंगलाष्टक के श्लोकों का उच्चारण करते समय पंडित लोग अधिक तानपलटे लेने का प्रयत्न न करें और बेसुरेपन पर कुछ नियंत्रण रखें तो शौकीनों को घुंघरुओं की छमाछम का अभाव उतना खलेगा नहीं।

इसके बाद के दिन से समधियाने में तरह-तरह की रस्में अदा होने लगीं। इन सबमें स्त्रियों का प्राधान्य रहा। सजीधजी स्त्रियां बड़ी ठसक के साथ इधर से उधर और उधर से इधर आने-जाने लगीं। भुसावल, इटारसी जैसे बड़े स्टेशनों पर जिस प्रकार रेल के कई इंजन भाप छोड़ते हुए गश्त लगाते रहते हैं कुछ उसी प्रकार समधियाने की इन पुरंध्रियों के झुंड के झुंड मटरगश्ती करने लगे। उनकी इस व्यस्तता का कारण पुरुषों में से किसी की भी समझ में आना मुश्किल था। जेठ की भयानक गर्मी में, भरी दोपहर का सूरज सिर पर तपता रहने पर भी ये ब्राह्मण कुलोत्पन्न वीरांगनाएं नंगे पांवों कोलतार की सड़कें नाप रही थीं और सूरज का मानो उपहास करने के लिए दोशाले ओढ़-ओढ़ कर अपनी संपन्नता का प्रदर्शन कर रहीं थीं।

इन दिनों समधियाने से रोज सुबह हमारे घर की स्त्रियों के लिए परोसा आता था। उसमें मिठाई, नमकीन, पूरीकचौरी आदि सामग्रियां तो रहती ही थीं पर साथ ही डंठलों से बनी सब्जियां, बासी साग-रायते इत्यादि भैंसों के खाने योग्य वस्तुओं की भरमार भी रहती थी। कन्यापक्ष के लोग इन परोसों को अपनी सांकेतिक भाषा में तिरस्कार से 'सानी' क्यों कहते हैं इस बात का इससे स्पष्टीकरण हो गया। इस शब्दप्रयोग के पीछे एक और भी औचित्य छिपा हुआ है। विवाह समारोह में वर की माता से ज्यादा महत्व किसी का नहीं होता। वही इस पूरे समारंभ की महारानी होती है। संस्कृत में महारानी और भैंस, दोनों के लिए एक ही शब्द, 'महिषी' का प्रयोग होता है। अतः हमारा अनुमान है कि समधिन के लिए भेजे जाने वाले परोसे को 'सानी' कहने की परंपरा इस द्वियर्थक शब्द की गड़बड़ी के कारण ही चली होगी। इसके अलावा यह भी सबके अनुभव की बात है कि परोसा आने में कभी नागा या देर हो जाए, तो वरमाता समधिनजी सचमुच ही मरकनी भैंस की तरह तैश में आकर, जो सामने आ जाए उसी को सींग मारने लगती हैं।

दूल्हा जब पहली बार ससुराल में भोजन करने जाता है, तब किसी बात की फरमाइश को लेकर उसके रूठने की प्रथा हमारे देश के सभी समाजों मेंपायी जाती है। यह हमारे पूर्वजों की दूरदृष्टि की द्योतक है। इससे हमारे नौजवानों को कुछ सांपत्तिक लाभ होने के साथ-साथ उनमें अपेक्षाभंग जनित क्रोध जैसे घातक मनोविकार को काबू में रखने की आदत जन्म लेती है। जनेऊ इत्यादि अवसरों पर भी रूठने का दिखावा करने की जो प्रथा प्रचलित है, उसका रहस्य भी यही है। सौभाग्य से किसी नौजवान के सामने हमारी तरह चार-पांच बार विवाह करने का प्रसंग आए, तब तो चाहे जब रूठने की और उतनी ही बार आसानी से खुश हो जाने की कला उसके बांयें हाथ का खेल हो उठेगी। इस आर्य परंपरा के अनुसार मैंने जब अपने लड़के को रूठने का दिखावा करने की सूचना दी, तब वह मूर्ख मेरे ऊपर सचमुच ही नाराज हो उठा। परंतु इससे उसकी मुखमुद्रा पर जो तामसी भाव उत्पन्न हुए उनका हमारे समधीजी पर तत्काल प्रभाव पड़ा और जामाता के न मांगने पर भी उन्होंने एक कीमती अंगूठी जबरदस्ती उसकी उंगली में पहना दी।

भोजन के समय पुरुषों की पंगत में दो सनातन नियमों का पालन बड़ी तत्परता से किया जाता है। भोजन करने वाले देर से आने में अपना गौरव मानते हैं और परोसने वाले आग्रह करके ठूंस-ठूंस कर खिलाने में। भोजन के लिए देर से बैठने पर केले के पत्ते पर परोसा हुआ भात ठंडा होकर कंकड़ सा हो जाता है। इस बात की मेहमान लोग अकसर शिकायत भी करते हैं। परंतु इन बुभुक्षितों को यह मालूम नहीं होता कि कंकड़ियों के उदर में प्रच्छन्न अग्नि का निवास होने के कारण वे पाचन क्रिया में सहायक होती हैं। लड़की वाले बारातियों से भोजन की प्रार्थना करते समय चेहरे पर एक प्रकार की नपीतुली और कृत्रिम मुस्कराहट धारण किये रहते हैं। हाथ जोड़ कर दांत निपोरते रहने की प्रथा भी बड़ी पुरानी है। लड़कियों के विवाह के समय मंडप के खंभे को समधी मानकर मैं इस अभिनय का घंटों तक अभ्यास कर चुका हूं। इसलिए अब यह कला मुझे साध्य हो गयी है और उसका स्वांग मैं अनायास ही कर सकता हूं।

जिस प्रकार रेलगाड़ी—फिर वह सवारी गाड़ी हो या मालगाड़ी—इंजन और ब्रेक के बिना एक कदम भी नहीं चल सकती उसी प्रकार विवाह की पंगतों में—फिर वे पुरुषों की हों या स्त्रियों की—वर-वधू के बिना काम नहीं चलता। तेल

चढ़ने के दिन से लगा कर विदा तक उन बेचारों को हर रस्म में भाग लेना पड़ता है और आखिर तक उनकी बड़ी दुर्दशा हो जाती है। पेट में अजीर्ण होने पर भी दिन में कई बार—हर पंगत के साथ—गरिष्ठ भोजन करना पड़ता है। नाटकों में जिस प्रकार अन्य आलतू-फालतू पार्ट करने वालों की अपेक्षा नायक-नायिका पर ही काम का बोझ अधिक पड़ता है उसी प्रकार विवाह में भी तमाशबीनों और बारातियों की अपेक्षा वरवधू को ही अधिक परिश्रम करना पड़ता है। उपस्थितों—विशेष तौर पर छोटी उम्र की लड़कियों और बड़ी उम्र के रसिक वृद्धों—के मनोरंजन के लिए उन्हें हर पंगत में एक-दूसरे को दो-चार कौर खिलाने पड़ते हैं और पंगत के अंत में एक-दूसरे के दांतों में दबाया हुआ पान का बीड़ा अपने दांतों से आधा काट लेने की एक-दूसरे की मुट्ठी खोलने की, और एक-दूसरे द्वारा रूमाल में लगाई हुई गांठें खोलने की कवायत करनी पड़ती है। इन सबसे भी बौद्धिक क्षेत्र में मानसिक कसरत होती है। पहेलियां बुझाने की और उनमें तुकबंदी के साथ एक-दूसरे का नाम चतुराई से जोड़ देने की[1] प्रथा तो अब हमारे यहां इतनी लोकप्रिय हो उठी है कि उसके बिना विवाह समारोह संपूर्ण ही नहीं माना जाता।

ज्यौनारों में हमारी रूढ़ियों के कारण पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की पंगत में ही अधिक रंग जमता है। समधिनों का मजाक उड़ाने के लिए कचौरियों में भूसा और पकौड़ियों में गोबर भरने की प्रथा बड़ी लोकप्रिय है। खाते समय पहेलियां बुझा-बुझा कर एक-दूसरे पर ताने कसने की प्रथा भी बहुत पुरानी है। हमारे यहां जिस प्रकार मकर-संक्रांति का पर्व मधुर भाषण के लिए और होली का त्यौहार गाली-गलौज के लिए सुरक्षित रखा गया है उसी प्रकार विवाह-समारोहों में पहेलियों द्वारा वर-वधू की सराहना करने और समधी-समधिनों की खिल्ली उड़ाने का रिवाज भी पूर्णतः स्थापित हो चुका है। पहली श्रेणी के सुभाषितों का उपयोग जिस प्रकार वर-वधू का आपसी प्रेम सुदृढ़ करने के लिए होता है उसी

[1]महाराष्ट्र में विवाह के अवसर पर यह प्रथा बहुत लोकप्रिय है। इसे 'उखाणा' कहा जाता है। दो या चार पक्तियों के आशुकाव्य में काफिया बंदी के साथ वर-वधू या समधी-समधिन का नाम चतुराई से गूंथा है। व्याजस्तुति या व्याजनिंदा इसका मुख्य हेतु होता है। अकसर वर-वधू की प्रशंसा और समधी-समधिनों पर छींटाकशी होती है। तानेकशी या एक-दूसरे पर दुलत्तियां झाड़ने के लिए भी इसका प्रयोग होता है।—अनु.

प्रकार दूसरी श्रेणी के दुर्भाषितों में दोनों कुलों में खानदानी बैर उत्पन्न कराने की क्षमता होती है। यह एक छोटी सी त्रुटि छोड़ दी जाए, तो इस प्रथा से और कोई हानि नहीं है बल्कि उससे चातुर्य, प्रसंगावधान, हाजिरजवाबी, आशुकवित्व आदि गुणों का ही विकास होता है। अंत्यानुप्रास मिलाना आवश्यक होने के कारण स्त्रियों को इससे कवित्व की प्रेरणा मिलती है। दोनों पक्षों को अपने-अपने अवगुण मालूम पड़ने से उन्हें उनमें सुधार करने का मौका मिलता है। "निंदक नियरे राखिये आंगन कुटी छवाय" वाली उक्ति का उद्देश्य इस प्रथा द्वारा बहुत अधिक चरितार्थ होता देखा जाता है।

इस प्रथा का हमने जो समर्थन किया है वह कितना वस्तुनिष्ठ और पक्षपात रहित है यह प्रमाणित करने के लिए एक ही उदाहरण काफी होगा। समधियाने की एक बालिश्त भर की लड़की ने एक पहेली में मेरे नाम का उल्लेख 'कंदराबक्स' कह कर किया था। इसके पीछे एक पुरानी दास्तान है। जवानी में एक बार मेरे अगले दो दांत टूट गये थे। तब दोस्तों ने मुझे यह तखल्लुस भेंट किया था। लड़की ने उसी पर ताना कसा था। वैसे देखा जाए तो इस विवाह के समय तक मेरे बचे हुए तीस दांत भी एक-एक करके गिर चुके थे। अब तो मेरा पूरा मुंह ही कंदरा के समान हो गया था और इस उपनाम की सार्थकता और भी बढ़ गयी थी। फिर भी इस असभ्य नाम के उल्लेख द्वारा मेरा अपमान करना अन्याय की बात थी और मुझे इससे बहुत गुस्सा आया। उस बात की याद आ जाने पर आज भी मन अस्थिर हो उठता है। ऐसी चुभने वाली मनःस्थिति में भी हमने जो इस प्रथा का समर्थन किया है यह हमारी निष्पक्षता, उदारता और सिद्धांतप्रियता का ही उदाहरण माना जाना चाहिए।

मेरे अगले दो दांत जवानी में ही गिर गये थे इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। उनके गिरने में मेरा कोई दोष नहीं था यह निम्नलिखित वर्णन से स्पष्ट हो जाएगा :—

आज से कोई तीस वर्ष पहले हमारे नगर में अंग्रेजी सभ्यता का प्रचार बड़ी तेज़ी से होने लगा था। उसी के अंतर्गत एक क्रिकेट-क्लब की स्थापना हुई थी। हर पाश्चात्य प्रथा का विरोधी होने के नाते पहले तो मैं उस क्लब का सदस्य नहीं बना। परंतु फिर पांडूतात्या जैसे मित्रों के आग्रहवश मैंने भी अपना नाम सदस्यता-सूची में लिखवा दिया। एक बार मेंबर बनते ही मेरी देह में मानो

वीरश्री का संचार हुआ और साहब लोगों का मुकाबला करके उनके इस रजवाड़ी खेल में उन्हीं को शिकस्त देने के विचार मेरे मन में उठने लगे। उनके कुशल खिलाड़ियों को हराने की कई योजनाएं मन में बनीं और आखिर एक दिन हमने गोरे वनाम हिंदुस्तानियों का मंच निश्चित कर डाला। मैच के दिन हम धोतियों को घुटनों तक चढ़ाकर और लांगें कसकर, हाथों में बैट लिए वीरश्री के मद में पूरे जगत को तुच्छ समझते हुए मैदान पर पहुंचे। मेरे उत्साह को पहचान कर हमारे कप्तान ने पहले मुझे ही वल्लेबाजी के लिए भेजा। आगे चलकर जब मैं संसार प्रसिद्ध क्रिकेटपटु बन जाऊंगा तब मेरा रसभरित जीवनचरित्र प्रकाशित होगा और चरित्रकार चरित्रनायक की मुलाकात के लिए आएगा तब मुझे इस प्रथम मंच का वर्णन करना पड़ेगा इस आश्रय से दिन, तारीख आदि का ब्योरा मैंने सुबह ही अपनी डायरी में लिख लिया था। मैं निर्भय मन से पहली गेंद की प्रतीक्षा करने लगा। मेरा मनोरथ पूर्ण होने में अधिक देर नहीं लगी। शीघ्र ही गेंद तोप के गोले की रफ्तार से मेरी ओर आती हुई दिखाई दी। उस पहली ही गेंद ने मेरे भविष्य के सारे मनोरथों को और उत्कर्ष की सारी योजनाओं को चकनाचूर करके मिट्टी में मिला दिया। उसका मुकाबला करने का और कोई उपाय न सूझने पर मैं बैट को फेंककर दोनों हाथों से आंखों को ढंककर खड़ा रहा। पर सर्वनाश फिर भी नहीं रुका। क्रिकेट की गेंद वैसे भी आवश्यकता से कुछ अधिक कड़ी होती है, और यह तो डाकगाड़ी की रफ्तार से आकर मेरे दांतों पर बजी। उसने विकेट तो नहीं उखाड़ी, पर मेरे एक दांत को जड़मूल से उखाड़ दिया। पीड़ा से चक्कर आ जाने के कारण मैं वहीं बैठ गया। इस आकस्मिक विघ्न के कारण उस रोज का खेल वहीं स्थगित कर दिया गया और हम घर लौट आए।

दूसरे दिन मैदान पर जाते समय मेरे साथियों ने मुझे घर पर ही रुक जाने की राय दी पर इससे मेरा आहत अभिमान और भी जाग्रत हुआ और हाथ में बैट लेकर मैं फिर खेलने को चला। मन में विचार आया कि कल योगायोग से एक वार गेंद दांत पर लग गई तो अब रोज-रोज थोड़े ही लगेगी। मेरे दांतों में ऐसी कोई गुरुत्वाकर्षण शक्ति तो है नहीं कि गेंद बराबर वहीं पर आकर टकराये। आज उस गेंद और उसे फेंकने वाले खिलाड़ियों से बदला लेने का बड़ा अच्छा मौका है। आज तो गेंद को पीट-पीटकर और खिलाड़ियों को पदा-पदाकर सबका

भुरकस निकाल दूंगा। इस प्रकार के विचारों से प्रेरित होकर मैं फिर विकेट के सामने पहुंचा। बहुत देर तक तो गेंद ने मेरी ओर आने का साहस ही नहीं किया। शिकार को अपने शिकंजे से छूटता देखकर मेरा आवेश और भी बढ़ा और मैंने अपने बचे हुए इकत्तीस दांत पीस-पीसकर प्रतिपक्षियों को चुनौती देना शुरू किया। बीच में एक विचार यह भी आया कि मन में इतना द्वेषभाव रखना अच्छा नहीं। बेचारी गेंद जब मन ही मन मुझसे इतनी डर रही है तो महज़ एक दांत गिराने के जुर्म में उस पर इतना दांत रखना उचित नहीं। ऐसे उदार विचार मन में आ ही रहे थे कि गेंद सनसनाती हुई मेरी तरफ आती दिखाई दी। उसकी इस लगन को देखकर पहले तो मेरे मन में भी पीठ फेरकर उसी की दिशा में जाने की इच्छा हुई। बल्ला फेंक कर मुंह ढांप लेने की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी हुई। सिद्धांतवादी सुधारकों की तरह अपने तत्वज्ञान पर तुरंत अमलकरने का विचार भी मन में आया। परंतु साथियों के उपहास के भय से मैं ऐसा न कर सका और सीना ताने गेंद का मुकाबला करने को खड़ा रहा। उस चांडालिनी ने आज भी मेरे साथ पहले दिन का सा सलूक किया और मेरा दूसरा दांत भी अपने सहोदर की खोज में चला गया। उस दिन से क्रिकेट खेलना मैंने बिलकुल छोड़ दिया है। ऐसा न करता तो आने वाले महीने भर में मेरे बाकी के तीस दांत भी क्रिकेट क्षेत्र पर धराशायी हो जाते। तब से इन सख्त गेंदों की मेरे मन में ऐसी दहशत समा गयी है कि सूचीपत्रों में क्रिकेट की गेंद के विज्ञापन को भी मैं दोनों हाथों से मुंह ढांपकर ही पढ़ता हूं।

रात को हमारे परिवार की स्त्रियों ने पलक-पांवड़े बिछाकर समधियाने की स्त्रियों को रासक-स्नान[1] के लिए निमंत्रित किया। नहाते समय वधू पक्ष की किसी छोकरी ने खजोली की पत्तियां हमारे पक्ष की किसी पुरंध्री को छुआ दीं जिससे उसका खुजा-खुजा कर बुरा हाल हो गया। इस प्रकार की बदतमीजी का अंजाम समधिन के सामने नालिश में होकर बड़ा बखेड़ा खड़ा हो सकता था। परंतु इन प्रसंगों पर हंसी-मजाक के रिवाज की सनातनता को ध्यान में रखते हुए हमने बात को वहीं रफादफा कर दिया।

---

[1] महाराष्ट्र में विवाहोपरांत होने वाली एक और रस्म जिसमें वर-वधू एक-दूसरे को नहलाते हैं। दोनों पक्षों की कमसिन लड़कियां भी इसमें शरीक होती हैं। दिल बहलावकी दृष्टि से इस प्रथा की तुलना उत्तर भारत की 'बागछड़ी' की रस्म के साथ की जा सकती है।—अन.

अंत में सब सुहागिनों को चूड़ियां पहनाने की रस्म अदा हुई। इन चूड़ियों के नाम भी बड़े मजेदार होते हैं। उर्वशी, रंभा, मेनका आदि इंद्र के अखाड़े की समस्त अप्सराओं से लगा कर कनकतारा, छैलछबीली, चटक चांदनी, झाड़फानूस, स्वर्णचंपा, तारामंडल, आकाशगंगा, रानीकंगन इत्यादि समस्त सजीव-निर्जीव चीजों के नाम चूड़ियों को दिए गए थे। इससे यही प्रमाणित होता है कि चराचर सृष्टि की प्रायः सारी चीजें नारी की मुट्ठी में होती हैं। इसमें सृष्टि के नियम के विरुद्ध कुछ भी नहीं है यह बात हमारे मर्मज्ञ पाठक स्वानुभव से भी कबूल करेंगे।

10. श्रावणी

इससे पहले प्रकाशित हो चुकने वाले हमारे "होली" शीर्षक लेख में हमने एक-दूसरे के शरीर पर गंदी चीजें फेंकने की हमारी सनातन धार्मिक प्रथा का विभिन्न पहलुओं से विचार किया था। प्रस्तुत निबंध में उन पदार्थों का भक्षण करने से क्या परिणाम होता है, इस पर विचार किया जाएगा।

होली की एक विशेषता यह है कि वह हिंदूमात्र—फिर वह ब्राह्मण हो या शूद्र—सभी का त्योहार है। उस रोज चाहे ब्राह्मण शूद्रों पर गोबर फेंकें चाहे शूद्र ब्राह्मणियों को अशोभन गालियां दें, भगवान के दरबार में दोनों की धार्मिकता एक ही श्रेणी की मानी जाएगी और दोनों को उसका एक-सा श्रेय मिलेगा। परंतु श्रावण की पूर्णिमा को किसी शूद्र ने ब्राह्मणों के साथ बैठकर गोबर खाने का प्रयत्न किया, तो उसे घोर अनाचार माना जाएगा। शूद्रों को सिर्फ गोबर उछालने का अधिकार है; खाने का नहीं। गोमल खाने का अधिकार केवल पवित्र ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित रखा गया है। इस विशेषाधिकार के लिए हमारे ब्राह्मणेत्तर भाई हमारी ईर्ष्या नहीं करेंगे ऐसी आशा है। इस एकाधिकार के बदले में ब्राह्मणों ने उन्हें मद्यमांस खाने-पीने का अधिकार दे रखा है, इसलिए पक्षपात का दोष हम पर नहीं लगना चाहिए। हमारे शूद्र बंधु जब चटखोर ले-लेकर मांस खाते हैं या नालियों में पड़े हुए ठर्रा पीते हैं तब ब्राह्मणों के मुंह से लार नहीं टपकती। तो फिर ब्राह्मणों को गोबर खाते या गोमूत्र पीते हुए देखकर उनके मुंह में पानी भर आना योग्य नहीं। इसके अलावा हम ब्राह्मणों ने इस विशेषाधिकार की व्याप्ति को अत्यंत सीमित रखा है। इतने पशुओं में से हम सिर्फ गाय के ही मलमूत्र का सेवन करते हैं। अन्य प्राणियों के विसर्जित द्रव्यों का उदरपूर्ति के लिए उपयोग करके खाद की कीमत बढ़ाने का या सूकरों को भूखा मारने का हमारा इरादा है

ऐसा अभियोग कोई हम पर नहीं लगा सकता। ब्राह्मणेत्तरों पर इस प्रकार का कोई बंधन नहीं। वे एक गाय को छोड़कर किसी भी पशु-पक्षी का मांस खा सकते हैं और विशुद्ध देसी ठर्रे से लगाकर विलायती शराब तक किसी भी प्रकार की मदिरा का पान कर सकते हैं। यह अधिकार ब्राह्मणों के सीमित अधिकार से कहीं अधिक व्यापक है। एक दृष्टि से देखा जाए, तो हमारे अधिकार का क्षेत्र उनके अधिकारों के अपवाद तक ही मर्यादित है।

जिस रोज हमने शूद्रों को हमारे साथ समानता के स्तर पर मिलने-जुलने का अधिकार दिया है, उस होली के त्योहार को भी श्रावणी का ही एक प्रकार माना जा सकता है। होली और श्रावणी दोनों त्योहार पूर्णिमा के दिन पड़ते हैं। परंतु श्रावणी, कुछ भी कहिए, सिर्फ मनुष्यों का ही त्योहार है। जबकि होली के दिन ब्रह्माजी के मुख-बाहु-जंघा-चरण आदि से उत्पन्न चातुर्वर्ण्य के लोग एक-दूसरे पर गोबर-कीचड़ उछालते हैं अतः उसे ब्रह्माजी की श्रावणी कहना अनुचित नहीं होगा। गोमय-स्नान श्रावणी का अभिन्न अंग माना गया है। इस दृष्टि से देखने पर यह भी कहा जा सकता है कि होली श्रावणी से कहीं श्रेष्ठ है। ब्रह्माजी का एक दिन जिस प्रकार मनुष्यों के दिन से करोड़ों गुना बड़ा होता है, उसी प्रकार उनकी श्रावणी भी मानवीय श्रावणी से कहीं अधिक व्यापक होनी चाहिए। इस हालत में बड़े और श्रेष्ठ त्योहार में हुड़दंग मचाने का समानाधिकार प्राप्त होने पर भी, सिर्फ सुधारकों के भरमाव में आकर शूद्रों द्वारा ब्राह्मणों के छोटे और अधिकार की दृष्टि से मर्यादित त्योहार की ईर्ष्या की जाना और पंचगव्य सेवन में हिस्सा बंटाने की मांग की जाना केवल मत्सर और द्वेष की निशानी है।

हम गाय के सिवा अन्य किसी प्राणी के मलमूत्र का स्पर्श भी नहीं करते। गाय के मलमूत्र पर ही हमारी इतनी भक्ति क्यों है, इसके अनेक कारण हैं। गाय का हमारे धर्म में अनन्य महत्व है। किसी युग में आर्य संस्कृति की समूची आर्थिक इमारत गोधन की बुनियाद पर ही खड़ी की गई थी। अतीत के ऋषिमुनियों की उपजीविका का एकमात्र साधन होने के कारण गाय की महिमा वेदों में भी वर्णित है। किसी प्राचीन युग में महाराज पृथु के राज्यकाल में जब पृथ्वी पर भीषण दुर्भिक्ष पड़ा था, तब भगवती वसुंधरा ने गाय का रूप धारण करके और गोधन की बहुतायत करके ही मनुष्यजाति की रक्षा की थी। इसके अलावा, आततायियों के अत्याचार के रूप में उस पर जब कभी कोई भयावह संकट आता है, पृथ्वी

गाय का रूप धारण करके ही विष्णु आदि देवताओं के दरबार में फरियाद करने जाती है। युद्धादि विकट प्रसंगों पर मध्ययुग के ब्राह्मणों द्वारा खुद रण के मैदान में पीछे रह कर गायों को आगे किया जाने के अनेक उल्लेख इतिहास में मिलते हैं। अतएव गाय को पूरी हिंदू जाति की धात्री और हर हिंदू को एकाधिक दृष्टि से गोपोषित माना जा सकता है। ब्रह्माजी के उत्तमांग से उत्पन्न ब्राह्मणों का भी मुख होने के कारण गाय कितनी पवित्र होगी, इसका निर्णय हम पाठकों पर ही छोड़ते हैं। खेद है कि पावित्र्य की इस परंपरा को एक कदम और आगे बढ़ाकर गाय के मुख तक नहीं खींचा जा सकता क्योंकि उसे शास्त्रकारों ने अपवित्र माना है। परंतु इसकी चर्चा बाद में होगी।

समूची गाय ही जब इतनी पवित्र है, तो यह मानी हुई बात है कि उसके प्रत्येक अंग को (मुंह को छोड़कर) भी पावन माना जाए और उनका संबंध अन्य उदात्त बातों के साथ जोड़ा जाए। गोकर्ण महादेव का तीर्थस्थान परम पवित्र है ही। हमारे शीर्षस्थान पर विराजमान चुटियों के घेरे के लिए गोखुर का ही नाप निश्चित किया गया है। ब्याह-शादियों के लिए अन्य सब मुहूर्तों की अपेक्षा गोरज मुहूर्त या गोधूलि बेला को ही शुभ माना जाता है। गाय का मुख अपवित्र होने पर भी बड़े-बड़े शिवालयों में देवता के अभिषेक का जल गोमुख से ही छोड़ने की व्यवस्था की जाती है ओर स्वयं भगवती भगीरथी का उद्गम भी गंगोत्री स्थित गोमुख से ही हुआ है। भगवान की अतर्क्य लीलाओं का चिंतन करते हुए उनका नाम स्मरण भी गोमुखी में माला डालकर ही किया जाता है। आरंभ में 'गो' उपसर्ग का प्रयोग केवल पवित्र वस्तुओं के संबंध में ही होता था। परंतु बाद में गवाक्ष, गोचर, गोरोचन, गोधूम, गोरस, गोपुर इत्यादि साधारण वस्तुओं के लिए और गोखरू, गोवैद्य (नीम हकीम) आदि दुखदायक और तिरस्कार व्यंजक शब्दों में भी उसका प्रयोग होने लगा। इस प्रकार वेदों में गाय, पुराणों में गाय, अर्थनीति में गाय और व्यवहार में गाय, चारों तरफ गाय ही गाय होकर हिंदू जाति का समूचा जीवन ही गो-मय हो गया।

गोबर का हमारे रोजमर्रा के जीवन में कदम-कदम पर उपयोग होता है। उसकी सहायता से गांवों के कारीगर खेल-खिलौने और गुड़ियाएं बनाते हैं और वैद्य लोग व्रणस्फोट के लिए उसका प्रयोग करते हैं। ग्रामीण गृहणियों का तो वह परम सहायक होता है। उसी से वे अपने घर-आंगन को लीपती हैं और उसी के

उपले थापकर उनका इंधन के रूप में उपयोग करती हैं। किसान खेतों में उसका उपयोग खाद के रूप में करते हैं। इस प्रकार हमारे ग्रामीण जीवन की तो आधारशिला ही गोबर पर रखी हुई है।

परंतु गोबर और गोमूत्र की सबसे बड़ी उपयोगिता है उनका भक्षण-प्राशन करने में। इन पवित्र पदार्थों को शरीर पर चुपड़ने या पेट में उतारने से बड़े से बड़ा पातक दूर हो जाता है। इस विधान को दो-तीन उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। कांटे से कांटा निकलता है, यह तो हमारा रोजमर्रा का अनुभव है। इसी प्रकार मिट्टी जैसी मैली चीज से साफ करने पर बर्तन-भांडों का मैल दूर हो जाता है और वे चमक उठते हैं। ये दो बातें यदि सही हैं, तो यह क्यों नहीं कहा जा सकता कि मलमूत्र के सेवन से शरीर की अशुद्धियां दूर होकर वह पवित्र हो उठेगा? या, इससे एक कदम आगे बढ़कर, यह मानने में क्या हर्ज है कि इन परिमार्जक पदार्थों के सेवन से नरकयातना भी टल सकती है। अंशतः या प्रतीकात्म प्रायश्चित भुगत लेने पर समग्र प्रायश्चित ही नहीं अपितु समूचे पातक से ही छुटकारा मिल जाता है यह सिद्धांत तो हमारे शास्त्रों-पुराणों में कदम-कदम पर बिखरा पड़ा है। आपद्धर्म हमारे आचारों की बुनियाद है और ब्राह्मणों को भोजन कराके या दक्षिणा देकर तो बड़े से बड़े पातक से छुटकारा मिल सकता है। थाड़ा-बहुत कायाकष्ट भुगत लेने पर तो जन्म-जन्मांतर के पाप धुल जाते हैं। इसी मान्यता के आधार पर हमारे यहां के फकीर-बैरागी शरीर के विभिन्न अंगों में तकुए घुसेड़ते हैं, शूलों की शय्या पर सोते हैं और पंचाग्नि सहते हैं। जालंधर नाथ के क्रोध को राजा गोपीचंद ने अपनी कांस्यप्रतिमा पर उतार दिया था और ईसा मसीह ने तो पूरी मानव जाति के पाप को अपने हृदय के लहू से धो डाला था। खुद सूली पर चढ़कर उन्होंने समूची मनुष्यजाति को दंड और प्रायश्चित्त से सदा के लिए मुक्ति दिला दी। मृत्यु की झूठी अफवाह उड़ाकर प्रत्यक्ष मौत को झांसा दिया जा सकता है और क्रियाकर्म का संकल्प करके आसन्न-मरण रोगी को भी बचाया जा सकता है। गणेशचतुर्थी के दिन चंद्रदर्शन करने से लगने वाले पातक को तो महज लोगों के घर पर पत्थर फेंक कर और उनकी गालियां खाकर दूर किया जा सकता है। ये सारी बातें यदि सही हैं तो साल में एक बार, श्रावणी के दिन कुछ देर के लिए सशरीर नरकवास भुगत लेने से मृत्यु के बाद के नरक-निवास को निश्चित ही टाला जा सकता है।

गोबर और गोमूत्र के सेवन से नरकवास टल नहीं सकता ऐसा बहस के लिए मान लिया जाए, तो भी उपयोगिता कम नहीं होती। यहां मनोविज्ञान हमारी सहायता करता है। यह तो मानी हुई बात है कि किसी भी बात की आदत पड़ जाने पर वह उतनी दु:सह मालूम नहीं देती और शरीर उसका अभ्यस्त हो जाता है। गारुड़ी लोग संखिया तक हजम कर जाते हैं। इस नियमानुसार, गोमल और गोमूत्र के सेवन से नरकवास न भी टल सके, तो कम से कम वह सुखद अवश्य हो जाएगा।

और सब पशुओं की अपेक्षा गाय का मलमूत्र सेवन करने से एक विशिष्ट लाभ होता है। हम तो सिर्फ श्रावणी के दिन इन घृण्य पदार्थों से घृणा नहीं करते; परंतु गाय के लिए तो इनका सेवन नित्य का क्रम है। प्राणीमात्र के, और विशेष तौर पर मनुष्य के पुरीष सेवन में वह किसी प्रकार का विधि निषेध नहीं मानती। इसलिए गोबर में प्राणीमात्र के मलमूत्र का थोड़ा-थोड़ा अंश अवश्य रहता होगा जिससे वह और भी अधिक कार्यक्षम हो उठता होगा।

गोबर और गोमूत्र की वैद्यकीय उपादेयता का तो पाखंडी से पाखंडी सुधारक भी खंडन नहीं कर सकता। प्रत्येक प्राणी का उदर एक अनेक औषधियों का खजाना होता है। उसमें तैयार होने वाले द्रव्यों का विश्लेषण तो साक्षात् धन्वन्तरी भी नहीं कर सकते। अन्य प्राणियों के त्यक्त पदार्थों के गुणधर्मों के बारे में तो हमें अधिक जानकारी नहीं, परंतु गोबर और गोमूत्र के उपकारक परिणामों से हम परिचित हैं। उनकी गंधमात्र से उबकाई आने लगती है। इसलिए उनमें वमन कराने की उत्तम क्षमता होनी चाहिए। वैद्यकशास्त्र की दृष्टि से यह बहुत उपयोगी गुणधर्म है। उनका यदा-कदा सेवन करते रहने से हमारे हमेशा के भक्ष्य-भोज्य पदार्थों पर हमारी रुचि बढ़ेगी, यह एक दूसरा फायदा है। हमारा यह भी विश्वास है कि बेहोश व्यक्ति को यदि वे सुंघाये जाएं, तो वह क्षणार्ध में सारी बेहोशी भूल कर कान-पूंछ फटकार कर खड़ा हो जाएगा। इन सब उपचारों में केवल एक नियम का पालन आवश्यक है। ये पदार्थ उनकी शुद्ध अवस्था में उपलब्ध होने चाहिए। मतलब यह कि गोमाता को अर्श, मधुप्रमेह आदि बीमारियां न हों, तो ही उनका उपयोग प्रभावी सिद्ध हो सकता है।

हिंदू समाज की आजीविका बड़े प्राचीन काल से गायों पर ही आधारित रही है। इसलिए शास्त्रकारों को उसकी रक्षा की दृष्टि से अनेक नियमों की रचना

करनी पड़ी। 'गाय की उपयुक्तता के कारण उसकी रक्षा करना प्रत्येक का धर्म है'—केवल इतना ही उपदेशपरक नियम बना देने मात्र से कोई उसका पालन शायद ही करता। इसलिए गोवध को महाभयानक पातक घोषित करने के साथ-साथ शास्त्रकारों को गोमल-गोमूत्र के सेवन की भी सिफारिश करनी पड़ी। ऐसा करके उन्होंने बड़ी दूरअंदेशी का परिचय दिया। पुराने जमाने में किसी मनुष्य का वध करने के बाद जल्लाद उसका सिर या हाथ अपने स्वामी के सामने प्रमाण के रूप में पेश करता था ताकि हत्या की खातिरजमा हो जाए। उसी प्रकार श्रावणी के दिन गोबर-गोमूत्र के सेवन का नियम बना देने से गोरक्षा का काम अपने आप बड़ा सरल हो गया। गाय की रक्षा और निगरानी करने पर ही इन वस्तुओं की रसद अक्षुण्ण रूप से उपलब्ध हो सकती है। इसलिए इन पदार्थों का सेवन करने वाले गाय की देखभाल अनिवार्य रूप से करेंगे ही।

हिंदू धर्म और अन्य धर्मों के बीच पंचगव्य सेवन की प्रथा एक प्रकार से मेंड का काम करती है। न अन्य धर्मों के लोग इसका स्वीकार करेंगे, न हमारे धर्म में आने के लिए उनका रास्ता खुलेगा। इससे हमारा धर्म विशुद्ध रह सकेगा। यह लाभ भी उपेक्षणीय नहीं है।

इसके बाद के लाभ का विवेचन करने से पहले एक पुरानी कथा सुनना आवश्यक है। एक बार भगवान विष्णु और ब्रह्माजी में श्रेष्ठता को लेकर बड़ा विवाद खड़ा हुआ। ब्रह्मदेव कमल की नाल में से उत्पन्न हुए हैं तो विष्णु पांव का अंगूठा चूसते हुए बड़ के पत्ते पर विहार करते रहते हैं। इस प्रकार दोनों की उत्पत्ति का संबंध वनस्पति से तो आता है परंतु श्रेष्ठ कौन, यह फिर भी विवाद का विषय बना रहा। जब किसी प्रकार से इसका फैसला नहीं हुआ तो महादेवजी ने अपनी बाहु में से कालभैख नामक दैत्य को उत्पन्न किया और इस पेचीदा मसले का हल उस पर सौंपा गया। उसने वादी-प्रतिवादी दोनों को अपने शरीर का विस्तार नापने को कहा। ब्रह्मा ने शुरुआत की सिर की ओर जाने की और विष्णु ने पांव की ओर। जो गंतव्य स्थान पर पहले पहुंच जाएगा वही श्रेष्ठ माना जाएगा यह शर्त तय हुई। ब्रह्माजी ने दैत्य के सिर तक पहुंचने के लिए प्रयत्नों की पराकाष्ठा की, पर सफलता नहीं मिली। चेहरे तक तो वे जैसे-तैसे पहुंच गये। परंतु उन दिनों रेलगाड़ी, पानी के जहाज, वायुयान इत्यादि यातायात के साधन उपलब्ध न होने के कारण कान, मुखविवर आदि खाड़ियों; नाक, ठुड्डी इत्यादि पहाड़ियों और

दाढ़ी-मूंछ के घने जंगलों में से मार्ग सूझना मुश्किल हो गया। इतने में सौभाग्य से कालभैख के गालों पर की विस्तृत चरागाहों में उन्हें एक गाय चरती हुई दिखाई दी। उस समय तक गाय के मुंह को असत्य-भाषण या अन्य किसी प्रकार के घृण्य पदार्थ की छूत नहीं लगी थी। इसलिए उसकी गवाही विश्वसनीय मानी जाएगी ऐसा विचार करके ब्रह्माजी ने उससे प्रार्थना की कि वह उनके शीर्ष तक पहुंच जाने की झूठी गवाही दे दे। इसके लिए गाय को उत्कोच क्या मिला यह तो नहीं मालूम पर उसने सींग हिला कर सम्मति प्रकट की। हलफदरोगी करने की गवाहों की आदत में उस जमाने से लगाकर आज तक कोई विशेष फर्क पड़ा हो ऐसा मालूम नहीं देता। शीघ्र ही यह सिद्ध साधक की जोड़ी शिवजी के पास पहुंची और गाय रटी हुई गवाही को शपथ लेकर दोहराने लगी। भोलेनाथ तो शायद इसे मान लेते पर उस मोटी बुद्धि वाले दैत्य से यह सहन नहीं हुआ। उसने क्रोधित होकर ब्रह्माजी का एक मुख काट डाला जिसके परिणामस्वरूप पंचानन चतुरानन हो गये। उन्हें यह शाप भी दिया गया कि उनकी जाति के लोग (ब्राह्मण) सब गुणों से संपन्न होने पर भी दर-दर भीख मांगते फिरेंगे। पेशवाओं की ऐन समृद्धि के कालखंड में भी ब्राह्मणों ने दिल्लीश्वर यवनों के सामने दांत निपोर कर हाथ फैलाना नहीं छोड़ा था, उससे उक्त शाप की चरितार्थता सिद्ध होती है। गाय को यह शाप मिला कि उस दिन के वाद उसका मुंह अपवित्र माना जाएगा और वह सदा प्राणियों के मलमूत्र में मुंह मारती फिरेगी।

यह कथा काशीखंड से ली गयी है। थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ वह अन्य ग्रंथों और कई पुराणों मैं भी पायी जाती है। उदाहरणार्थ, ये शाप क्रमशः राम सीता और ने दिये थे ऐसा उल्लेख रामायण में मिलता है। शिवपुराण में ब्रह्माजी की यात्रा कालभैख के सिर की ओर न मानी जाकर शिवलिंग की परिधि नापने के लिए मानी गई है। अन्य एक स्थान पर गाय को यह शाप किसी ऋषि की पर्णकुटी चबा डालने के अपराध में मिला ऐसा उल्लेख है। कहीं-कहीं उसका संबंध भृगुमुनि के पग प्रहार वाली कथा के साथ भी जोड़ा गया है। इस प्रकार ब्योरे को लेकर मतभेद होने पर भी गाय को मिले हुए शाप के विषय में एकवाक्यता होने के कारण उसकी प्रामाणिकता के संबंध में किसी शंका का स्थान नहीं रहता। कभी, कहीं, किसी ने, किसी न किसी कारण से गाय को शाप दिया था जरूर जिसके परिणामों को वह अब तक भुगत रही है। सुधारकों का

इससे समाधान हो जाना चाहिए। गाय और ब्राह्मणों की उस दिन से लगाकर जो जोड़ी जमी वह आज तक ज्यों की त्यों चली आ रही है। बल्कि हम तो यहां तक कहेंगे कि गाय और बैल के जोड़े की अपेक्षा गोब्राह्मण की जोड़ी अधिक निकट, अधिक घनिष्ठ और अधिक समानता पर आधारित है।

पंचगव्य जीभ को विशेष स्वादिष्ट न लगने पर भी हमारे पुराने मित्र बंडूनाना हर श्रावणी को उनका बड़े शौक से सेवन करते हैं। उनकी राय है कि पंचगव्य का मिश्रण रंग-रूप में बहुत कुछ चाय के जैसा दिखाई देता है। इसलिए धर्माभिमानी लोगों को रोज प्रातःकाल उसका सेवन करने की आदत डालनी चाहिए। आरंभ में कुछ बेस्वाद लगने पर भी अंत में उसकी रुचि मधुर ही मालूम देगी। पांडूतात्या ने कुछ दिनों तक उनकी राय पर अमल भी किया। परंतु वे ठहरे महा चालाक आदमी। आचमनी में पंचगव्य भरकर वे दिखावा तो उसे पीने का करते हैं पर हाथ की सफाई से उसका अधिकांश हिस्सा बाहर गिरा देते हैं। मुंह में तो मुश्किल से एकाध बूंद जाती होगी। श्रावणी के दिन भी उनकी नजर पंचगव्य की अपेक्षा सत्तू के गोलों पर ही अधिक रहती है। हमारे इन अभिन्न मित्रों की देखादेखी हम भी कभी-कभी थोड़ी मात्रा में पंचगव्य का प्राशन कर लेते हैं। उसके बदाजयका होने के कारण नहीं बल्कि अन्य लोगों को वह प्रचुर मात्रा में मिलता रहे ऐसी सदिच्छा से प्रेरित होकर ही हम उसकी मात्रा को बढ़ाते नहीं हैं।

श्रावणी के समय आचमनी-पंचपात्रों की खनखनाहट और न्यास, तर्पण, सव्यापसव्य, जनेऊ को सूर्यदर्शन करवाना इत्यादि क्रियाएं ऐसी लयबद्ध पद्धति से होती हैं कि इन ब्राह्मणों को कवायद सिखाकर उनकी पलटनें तैयार की जानी चाहिए। ऐसा विचार दर्शकों के मन में उठे बिना नहीं रहता। यज्ञोपवीत का एक उपयोग सांप या बिच्छू काटने पर उस अंग को कसकर बांधने के लिए भी होता है। वैसे हम इसमें कोई मौलिकता का दावा नहीं करते। मृच्छकटिक नाटक में शर्विलक जनेऊ के अनेकविध उपयोगों का विस्तृत विवेचन् कर चुका है। उनके अलावा कुंए से पानी खींचने, गले में फांसी लगाने, भूतों को उसकी गांठ दिखाकर भगाने इत्यादि भले-बुरे कामों के लिए भी उसका प्रयोग हो सकता है। हमें खुद एक बार इसका अनुभव हो चुका है। एक रोज रात को मैं दीपक के प्रकाश में बैठा कुछ पढ़ रहा था। घूमकर देखा तो क्या दिखाई दिया कि दीवार

पर एक लंबी-चौड़ी पिशाचाकृति भी हाथ में किताब लिए बैठी है। मेरे द्वारा की गयी हलचल का अनुकरण करके वह आकृति मानो मुझे चिढ़ाने लगी। मैंने महावीर विक्रम बजरंगी का स्मरण करके जनेऊ की गांठ उसके सामने की। परंतु जनेऊ पर प्रकाश न पड़ने के कारण वह उसे दिखाई नहीं दी। अंत में मैंने दीपक को दीवार के पास ले जाकर पिशाच को गांठ दिखानेका प्रयत्न किया। और क्या चमत्कार ! दीपक के दीवार के पास आते ही वह आकृति तुरंत अदृश्य हो गई।

श्रावणी के मंत्रों का उच्चारण करते समय पुरोहितों-अध्यापकों के साथ हमारी बड़ी मजेदार जुगलबंदी जमती है। हमारे द्वारा एक शब्द का उच्चारण पूरा होने से पहले ही पुरोहितजी दूसरा शब्द जोड़ देते हैं। इससे विभिन्न शब्दों के सिर और पूंछ जुड़कर बड़ी मजेदार खिचड़ी पकती है। हमारा अज्ञान कहीं जाहिर न हो जाए इस आशंका से हम शब्दों के पूर्वार्द्ध को मुंह ही मुंह में गुनगुना कर केवल उत्तरार्ध का स्पष्ट उच्चारण करते हैं। यह तो हुई उच्चारण की कथा। अब रही अर्थ की बात। सो इस मामले में हमारी और उपाध्यायजी की जानकारी करीब-करीब एक ही श्रेणी की होती है। मंत्रों का जितना अर्थ वे समझते हैं उतना ही हम समझते हैं। सुधारक लोग इस प्रकार अर्थ समझे बिना मंत्रों की रटंत करने पर टीका-टिप्पणी कर सकते हैं। परंतु इसका हम संयुक्तिक उत्तर दे सकते हैं। एक तो प्रतिदिन यदि उच्च स्वर से मंत्रपाठ किया जाए तो उसकी लयबद्धता के कारण सुनने वालों को ऊब महसूस नहीं होती। अंग्रेजी में एक कहावत है कि बहुत से लोग महज जीवन की बोरियत से ऊबकर मर जाते हैं। मंत्रपठन के द्वारा इस संकट से हमारी अनायास ही रक्षा हो जाती है। दूसरे, मंत्रपाठ करने से जबड़े, मसूड़े एवं होंठ और जीभ के स्नायु मजबूत होते हैं। तीसरी बात यह कि जिस प्रकार जम्हाई आने से स्वास्थ्य अच्छा रहता है ऐसी बहुत से डाक्टरों की राय है, उसी प्रकार मुंह को बार-बार खोलने-मूंदने से और जीभ का निरंतर उपयोग करते रहने से भी स्वास्थ्य को लाभ पहुंचता है यह आसानी से सिद्ध किया जा सकता है। चौथी बात यह कि वर्तमान युग में विज्ञान-विषयक और अर्थशास्त्र-विषयक अज्ञान के कारण हमारी जो दुर्दशा हुई है, उसकी सातत्य से याद दिलाकर ये मंत्र हमारे मन में अभिमान का जन्म नहीं होने देते। भगवान के सामने हाथ जोड़कर केवल "मो सम कौन कुटिल खल कामी" आदि स्वीकृति दे देने मात्रसे काम नहीं चलता। हम यदि अपने अज्ञान

को ईश्वर के समक्ष स्पष्ट और उजागर रूप से निवेदित करते रहें तो उसकी दया की संभावना कहीं अधिक रहती है। इसके अलावा और भी बहुत सी तर्कपूर्ण युक्तियां हम अपने कथन के समर्थन में दे सकते हैं। परंतु मंत्रपठन की उपयुक्तता इतनी असंदिग्ध और स्वयंसिद्ध है कि ऐसा करने की आवश्यकता मालूम नहीं देती। चर्वितचर्वण के लिए हमारे पास समय भी नहीं है। इसलिए आज के विवेचन को यहीं समाप्त किया जाता है।

11. समाचारपत्र-संपादक

कोई पंद्रह वर्ष पहले मैंने अपने शहर में एक मिठाई की दूकान खोली थी। इस व्यवसाय के पीछे केवल रुपया कमाने का ही नहीं बल्कि नौजवान पीढ़ी का ध्यान नौकरियों की ओर से हटा कर व्यापार-उद्योग की ओर खींचने का भी ध्येय था। मुनाफा कमाने का हेतु बिलकुल ही गौण रहा हो, सो बात नहीं। राष्ट्र अंततोगत्वा अनेक व्यक्तियों के समुदाय से ही बनता है और राष्ट्र की संपन्नता व्यक्ति की संपन्नता पर ही निर्भर करती है। इस दृष्टि से देखने पर राष्ट्रहित साध्य करने के लिए हर व्यक्ति को स्वहित की साधना करनी ही चाहिए। इस सिद्धांत का मेरे मन पर प्रबल प्रभाव होने के कारण मैंने इस धंधे में अधिक-से-अधिक रुपया कमाने की कोशिश की। रुपया हाथ में होने पर देशहित अपने-आप सिद्ध हो जाता है।

दूकान शुरू करने के बाद आरंभ में तो ग्राहकों की संख्या बहुत कम रही। परंतु इतने परिश्रम और इतनी लगन से तैयार की हुई मिठाई बच जाने पर मुझे दुख शायद ही कभी हुआ हो। एक तो वैसे ही मैं स्वभाव से अल्पसंतोषी हूं। फिर बचपन से ही मीठे पर मेरी अत्यधिक भक्ति रही है। इसलिए दिन भर की बिक्री के बाद बच जाने वाले पेड़े, बरफी, गुलाबजामुन (ये शब्द लिखते समय भी मुंह में पानी भरा आ रहा है) आदि मेरी पसंद की मिठाइयों का स्वयं सेवन करके मैं उन्हें अनादर से बचा लेता था। बासी चीज़ किसी भी हालत में न बेचने का मेरा अटल नियम होने के कारण बचे हुए को उदरस्थ करना मैं अपना परम पवित्र कर्तव्य समझता था। बचा हुआ माल गले के नीचे उतारते समय उपरोक्त व्यावसायिक सिद्धांत बहुत सहायक सिद्ध होता था।

धीरे-धीरे नियमित ग्राहकों की संख्या बढ़ती गयी और कुछ ही दिनों में

दूकान की बिक्री बहुत बढ़ गयी। मामला इस हद तक बढ़ा कि मिठाई के दोनों को लपेटने के लिए रद्दी कागज की कमी महसूस होने लगी। समाचारपत्र प्रकाशित करने का विचार पहले-पहल मेरे मन में केवल इसी कारण से आया था। धीरे-धीरे यह संकल्प पुख्ता होता गया। सोचा कि समाचारपत्र से विशेष आमदनी होने की तो संभावना नहीं, पर उसमें मिठाई की दूकान का विज्ञापन दिया जा सकेगा और बची हुई प्रतियों का उपयोग मिठाई के दोने लपेटने के लिए हो सकेगा। इस प्रकार एक काम से अनेक काम चलेंगे। मैंने शीघ्र ही विचार को कार्यरूप दे दिया।

कुछ सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ऐसा मालूम देता है कि समाज में बहुत से धंधे जुड़वां और एक-दूसरे के पूरक होते हैं। इन परस्पर पूरक धंधों में एक की बची हुई सामग्री दूसरे में उपयोगी होने के कारण वे एक ही व्यक्ति द्वारा किये जाएं, तो बड़ी सुविधा रहती है। इस सिद्धांत को आत्मसात् करना सरल हो इसलिए यहां कुछ उदाहरण दिए जाते हैं। ग्रंथकार और पुस्तक-विक्रेता यह दोनों व्यवसाय इसी श्रेणी के जुड़वां धंधे हैं। साहित्यकार को नये साहित्य की रचना से पहले अनेक ग्रंथ पढ़ने पड़ते हैं। किताबों की दूकान होने से उसे इसमें बड़ी सुविधा रहेगी। चाहे जब चाहे जितनी किताबें वह पढ़ सकेगा और अपनी बिना बिकी किताबों को सजा कर अपने पुस्तक-भंडार की शोभा भी बढ़ा सकेगा। नाट्यकार और नाटक कंपनी के संचालक के कार्यक्षेत्र भी इसी प्रकार जुड़े हुए हैं। साफे और ताले बनाने वालों के धंधों को भी युग्म-व्यवसाय कहा जा सकता है। रुपया रखने के संदूकों के लिए ताले चाहिए और ताले बनाने का व्यवसाय करने के लिए रुपया चाहिए। यही अन्योन्याश्रित संबंध ढाबे वालों और दवाखानों के संचालकों के बीच पाया जाता है। ढाबों में भोजन करने वाले दवाखानों में आते-जाते रहेंगे ही और इर्द-गिर्द के गांवों से अस्पताल में उपचार के लिए आने वाले लोग ढाबों का आश्रय भी लेंगे। यह तो एक कभी न टूटने वाली श्रृंखला है। कई दिन रुग्णालय में रहकर ठीक हो जाने वाला रोगी जैसे ही ढाबे में भोजन करके अपने गांव जाने को निकलेगा कि उसे अतिसार या पेचिश ने घेरा ही समझिये। ढाबे और दवाखाने, इनमें से एक के भी शिकंजे में आदमी एक बार आया कि दोनों का नियमित ग्राहक हुए बिना उसका छुटकारा नहीं है।

हलवाई की दूकान और समाचारपत्र का संपादन भी उपरोक्त उदाहरणों में

वर्णित, परस्पर पूरक श्रेणी के जुड़वां धंधे हैं। पत्र में छापने योग्य साहित्य की कमी पड़ने पर मिठाई की दूकान का विज्ञापन छाप कर रिक्त स्थान की पूर्ति की जा सकती है और मिठाई के दोने लपेटने के लिए रद्दी कागज़ की कमी पड़ने पर बचे हुए अखबारों का उपयोग किया जा सकता है। इससे एक ओर मिठाई के शौकीनों को अमूल्य नैतिक उपदेश अनायास ही उपलब्ध होकर देशहित में सहायता मिलेगी; तो दूसरी ओर मिठाई के सान्निध्य से पत्र के साहित्यिक माधुर्य में भी अभिवृद्धि होगी।

अपने पत्र का नाम भी हमने जुड़वां धंधों के सर्वथा अनुरूप रखा। यह तो सभी जानते हैं कि हलवाई शब्द की उत्पत्ति अरबी के हलवा शब्द से हुई है। अतः बहुत सोच-विचार के बाद हमने अपने उपदेश-परक पत्र का नाम रखा 'नैतिक हलवा'। इससे आगे चलकर हमें बहुत लाभ हुआ। एक बार हमने अपनी दूकान के विशुद्ध देसी घी से बने हुए हलवे के बड़े-बड़े दोने अपने अखबार में लपेट कर कई समालोचकों को नमूने के तौर पर भेज दिये। इसका बिजली का-सा असर हुआ। यार लोगों ने हलवा डकारने के बाद अपना-अपना अभिप्राय लिख भेजा। अधिकांश लोगों की राय यही रही कि 'आपका हलवा अत्युत्तम है।' उनकी इस सिफारिश का लाक्षणिक अर्थ लगाकर मैं उनके पत्रों को अपने अखबार में मौके की जगह छापने लगा। इससे पत्र का खूब प्रचार हुआ और ग्राहक संख्या बहुत बढ़ गई। अब आप ही अंदाजा लगा सकते हैं कि हलवाई की दूकान से समाचार पत्र को कितना लाभ पहुंचता है। उसके इन उपकारों का बदला मेरा पत्र प्रतिदिन हजारों जन्म लेकर भी नहीं चुका सकता। यहां एक बात का स्पष्टीकरण आवश्यक है। आलोचकों की उपरोक्त राय को मैं अपने पत्र में 'हमारे हलवे के संबंध में विद्वान समालोचकों की राय' जैसा संदिग्ध शीर्षक देकर छापता था। यह बेशकीमती राय हमारे 'हलवे' के दोनों रूपों पर चरितार्थ हो सकती थी। हमारी इस सावधानी से यही प्रमाणित होता है कि नैतिक उपदेश-परक पत्र-पत्रिकाओं का संपादन करने वालों को कितना सतर्क रहना पड़ता है और खुद भी नैतिक मार्ग पर चलने की कितनी भारी जिम्मेदारी निबाहनी पड़ती है।

'नैतिक हलवा'—कहां तो यह संक्षिप्त और सारगर्भित नाम, और कहां आजकल के समाचारपत्रों के लंबे-चौड़े और अर्थहीन नाम। कई पत्र अपने शहर

या प्रदेश के नाम के साथ 'समाचार' जैसे व्यक्तित्वहीन शब्द की पूंछ जोड़कर साहित्यिक संसार में भ्रमण करना चाहते हैं। परंतु अपने नगर या जिले की खबरें छापने के बजाए वे अकसर वैयक्तिक निंदा और विघटनात्मक आलोचना के दलदल में ही फंसे रहते हैं। कुछ पत्र अपने नगर के साथ 'वैभव' या 'दर्पण' जैसा भव्य शब्द जोड़कर अपना नामकरण करते हैं जबकि कुछ पाठकों की प्रशंसा की राह देखे बिना अपने मुंह मियां मिट्ठू बनकर अपनी तुलना सूर्य, चंद्र, सागर आदि भव्य तत्वों के साथ करते रहते हैं।

'पत्रकार महोदय'—इस सम्मान-सूचक संज्ञा के प्रति बचपन से ही मुझे बहुत आकर्षण था। परंतु इस संबोधन के साथ-साथ कितनी जिम्मेदारी सिर पर आती है इसका मुझे उस समय ज्ञान नहीं था। जब अपने ऊपर यह दायित्व आ पड़ा तब उसका बोझ छाती पर रखी हुई शिला के जैसा महसूस होने लगा। पहली बार संपादकीय लिखने के लिए मैं मूछों पर ताव देते हुए और बड़ी लापरवाही से सिगार फूंकते हुए बैठा। परंतु एक वाक्य भी लिखना दूभर हो गया। बीच-बीच में 'कागज़ खुरदरा है', 'कलम अच्छी नहीं है', 'स्याही फीकी है'—इत्यादि "नाच न जानूं आंगन टेढ़ा" श्रेणी की शिकायतें करके नौकरों को खरीखोटी सुनाता रहा। इसका भी कोई परिणाम नहीं निकला। जितनी आसानी से गालियां मुंह में आती हैं, उतनी सरलता से गंभीर या अर्थपूर्ण शब्द नहीं आते। घंटा भर हुआ, पर "जबसे दयालु अंग्रेज सरकार का राज्य शुरू हुआ है तबसे···" इस अधूरे, घिसे-पिटे और चापलूसी भरे वाक्यांश को छोड़कर एक शब्द भी नहीं सूझा। ललाट पर पसीने की बूंदें चमकने लगीं, शरीर कांपने लगा, मुंह का पानी सूख गया, आंखों में आंसू भर आये और रोंगटे खड़े हो गए। काव्यग्रंथों में वर्णित आठों सात्विक भावों का एक साथ उद्रेक होने पर भी उपयुक्त शब्द नहीं सूझे सो नहीं सूझे और नाहक इस अव्यापारेषु व्यापार में पड़ा ऐसी निराशा की भावना मन में उठने लगी। परीक्षा के समय कोई प्रश्नपत्र कठिन होने पर परीक्षार्थी के मन में जो खलबली मचती है, उसका अनुभव परीक्षा में बैठने की जहमत उठाये बिना मुझे अनायास ही मिल गया।

परंतु कठिनाई के सामने सिर झुका देना मेरा स्वभाव नहीं और कभी संकट आने पर उसमें से छूटने का उपाय भी अपने-आप सूझ जाता है। शीघ्र ही अपने उच्च धरातल से उतर कर मैं पुस्तकालय में पहुंचा और पुराने पत्रों की फाइलें

निकालकर पन्ने पलटने लगा। उनमें छपे भद्दे श्लेष, गंदे विचार और गाली-गलौज भरी भाषा को देखकर मेरा आत्मविश्वास लौट आया। ऐसा लगा कि इस प्रकार की कीचड़-उछाल तो मैं भी आसानी से कर सकता हूं। उनमें बार-बार दोहराये जाने वाले शब्दों और अपशब्दों की मैंने फहरिश्त बना ली और उनकी सहायता से दो-चार कालम भर डालने का निश्चय किया। यह काम अपेक्षा से कहीं अधिक सरल सिद्ध हुआ। पहले अंक में मैंने सिर मुंड़वाने की प्राचीन आर्य प्रथा से होने वाले लाभों का वर्णन किया और सुधारकों की बिना पानी के हजामत बना डाली। इससे पत्र को बड़ी संख्या में ग्राहक मिल गये। पहले ही प्रयत्न में ग्राहकों की संख्या में वृद्धि और सुधारकों को दी हुई गालियों के बीच जन्य-जनक का संबंध देखकर मैंने आज तक वही परंपरा जारी रखी है। देशकाल का बिलकुल विचार किये बिना और संदर्भ या औचित्य की रंचमात्र भी परवाह किये बिना अब मैं सुधारकों की बहत्तर पीढ़ियों का उद्धार करता रहता हूं। हमारे पत्र के पाठक इस बात की बेझिझक पुष्टि करेंगे। मुझे इसमें इस हद तक सफलता मिली है कि शीघ्र ही विष्णु सहस्रनाम के ढंग पर लिखा हुआ हमारा 'गाली पंचशती' नामक ग्रंथ प्रकाशित होने वाला है। होनहार संपादकों को उसका अध्ययन अवश्य करना चाहिए। इससे एक तो अपशब्द-वाङ्मय में हमारी कितनी गति है इसका उन्हें अनुभव हो जाएगा और दूसरे अपने लेखों में इन शब्दों को थोड़ी-थोड़ी दूर पर बो देने से विपुल द्रव्यलाभ की फसल उनके हाथ लगेगी। अमरकोश से लगाकर आज तक शब्दों के असंख्यकोश विद्वानों ने रचे होंगे; परंतु 'अपशब्द-कोश' के क्षेत्र में हम अग्रणी होने का दावा करते हैं।

समाचारपत्रों के लेखों के कुछ निश्चित उद्गम-स्थान होते हैं यह बात भी थोड़े-से अनुभव के बाद हमारी समझ में आ गयी। इन निमित्तों में से कुछ तो नित्य होते हैं और कुछ नैमित्तिक। राष्ट्रीय कांग्रेस, सनातनधर्म परिषद्, गणेशोत्सव, समाज-सुधार परिषद् आदि संस्थाओं के वार्षिक अधिवेशन नित्य श्रेणी के प्रेरणास्रोत साबित होते हैं। इनमें से पहले तीन की प्रशंसा और चौथे की निंदा या खिल्ली के मालमसाले से महीनों तक अपने पत्र के स्तंभों को भरा जा सकता है। अब रहे नैमित्तिक स्रोत! युद्ध, राज्य क्रांतियां, चुनाव, प्रसिद्ध व्यक्तियों की मृत्यु, विधवा-विवाह आदि विषय इस वर्ग में आते हैं। ईश्वर ने साम्राज्यवादी प्रजाओं के मन में महत्वाकांक्षा के जो बीज बोये हैं वे हम पत्रकारों

के लिए बड़े उपजाऊ सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार मनुष्यजाति के आदिकाल से चली आने वाली उसकी युद्ध-लालसा भी लेखकों की कलमों को व्यस्त रखने में बहुत सहायक होती है। अभी-अभी समाप्त होने वाले बोअर युद्ध ने लगातार तीन वर्षों तक हमारे पत्र के लिए गरमागरम समाचारों की रसद जुटाई थी। अफ्रीका में पहली गोली छूटते ही हमारे लेखों का तोपखाना शुरू हो गया था। वहां जितना खून बहा होगा, यहां उतनी स्याही बहने लगी। वहां होने वाले संगीनों के हमलों के साथ-साथ यहां हमारे शब्दबाण छूटने लगे। किलों में पड़ने वाली दरारों को युद्धक्षेत्र के सैनिक जिस तत्परता से पाटते होंगे उतनी ही रफ्तार से हम हमारे अखबार के खाली स्तंभों को भरने लगे। आखिर जब वहां संधि की बातें होने लगीं तब कहीं हमारा उत्साह भंग हुआ। लगातार तीन वर्ष तक चेंबरलेन को युद्धनीति सिखाने का उपक्रम करने के बाद सुधारकों को खरी-खोटी सुनाना बड़ा फीका-फीका लगने लगा। परंतु भगवान के दरबार में देर है, अंधेर नहीं। दक्षिण अफ्रीका में वैमनस्य की आग जैसे ही कुछ ठंडी पड़ी कि उत्तरी अफ्रीका में मुल्लाओं का नंगानाच शुरू हो गया और उसका शमन होते-होते सुदूर पूर्व में रूस और जापान के बीच महायुद्ध छिड़ गया। इस लड़ाई ने तो पहले की सब कसर पूरी कर दी। हमारे शब्दवेधी बाण फिर चलने लगे और हमें खाना फिर से हजम होने लगा।

इन्हीं दिनों कलकत्ते में राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन होने वाला था। बंबई के एक प्रसिद्ध देशभक्त उसके अध्यक्ष निर्वाचित हुए थे। उनके सचिव के साथ मेरा घनिष्ठ परिचय था। उसके माध्यम से यदि अध्यक्षीय अभिभाषण की प्रतिलिपि पहले ही मिल जाए तो हमारे पत्र का विशेषांक प्रकाशित करके उसमें उसे छापा जा सकता था। साथ ही लोगों के मन पर यदि यह ठसा दिया जाए कि हमने पूरा भाषण तार से मंगवा कर छापा है, तो हमारे पत्र की प्रतिष्ठा बढ़ने की पूरी संभावना थी। मैंने तुरंत सचिव महोदय से संपर्क स्थापित किया और उन्होंने बड़े आनंद से भाषण की प्रतिलिपि मुझे दे दी। अधिवेशन वाले रोज दोपहर बाद मैंने उस भाषण का मुखपृष्ठ पर समावेश करके हमारे पत्र की हजारों प्रतियां छपवा डालीं। भाषण का मैंने कुशलता से संपादन भी किया था। हर दो-तीन वाक्यों के बाद 'तालियां', 'हंसी', 'श्रोताओं द्वारा प्रचंड हास्यनिनाद', 'गगनभेदी करतलध्वनि' आदि अनुमोदनपरक शब्द बिखेरना भी मैं नहीं भूला था। इसके बाद 'हमारे

विशेष संवाददाता द्वारा तार से प्राप्त' इत्यादि उपशीर्षक जोड़कर बड़ी धूमधामसे भाषण छाप डाला गया। शाम को हमारे मिष्टान्न-भंडार में रोज से कहीं अधिक भीड़ जमी हुई देख कर मेरे आनंद का पारावार न रहा। सोचा कि अपेक्षानुसार लोग मेरा अभिनंदन करने के लिए ही आये होंगे। मैंने अत्यंत व्यस्तता का दिखावा करते हुए आंखों पर ऐनक लगाया और इधर-उधर देखते हुए हर आगंतुक की ओर कृपाकटाक्ष फेंकने लगा। परंतु लोगों को उचित मात्रा में आदरभाव व्यक्त न करते देख कर मुझे कुछ शंका हुई। इतने में हमारे एक अड़ंगेबाज सहयोगी ने बड़े तपाक से मुझसे पूछा, "कहिये पत्रकार महोदय, अध्यक्ष का पूरा अभिभाषण तार से मंगवाने में खर्च तो बहुत हुआ होगा ?"

"निरपेक्ष देशसेवा में पैसा क्या प्राण भी खर्च हो जाएं, तो कोई हर्ज नहीं।" मैंने यथासंभव लापरवाही का भाव चेहरे पर लाते हुए प्रत्येक शब्द का तौल संभालते हुए, कुछ अधिकार के स्वर में उत्तर दिया।

"बीच-बीच में 'तालियां', 'हास्यध्वनि' आदि टिप्पणियां जोड़ देने से तो पढ़ने वालों को मानो सामने बैठे हुए भाषण सुन रहे हों, ऐसा आभास होता है।"

"किसी भी भाषण को यथासंभव शब्दशः छापने का और साथ में श्रोताओं की प्रतिक्रिया देते रहने का हम हमेशा ही प्रयत्न करते हैं।"

"आपका संवाददाता बड़ा जानकार और अनुभवी आदमी मालूम देता है।"

"हमारी मनुष्यों की परख सदा इसी प्रकार की होती है।"

"सत्तवचन, महाराज। पर कभी-कभी आपके इन चुनीदा लोगों को होने वाली घटनाओं से कहीं अधिक जानकारी रहती है।"

"क्या मतलब ?"

"यही, कि कल जो भाषण हुआ ही नहीं उसका पूरा ब्योरा उसने भेजा है। इस दृष्टि से उसकी जानकारी सचमुच ही विलक्षण कोटि की होनी चाहिए।"

पहले तो उसकी बातों का अर्थ ही हमारी समझ में नहीं आया। आदमी परले सिरे का धूर्त था। स्पष्ट कुछ बोला नहीं। परंतु बाद में जब हमें मालूम हुआ कि उस रोज होने वाला राष्ट्रीय सभा का अधिवेशन दो दिन के लिए स्थगित कर दिया गया था, तब हमारी फजीहत का ओर-छोर न रहा। जिन तालियों और हास्यध्वनि को मैंने खुले हाथों पूरे भाषण में छिड़का था उनका सूद सहित आस्वादन मुझे करना पड़ा।

किसी घटना के होते ही उसका इतना ब्योरेवार और सिलसिलेवार वर्णन जो तुरंत अखबारों में छपता है, उसका रहस्य यही होता है। संबंधित लेख घटना के होने से कई रोज पहले सावधानी से लिखा हुआ होता है। यह नियम प्रसिद्ध पुरुषों के मृत्यु लेखों के बारे में तो सौ फीसदी सच होता है। जिस अकाल मृत्यु के संबंध में लेखक अपने लेख में शोक और आश्चर्य व्यक्त करता हुआ मरने वाले की याद में मरसिया पढ़ता है, उसका लेखन, हो सकता है कि उसने कई महीने पहले भरे पेट पर हाथ फेरते हुए शराब के गहरे नशे में डूबकर किया हो। मृत महापुरुष के स्वास्थ्य के संबंध में साक्षात् धन्वन्तरी को भी आशंका हो उससे पहले ही और वह अपने बालबच्चों के साथ आनंद से कालक्रमण कर रहा हो तब भी संपादक लोग उसकी मृत्यु के कारणों की मीमांसा करते रहते हैं; उसकी आत्मा को शांति प्रदान करने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते रहते हैं; उसके संबंधी जनों का गहरी समवेदना से आश्वासन करते रहते हैं और उसकी मृत्यु के कारण देश की जो कभी पूरी न हो सकने वाली क्षति हुई है उसके संबंध में खेद और चिंता व्यक्त करते रहते हैं।

यहां तक समाचारपत्रों को नित्य या नैमित्तिक स्रोतों से जो रसद मिलती रहती है उसका विवेचन हुआ। परंतु इन मसलों के चुक जाने पर उन्हें फाके पड़ने लगते हैं और उदर-निर्वाह के लिए वे भूखे भेड़ियों की तरह एक-दूसरे पर टूट पड़ते हैं। एक-दूसरे के विचारों और सिद्धांतों पर बड़ी बेरहमी से आक्रमण होने लगता है और अवाच्य गालियों की बाढ़ से उनके पन्ने हाशिये से हाशिये तक भर उठते हैं।

समाचारपत्रों के संपादकीय और फुटकर लेख लिखने से आने वाली अड़चनों और उन्हें दूर करने के उपायों का विवेचन ऊपर हो चुका है। इन लेखों को छापने के बाद जो जगह बच जाती है उसे अकसर विज्ञापनों और सरकारी विज्ञप्तियों से भरा जाता है। विज्ञापन बहुधा दवाइयों के होते हैं। 'खाज कुठार', 'मरहम तिलिस्माती' या 'दद्रुगजकेसरी' जैसी दवाइयों के विज्ञापनों का इनमें महत्वपूर्ण स्थान होता है। इन रामबाण औषधियों से जख्म किस हद तक भरते हैं यह तो हम नहीं जानते पर पत्रकारों की जेबें निश्चित रूप से भरती हैं। इसी प्रकार विलियम साहब की 'लक्कड़ हजम-पत्थर हजम' गोलियों से क्षुधा प्रदीप्त होती है या नहीं यह कहना तो मुश्किल है पर संपादक महोदय की क्षुधा का

निवारण करने की शक्ति उनमें अवश्य होती है।

हमारे पत्र में जिन औषधियों के विज्ञापन नियमित रूप से छपते थे उनमें से कुछ के रामबाण गुणों का तो हमें प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। छापेखाने में काम करने वाले एक कारीगर को गठिया हो गया था। 'गठिया विनाश' नामक परम गुणकारी औषधि के मुद्रित टाइपों पर उंगलियां फेरने भर से वह अच्छा हो गया। इसी प्रकार हमारे कहार का लड़का बोलते समय हकलाता था। 'हकलाने पर रामबाण औषधि' का विज्ञापन उसकी आंखों के सामने रखते ही वह मेल गाड़ी की रफतार से शुद्ध भाषा बोलने लगा। 'श्वेत कुष्ठ पर जालिम मरहम' नामक संजीवनी का विज्ञापन पत्र में जहां छपता था वह जगह दिनों-दिन कुछ स्याह पड़ने लगी। 'गलित कुष्ठ पर अकसीर दवा' हमने एक रोगी को दी उसका प्रभाव तो कल्पना से परे पड़ा। रोग का जड़मूल से नाश होने के साथ-साथ रोगी का भी नामोनिशान मिट गया। इधर दवा उसके पेट में गई कि उधर उसके प्राण निकल गये। पाठकों के मार्गदर्शन के लिए, ऐसी विलक्षण रोग-निवारक शक्तियों वाली इन औषधियों की हम अपनी ओर से भी सिफारिश करते रहते थे, यह अलग से बताने की आवश्यकता नहीं।

हमारे पत्र के समाचारों को यथासंभव मनोरंजक बनाने की ओर आरंभ से ही मैंने बहुत अधिक ध्यान दिया था। इससे पाठक हमारी अन्य नीतियों की भी सराहना करते थे। लोकरंजन के लिए मुझे अकसर हर बात में अपनी तरफ से भी काफी नमक-मिर्च लगाना पड़ता था। परंतु जनसेवा का व्रत लेने वालों को इन छोटे-छोटे त्यागों के लिए सदा एक पांव पर तैयार रहना चाहिए। हमारे पत्र की पुरानी फाईलें टटोलने पर निम्नोक्त प्रकार के समाचार पन्ने-पन्ने पर मिल सकेंगे :—

"भोले गांव के प्रसिद्ध हनुमान-मंदिर में रामनवमी के दिन हनुमानजी को जोरों का पसीना आया। जानकारों के मतानुसार यह बहुत बड़ा अपशकुन होता है। इस चमत्कार के दर्शन के लिए हजारों की भीड़ जमा हो गई। हर दर्शनार्थी से एक-एक पैसा चढ़ावा लेकर ही उसे भीतर छोड़ा गया। इससे एक ही दिन में सौ रुपये से भी अधिक रकम जमा हो गई है। बजरंगबली के गाढ़े पसीने की इस कमाई का उपयोग अकाल निवारणार्थ करवाये जाने वाले ब्राह्मण भोजन में होने वाला है। आशा है सनातनधर्म द्वेष्टाओं की अब तो आंखें खुलेंगी।"

"दक्षिणी अमरीका के लंबाडा प्रदेश में भूकंप के कारण जमीन में एक बहुत लंबी दरार पड़ गयी है। दरार में से शेषनाग का फण दिखाई देता है। नागराज के मस्तक की मणि का प्रकाश पूरी दरार में फैला हुआ है। इसके बाद भी हमारे पुराणों की कथाओं को कपोलकल्पित करने की हिमाकत कोई वज्रमूर्ख ही करेगा।"

इन समाचारों की प्रामाणिकता तो समझदार पाठकों के ध्यान में आ ही गई होगी। सारी करामात श्रद्धा और विश्वास की है। "जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।" श्रीकृष्ण के मुखविवर में अर्जुन को जिस प्रकार ब्रह्मांड दर्शन हुआ था उसी प्रकार मैं भी हमारे पत्र के स्तंभों में पाठकों को विराट् रूप-दर्शन करवाता रहता था।

किसी महापुरुष की मृत्यु होते ही मैं बड़े आनंद से—नहीं, नहीं,···गलती हो गयी···बड़े शोक से—उस रोज का अंक बंद रखता और दूसरे दिन से चरित्र-परक लेखों की झड़ी लगा देता। हमारी परम पूज्य महारानी साहिबा मलिका विक्टोरिया की मृत्यु के बाद तो हमने महीने भर तक पत्र को बंद रखने का निश्चय किया था। पाठकों के आग्रह के सामने हमारा यह संकल्प टिक न सका यह अलग बात है।

इस दरमियान एक मासिक पत्रिका शुरू करने का विचार भी मेरे मन में आया था। परंतु पत्रकारिता के इन दोनों प्रकारों में जमीन-आसमान का अंतर होता है। मासिक पत्रिका फूलों की सुंदर बगिया के समान होती है जबकि दैनिक पत्र होता है गेहूं का खेत। बगिया देखने में बेशक अधिक सुंदर और आकर्षक होती है; परंतु उदरनिर्वाह के लिए खेत ही बेहतर रहता है। मासिक पत्रिका की शानशौकत अधिक ऊंचे दरजे की होने पर भी आजीविका के साधन के रूप में दैनिक पत्र का स्थान श्रेष्ठ होता है। इसके अलावा मासिक पत्रिका का मुद्रण-प्रकाशन बड़े खर्च की बात होती है। वह है रईसों की चोचलेबाजी जबकि समाचार-पत्र है रोज की दाल-रोटी। फिर एक अड़चन यह भी है कि मासिक पत्रिकाओं का प्रकाशन नियमित रूप से अनियमित होता है। किस्से-कहानियों के राजा-महाराजा जिस प्रकार छप्पर-पलंग छोड़कर कुछ देर से उठते हैं, या सौतेली मां से झगड़ कर नसीब आजमाने के लिए निकल पड़ने वाले छोटे राजकुमार का भाग्य कुछ देर से ही चमकता है, उसी प्रकार मासिक पत्रिकाओं

के प्रकाशन में विलंब होना अनिवार्य होता है। हर महीने की पहली तारीख को ग्राहकों के हाथ में पड़ना अभिजात पत्रिकाओं की शान के खिलाफ होता है। कुछ पत्रिकाएं तो सामान्य लोग जब दिवाली का उत्सव मनाते हैं तब कहीं बड़ी मुश्किल से होली मना पाती हैं। कुछ सूखा समाप्त होकर बहुतायत की तीन-तीन फसलें बीत जाने पर भी अकाल-निवारण की चिंता में डूबी रहती हैं और दुर्भिक्षकालीन राहत कार्यों की व्यवस्था किस प्रकार होनी चाहिए इसकी बेशकीमती राय सरकार को देती रहती हैं। इन सब बातों से सबक सीखकर पत्रिका प्रकाशित करने का विचार मैंने छोड़ ही दिया।

पत्रकारों का समाज में बड़ा मान-मरतबा होता है, यह इस व्यवसाय का सबसे बड़ा लाभ है। चाहे जिस सभा में जाने की उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता होती है। राष्ट्रीय कांग्रेस आदि महत्वपूर्ण संस्थाओं के अधिवेशनों में उनके लिए आरक्षित आसनों की व्यवस्था की जाती है। चाहे जिसको चाहे जब चाहे जैसा उपदेश देने का तो उन्हें जन्मजात अधिकार होता है। एक बार तो मैंने खुद चचा बिस्मार्क को राज्य-शकट किस प्रकार चलाना चाहिए इसका अत्यंत सारगर्भित उपदेश दिया था। दूसरी बार वाइकाउंट मोर्ले साहब को ग्रंथ रचना और वाक्यविन्यास के संबंध में मौलिक सूचनाएं देकर उनके उत्साह को बढ़ाया था।

शहर में जब कभी कोई नाटकमंडली जाती है तब हमारे कला-विषयक ज्ञान में उफान पर उफान आने लगते हैं। कंपनी की ओर से हर पत्र के लिए दो-तीन निःशुल्क पास बंधे रहते हैं। पास न मिलने पर हम उनका जीना मुहाल कर सकते हैं। किसी भी ग्रंथकार की नई पुस्तक प्रकाशित हुई कि उसकी एक प्रति हमें मिलनी ही चाहिए। अन्यथा हम साक्षात वाचस्पति को भी अनपढ़ मूर्ख प्रमाणित कर सकते हैं और साधारण लेखकों की तो शब्दों के कोड़े मार-मार कर चमड़ी तक उधेड़ सकते हैं। इन सब से भी बड़ा अधिकार यह मिलता है कि हम अपना उल्लेख उत्तम पुरुष सर्वनाम के एकवचन में न करते हुए सम्मानार्थ बहुवचन में कर सकते हैं जैसा कि इस लेख में जगह-जगह पर किया गया है।

यह सब होने पर भी अब तक हमारे पत्र की खपत उतनी समाधान कारक नहीं हो पाई है। लोकप्रियता के उपरोक्त सारे हथकंडे आजमा लेने पर भी एक कमी रह गयी है। वह यह कि अब तक कारागृह-निवास हमारे हिस्से में नहीं आया। हमें ऐसी विश्वसनीय खबर मिली है कि संपादक की प्रत्येक जेलयात्रा के

साथ उसके पत्र की ग्राहक संख्या कम से कम पांच हजार बढ़ जाती है। इधर कई लोकमान्य पुरुष कारागृह में हो आने के कारण कारानिवास का दोष भी कम हो गया है। जो कुछ भी हो, हम इस दिशा में प्रयत्नशील हैं और शीघ्र ही इसकी उपादेयता का हमें अनुभव होगा ऐसी आशा है। पिछले कुछ महीनों में हमने अनेक बार समाज के कई प्रतिष्ठित पुरुषों की इज्जत की नमक-मिर्च लगा-लगा कर छीछालेदर की। परंतु अब तक हमें सफलता नहीं मिली है। न तो किसी माई के लाल ने हम पर मानहानि का दावा किया और न हमारे हाथपांवों की हथकड़ीबेड़ी से मंडित होने की लालसा पूरी हुई। अब इसके बाद एक ही उपाय बचा है। वह है चोरी या डकैती। इस मार्ग पर अग्रसर होते ही यश मिलने का हमें पूरा विश्वास है। तब तो हमारे दोनों हाथों में लड्डू रहेगा। डकैती यदि पच गयी, तो गहरा माल हाथ लगेगा और जीवन भर के लिए रुपया कमाने के प्रपंच से मुक्ति मिल जाएगी। यदि पकड़े गये, तो लंबी सजा होकर जेलयात्रा होगी जिससे पत्र के ग्राहकों की संख्या बढ़ जाएगी। एक-तरफ धनसंपत्ति का कुआं है, तो दूसरी ओर सफलता की खाई। पांव किसी भी ओर फिसले, अपनी तो पांचों घी में रहेंगी। फिलहाल तो मन इसी आनंदसागर में डुबकियां लगा रहा है। आगे की रामजी जानें।

12. बंबई का दीपोत्सव

सन् 1903 के जनवरी महीने में सम्राट एडवर्ड सप्तम के राज्यारोहण के उपलक्ष्य में दिल्ली में बड़ा भारी समारोह होने वाला था। कई दिन पहले ही इसकी सूचना मिल गई थी। समारोह बहुत प्रेक्षणीय होगा इस विषय में तो कोई शंका ही नहीं थी। पर यह सारा तमाशा किसके लिए था? बेशक, सिर्फ उनके लिए, जो बेशुमार रुपया खर्च करने की कूवत रखते हों। हमारे जैसे सामान्य लोगों के लिए यह तमाशा नहीं था। अगर पागलपन के आवेश में हमारी हैसियत का कोई आदमी दिल्ली गया भी होता, तो सम्राट के राज्यारोहण के साथ-साथ उसका स्वर्गारोहण भी लोगों को देखना पड़ता। जहां किसी भी कीमत पर तमाशा देखने पर उतारू अनगिनत तमाशबीनों का मजमा इकट्ठा हुआ हो वहां सिवा धक्कों के क्या पल्ले पड़ता है? और भीड़ से रौंदे जाने में भी क्या देर लगती है? सम्राट के राज्यारोहण के साथ-साथ अपना स्वर्गारोहण भी निमटा लेने की कोई ख्वाहिश मुझे नहीं थी। हमारे जैसे राज्यनिष्ठ और राजभक्त लोगों को यह शोभा नहीं देता। जिस भीड़ में पूरी की पूरी रेलगाड़ियां लापता हो सकती थीं, वहां गरीब बेचारे सुदामा को कौन पूछता?

सौभाग्य से दिल्ली के साथ-साथ बंबई में भी जश्न मनाया जाने का निर्णय हुआ। बंबई हमारे शहर पूना से रेल द्वारा सौ सवा-सौ मील से अधिक दूर नहीं है। फिर वहां के प्रसिद्ध वकील रायसाहब कृष्णाजीपंत चक्रपाणि मेरे बचपन के मित्र और सहपाठी थे। एक बार उनके यहां पहुंच जाने पर समारोह देखने में कोई दिक्कत नहीं होगी और खर्च भी अधिक नहीं होगा ऐसा मुझे विश्वास था। पांच-सात रुपयों के खर्च में ऐसा प्रेक्षणीय समारोह देखने का मौका चूक जाता तो मेरी गिनती पागलों में ही होती।

रायसाहब मेरे हमजोली होने के नाते उनका मुझ पर निस्सीम प्रेम था। बचपन में कक्षा में उनका नंबर हमेशा पहला रहता था और मेरा निरपवाद रूप से आखिरी। इस कारण से हमें एक ही बेंच पर पास-पास बिठाया जाता था। इतने निकट संपर्क में रहने वाली जड़ वस्तु के प्रति भी हमारे मन में लगाव उत्पन्न हो जाता है, तो आदमी तो फिर आदमी है। अत: रायसाहब के मेरे प्रति अनुराग में अचरज की कोई बात नहीं थी। समानशील पुरुषों में एक-दूसरे के प्रति सदा एक प्रकार का आकर्षण पाया जाता है। मैं उनके जैसा बुद्धिमान या धनवान तो नहीं था, पर कुछ बातों में उनके ही समान अद्वितीय था। वे जिस प्रकार अपना पहला नंबर और किसी को नहीं लेने देते थे, इसी प्रकार मैं भी अपने आखिरी नंबर के आसपास किसी को फटकने भी नहीं देता था। यह लासानीपन ही हम दोनों के बीच का साधर्म्य था।

चलते समय मैंने नितांत आवश्यक सामान ही साथ लिया। कपड़ों में एक रेशमी किनारे का मैला-कुचैला नागपुरी दुपट्टा रखा। पगड़बंद के यहां से बड़े करीने से बंधवा कर मंगवाया हुआ साफा साथ लिया। रायसाहब जैसे प्रतिष्ठित और धनवान व्यक्ति के यहां जाने के लिए ये दोनों चीजें नितांत आवश्यक थीं। इसके अलावा कुछ नाश्ते का सामान भी साथ ले लिया। सफर दूर का हो या पास का, कुछ चना-चबैना और सत्तू साथ में रखने का मेरा नियम था। मौका मिलने पर स्टेशन पर नहा-धो कर और मुकटा पहन कर गाड़ी मैं यह निखरा उपाहार कर लेने की मेरी पुरानी परिपाटी थी।

स्टेशन पर मैं गाड़ी आने से डेढ़-दो घंटे पहले पहुंच गया। अंग्रेजी ऐंठ से ऐन वक्त पर स्टेशन पर पहुंच कर भागते-दौड़ते हुए गाड़ी पकड़ने की अपेक्षा काफी समय पहले आकर उसकी राह देखना मैं अधिक पसंद करता हूं। इससे कुछ देर रुकना जरूर पड़ता है, पर गाड़ी कभी चूकती नहीं।

मेरे मन में तब तक यही भावना थी कि अधिकांश सैलानी तो दिल्ली-दरबार देखने के लिए जाएंगे इसलिए बंबई की गाड़ी में भीड़ बिलकुल नहीं होगी। दिल्ली के बजाय बंबई जाकर उत्सव देखने की कल्पना को में खास अपने दिमाग की पेटंटशुदा उपज मान रहा था और इसीलिए मैंने किसी से उसका जिक्र भी नहीं किया था। घर से निकलते समय मैंने अपने गंतव्य स्थान के रूप में और ही किसी शहर का नाम बता दिया था। अपनी इस दूर की सूझ को लेकर मैं इतना

खुश था कि सिर पर साफे को तिरछी अदा से बांध कर और दुपट्टे को कंधे पर डाल कर मैं जूते फटफटाता हुआ बड़ी शान से प्लेटफारम पर चहलकदमी कर रहा था। किसी के पूछने पर कि 'आप कहां जायेंगे', मैं अकड़कर अंग्रेंजी में उत्तर देता था, "बॉम्बे"। परंतु गाड़ी का समय ज्यों-ज्यों पास आता गया त्यों-त्यों स्टेशन पर तांगों के झुंड आने लगे और उनमें से मेरी अपेक्षा कई गुना शानदार लिबास में सजे हुए लोग उतरने लगे। शीघ्र ही पूरा स्टेशन लोगों की भीड़ और शोरगुल से भर गया। कुछ देर पहले मैं जो शेर की सी शान से प्लेटफारम पर घूम रहा था, अब डरे हुए खरगोश की तरह एक कोने में दुबक कर बैठ गया। कुछ देर बाद गाड़ी आयी। गाड़ी अभी ठीक से रुकी भी नहीं थी कि उतरने और चढ़ने वाले यात्रियों की एकबारगी ऐसी धकापेल मची कि कुछ सूझना मुश्किल हो गया। मैंने कई डिब्बों में घुसने का प्रयत्न किया, पर सब व्यर्थ। हर डिब्बे में लोग भेड़-बकरियों की तरह भरे हुए थे और तिल रखने को भी जगह नहीं थी। जहां भी घुसने का प्रयत्न करता कि भीतर बैठे हुए यात्री "अरे-अरे,…कहां धंसे आ रहे हो…यहां क्या हमारे सिर पर बैठोगे ?"—इत्यादि शब्दों से स्वागत करते। उधर गाड़ी छूटने का समय हो रहा था। ऐसे में यदि किसी ने सिर पर तो क्या, पांवों में भी बैठने की जगह दी होती तो मैंने उसके पांव धो कर पिये होते। डिब्बे के भीतर घुसे हुए और घुसना चाहने वाले यात्रियों के दृष्टिकोण में मनुष्य स्वभाव के सनातन नियमानुसार सदा जमीन-आसमान का अंतर पाया जाता है। जो यात्री डिब्बे में घुसने से पहले वसुधैव कुटुम्बकम् वृत्ति की उपादेयता पर व्याख्यान झाड़ता रहता है वही भीतर आते ही हाथ-पांव पसार कर अधिक से अधिक जगह घेरने की कोशिश करता है और भी आना चाहने वालों को कानून सिखाने लगता है।

आखिर राम राम करके और तो सब मुसाफिरों को जगह मिल गयी पर मैं और एक बहुत मोटा मारवाड़ी सेठ, ये दो यात्री बाहर रह गये। गार्ड ने हमारे साथ चल कर हर डिब्बे का मुआइना किया। एक डिब्बे में उसे एक आदमी के खड़े रहने भर की जगह दिखाई दी। यह स्थान हम दोनों में से किसे मिलेग इस संबंध में शंका की गुंजाइस ही नहीं थी। मुझे आवश्यकता थी एक आदमी की जगह की जब कि मारवाड़ी सेठ की सुखी काया जगह घेरती तीन आदमियों की। अतः गार्ड ने मुझे किसी तरह भीतर ठंस कर दरवाजा बंद कर दिया।

खड़े रहने को ही सही, पर डिब्बे के भीतर जगह मिल जाने के कारण मैं बहुत खुश हुआ और उस स्थूलकाय राजस्थानी की ओर विजयमिश्रित उपहास से देखने लगा। वह बेचारा भीतर आने के लिए हर आदमी से हाथ जोड़-जोड़ कर चिरौरी कर रहा था। कुछ देर पहले ही मैं उसके साथ समदुखी था, यह भूल कर अब मैं भी उसकी खिल्ली उड़ाने लगा और अशिष्टता से हंसने लगा। इस हृदयहीनता का मुझे तुरंत प्रायश्चित करना पड़ा। हंसी के आवेग में सिर पर का साफा नीचे गिर पड़ा और लोगों के पैरों तले रौंदा जा कर उसने एक अजीब सी लोथ की शकल धारण कर ली। अब औरों के हंसने की बारी थी। मैंने बड़ी कठिनाई से साफे का उद्धार करके उसे सिर पर टिकाया। परंतु पुनर्जन्म के बाद उसका रूपरंग कुछ ऐसा भोंडा हो गया था कि लोग देख देख कर हंसने लगे। आखिर मैंने उसे सिर पर से उतार कर बगल में दबा लिया और मुंह चुराये नंगे सिर खड़ा रहा।

दो-तीन घंटे तक इस तरह खड़े रहने के बाद मुझे थकान महसूस होने लगी। कुछ नाश्ता करके दो घूंट पानी पीने की भी इच्छा हुई। पर नाश्ते की तो बात ही दूर, यहां तो खड़े रहना भी मुहाल था। नाश्ते की पिटारी नीचे से उठाने की या हाथ का कौर मुंह तक जाने की कोई संभावना नहीं थी। अतः जलपान का विचार स्थगित कर देना पड़ा। अगर यह संभव भी होता तो गाड़ी में पीतांबर पहन कर और छूतछात से बचा कर निखरा भोजन कर लेने की मेरी आज तक की परंपरा को तोड़ना पड़ता। क्योंकि भीड़ के कारण पीतांबर पहनने की तो सुविधा नहीं थी और इर्दगिर्द के सब मुसाफिर मुसलमान, ईसाई या अस्पृश्य मालूम दे रहे थे। जनेऊ उनमें से किसी के गले में मिलने की संभावना नहीं थी और गायत्री का उच्चारण तो उन्होंने सपने में भी नहीं किया होगा। गाय के साथ उनकी जबान का जो संबंध आया होगा वह हम ब्राह्मणों की अपेक्षा बहुत निराले किस्म का रहा होगा।

आखिर राम राम करके अग्निरथ से खींचे जाने वाले उस मनुष्यों के छत्ते ने हमें बंबई पहुंचा दिया। गाड़ी के थमते ही उतरने वाले यात्रियों का कुछ ऐसा शोरगुल मचा कि बंबई के सुप्रसिद्ध मछली बाजार की याद आ गई। मैंने रायसाहब को पहले ही सूचना दे दी थी। अतः उनका आदमी स्टेशन पर आया हुआ था। उसके साथ हमारी सवारी रायसाहब के बंगले पर पहुंची। वे फाटक

पर ही खड़े थे। मेरे विदूषकी मुंडासे के कारण पहले तो मुझे पहचानने में उन्हें कुछ दिक्कत हुई पर पास जाने पर उन्होंने मुझे पहचान लिया। प्रणाम-नमस्कार हो जाने के बाद दोनों तरफ से कुशलप्रश्न पूछे गये। दूसरे दिन रोशनी और तीसरे रोज आतिशबाजी होगी यह जान कर मेरे मन में प्रवल उत्सुकता जाग्रत हुई। दोपहर को भोजन के बाद दो-तीन घंटे आराम किया। उठ कर देखा तो पूरा बदन दर्द कर रहा था और पिडंलियों में बांयटे आ रहे थे। यह सब कई घंटों तक एक पांव पर खड़े रहने का परिणाम था। शाम को रायसाहब के साथ उनकी रबड़ के पहियों वाली दो घोड़ों की फिटन में घूमने गया। जाते समय सुबह कचूमर हो जाने वाला साफा घुमा कर उलटी तरफ से पहन रखा था। इससे मैं बंबई के किसी गुजराती सेठ जैसा दिखाई दे रहा था। मेरी इस विनोदवृत्ति की रायसाहब ने बहुत सराहना की। रास्ते भर उनको किये जाने वाले सलाम और नमस्कारों को स्वीकार करता हुआ मैं दियेबत्ती का समय होते-होते बंगले पर लौट आया।

आखिर दीपोत्सव का चिरप्रतीक्षित दिन आया। उस रोज सुबह से ही बंगले में बड़ी हड़बड़ी मची हुई थी। घर के बालबच्चों और अन्य लोगों के लिए एक ट्रामगाड़ी किराये पर तय की गई थी। मैं रायसाहब के साथ उनकी फिटन में जाने वाला था। किन-किन इमारतों पर रोशनी होगी इस बात को लेकर घर के लोगों में चर्चा हो रही थी। बच्चे तो आनंद के अतिरेक से नाचने लगे थे। मैं स्वयं रायसाहब के साथ खुली बग्घी में जाने वाला था इसलिए मुझे औरों की अपेक्षा अधिक आनंद प्राप्त होगा इस विचार से मैं बहुत खुश था। परंतु मेरे इस सौभाग्य से घर के किसी भी आदमी को ईर्ष्या हो रही हो ऐसा दिखाई नहीं दिया। रायसाहब के घर के लोग भी उन्हीं की तरह उदारहृदय होंगे और इसी लिए उन्हें मुझसे ईर्ष्या नहीं हो रही होगी, ऐसा विचार करके मैंने मन को मना लिया और इस परिवार की संतोषी वृत्ति की मन ही मन सराहना करता रहा।

शाम को रायसाहब ने मुझसे थोड़ा-बहुत जलपान कर लेने के लिए बहुत आग्रह किया। परंतु लौट कर ही भोजन करने का मेरा निश्चय देख कर वे चुप हो गये। इसमें मेरी कितनी बड़ी भूल हुई थी इसका अनुभव तो बाद में हुआ। शाम को साढ़े सात बजे तक हम कपड़े पहन कर तैयार हो गये और ठीक आठ बजे घर की स्त्रियां, बच्चे, नौकर, चाकर, सब ग्रंटरोड टर्मिनस पर एकत्र हुए। आठ

बजकर पांच मिनट पर छूटने वाली हमारी आक्षरित ट्रामगाड़ी सामने ही पटरियों पर खड़ी थी। उस रोज सार्वजनिक ट्रामगाड़ियां चलने वाली नहीं थीं। यह गाड़ी हमारे लिए आरक्षित है यह मालूम न होने के कारण बहुत से मुसलमान और पारसी लोग कंडक्टर के मना करने पर भी भीतर घुस गये थे और बड़े इतमीनान से बैठे थे। हमारे पहुंचते ही उन्हें बड़बड़ाते-भुनभुनाते हुए ही सही, पर गाड़ी खाली करनी पड़ी। हमारी सब सवारियों के स्थानापन्न होते ही ट्राम चल दी। बच्चों ने आनंद के आवेश में जोर से जयघोष किया। ट्राम जब तक दिखाई देती रही, रायसाहब बड़ी हसरतभरी नजर से टकटकी लगाये उसे देखते रहे। इसका कारण उस वक्त मेरी समझ में नहीं आया। सजी हुई विक्टोरिया गाड़ी पास ही खड़ी थी। ट्राम के आंखों से ओझल होते ही हम उसमें जा बैठे।

बंबई नगरी ने उस रोज अपूर्व शोभा धारण की हुई थी। इस शहर की रोजमर्रा की तड़क-भड़क ही जहां अन्य शहरों की दीवाली से भी अधिक शानदार होती है, तो फिर आज की शोभा अवर्णनीय हो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या थी। बड़ी-बड़ी हवेलियों ने सर्वांग पर दीपमालाएं धारण की हुई थीं। बिजली की रोशनी से पूरा राजमार्ग मध्याह्न के सूर्यप्रकाश से आंखें चौंधिया देने वाली नदी की तरह चमक रहा था। खिड़कियों में पुष्पमालाएं लटक रही थीं। उनकी सुगंध और भीतर से आने वाले मधुर आलापों से मनमानस उद्वेलित हो रहा था। रास्ते के दोनों ओर विभिन्न धर्मों और जातियों के लोग सुंदर कपड़े पहने हुए सभ्यता और व्यवस्थापूर्वक आ-जा रहे थे। बड़े शहरों के निवासियों के मुख पर सदा एक प्रकार की सौम्यता और गंभीरता दिखाई देती है। अकसर वह चारों ओर फैले हुए विराट मानव-समुदाय के संपर्क और मनुष्य की बुद्धिमत्ता के परिणामस्वरूप चहुंओर दिखाई देने वाले वैज्ञानिक आविष्कारों के संसर्ग का परिणाम होती है। अनुपम प्राकृतिक सौंदर्य वाले स्थानों के निवासियों की मुखमुद्रा पर भी इसी प्रकार की गरिमा के दर्शन होते हैं। भव्यता का साक्षात्कार फिर वह चाहे प्रकृति की शोभा के रूप में हो या विज्ञान के चमत्कार के रूप में या कला के आनंद के रूप में, मनुष्य के मन को एक प्रकार के गौरव से अभिभूत कर देता है।

बंबई के साधारण मुहल्लों में जब इतनी शोभा थी तब फोर्ट विभाग में तो न मालूम कितनी होगी। वहां तो सब इमारतों पर आकाशगंगा झिलमिला रही

होगी। यह विचार मन में आते ही मेरी उत्सुकता और भी बढ़ गयी। परंतु हमारी गाड़ी किले की ओर जाने के बजाय विरुद्ध दिशा में भायखाला की ओर जा रही थी। पहले तो मुझे लगा कि कोचवान शायद रास्ता भूल गया है। मैंने उसका ध्यान इस ओर खींचा; पर उसने सिवा मुस्कराने के कोई उत्तर नहीं दिया। मेरी समझ में कुछ नहीं आया। कुछ समय बाद हम बाटलीवाला अस्पताल के पास पहुंच गये। यहां भी गाड़ियों की कतार लगी हुई थी; परंतु उनका रुख जिस ओर था, हम उससे उलटी दिशा में जा रहे थे। यह क्या गड़बड़ी है, मेरी कुछ समझ में नहीं आया। आखिर जब जिज्ञासा पर काबू रखना मुश्किल हो गया तो मैंने रायसाहब से इसका स्पष्टीकरण पूछा। उन्होंने बताया कि गाड़ियों की सामने वाली कतार पटेल से लगाकर कुलाबा तक फैली हुई थी। पुलिस-कमिश्नर की आज्ञानुसार किले की ओर जाने वाली गाड़ियों को इस इकहरी कतार में शामिल होकर ही आगे बढ़ना होगा। बीच में से गाड़ी को वापस भी नहीं घुमाया जा सकता। हमारी गाड़ी लंकादहन के समय लंबी हो जाने वाली हनुमानजी की पूंछ जैसी इस कतार के आखिरी सिरे पर शामिल होने को जा रही थी।

मैंने घबराकर पूछा, "इसका मतलब तो यह हुआ कि इस समय हम जितने पीछे जा रहे हैं, कतार में शामिल होने पर उतना ही आगे जाना होगा ?"

रायसाहब ने बड़ी संजीदगी से उत्तर दिया, "हां, बिलकुल !" हमारी यह बातचीत समाप्त होते-होते गाड़ी कतार में शामिल होकर खड़ी हो गई। मुंह उसका अब भी उलटी दिशा में था। मेरे प्राज्ञाचक्षु खुल गये। अब मालूम हुआ कि शाम को घर का कोई भी प्राणी हमारे साथ बग्घी में आने को क्यों उत्सुक नहीं था।

देखते-देखते हमारी गाड़ी के पीछे भी सैकड़ों गाड़ियां आकर कतार में जुड़ गईं। रास्ते के दुतरफा खड़ी होकर चिउंटी की रफतार से आगे बढ़ने वाली गाड़ियां रेहट के उन्मुख और अधोमुख डोलों की तरह दिखाई दे रही थीं।। गाड़ियों में बैठे हुए लोगों में त्रिखंड का वैविध्य दिखाई दे रहा था। एक में रोबदार मराठाशाही पगड़ी पहने कोई महाराजा बैठे थे तो दूसरी में बालबच्चों से घिरा हुआ कोई स्थूलकाय भाटिया विराजमान था। तीसरी में शिवलिंग के आकार के फेंटे बांधे हुए पारसी लोग अपनी स्त्रियों के साथ गपशप कर रहे थे तो चौथी में पंचपात्र की आकृति की टोपियां धारण किये हुए सिंधी लोग ऊंघ रहे थे। पांचवीं

में अपनी मेम के साथ बैठा हुआ कोई गोरा साहब स्थिति का बड़ी तटस्थता से अवलोकन कर रहा था तो छठी में अमरीकन मिशन के पादरी अपनी दाढ़ियों पर हाथ फेरते हुए हिंदुस्तानियों की अनुशासनहीनता पर विचार कर रहे थे। सातवीं में कोई मिस्रदेशीय रूपसी अपने चेहरे को नकाब के अवगुंठन में छिपाकर दूसरों के चेहरों का सूक्ष्मता से अवलोकन करती हुई अपने पति के साथ चुपचाप बैठी थी तो आठवीं में लंबी चोटी, चपटी नाक और तिरछी आंखों वाले चीनी लोग आजकल बंबई में चूहों और तिलचट्टों की रसद पहले की तरह बहुतायत से नहीं मिलती इस चिंता में डूबे हुए, विषण्ण मुद्रा धारण करके बैठे थे। सारांश यह कि हिंदू, मुसलमान, बौद्ध, यहूदी, पारसी, ईसाई आदि धर्मों तथा असंख्य वर्णों के और अनेक भाषाएं बोलने वाले स्त्री-पुरुष और बच्चे एक ही निमित्त से इस कभी समाप्त न होने वाली कतार में लगे हुए थे। यह सब देखकर मेरे मन पर उसका विलक्षण प्रभाव पड़े बिना न रहा।

इस सारे तमाशे का बारीकी से अवलोकन करने में घंटा भर बीत गया। मन में विचार आया कि ट्रामगाड़ी तो सड़क के बीचों-बीच टनटनाती हुई चलती है। इसलिए घर के बाकी लोग तो रोशनी देखकर शायद अब तक वापस भी लौट गये होंगे। हम अभी तक उस दिशा में मुड़े भी नहीं थे। गाड़ियां अब तक हिले-डुले बिना निश्चल खड़ी थीं। परंतु अब कतार धीरे-धीरे आगे सरकने लगी। गाड़ियों के काले रंग और न टूटने वाली परंपरा के कारण कतार किसी सैकड़ों पांव वाले विशालकाय कानखजूरे जैसी दिखाई दे रही थी। गाड़ियों का यह रेला अब शीघ्र ही फोर्ट में पहुंच जाएगा इस विचार से मुझे बहुत खुशी हुई। परंतु मेरा यह हर्ष क्षणजीवी सिद्ध हुआ। दस-पांच कदम चलकर यह पलटन फिर रुक गई और दस-पंद्रह मिनट तक हिली भी नहीं। अब तो मेरे मन में एक प्रकार की दहशत समा गई। कोई बारात होती तो इस तरह चिउंटी की गतिसे आगे बढ़ने में कुछ आनंद भी आता। परंतु गाड़ियों की यह गति मुझे नितांत अखरने वाली मालूम दे रही थी। किले के विभाग में लाखों लोग दीपोत्सव की बहार लूट रहे होंगे, और हम यहां निर्जन अंधेरे में खड़े हवा खा रहे थे। मेरे मन में भयानक क्षोभ निर्माण हुआ और उस आवेश में मैंने बग्घी, फिटन, रकेला, छकड़ा, तांगा, इक्का, टमटम आदि सब प्रकार के वाहनों और उनके चालकों को जी भर कर कोसा। सिर्फ वर्तमान सम्राट की माताजी और हमारी परम प्रिय

स्वर्गीया महारानी साहिबा का नाम धारण करने वाली सवारी को बुराभला कहने की हमारी हिम्मत नहीं हुई। पुलिस के सिपाहियों को तो मन ही मन न मालूम कैसी-कैसी गालियां दीं। उन्होंने यह सारा बाजाब्ता बंदोबस्त सिर्फ मुझे निराश करने के लिए किया है ऐसी धारणा अकारण ही मन में उठने लगी। किंतु मन में उठने वाले इन सारे विचारों से फायदा ही क्या था ? धूल फांकते हुए हमें अपनी जगह पर चुपचाप बैठा रहना पड़ा।

मेरा पूरा ध्यान घोड़ों के खुरों पर केंद्रित हो रहा था। वे दो कदम भी आगे बढ़ते तो मुझे तनख्वाह में तरक्की मिलने का सा आनंद होता। ऐसी स्थिति में कतार जब घूमकर किले की ओर उन्मुख हुई तब मुझे कितनी खुशी हुई होगी इसका अंदाजा आप लगा सकते हैं। चलो, रेहट के अधोमुख डोलों से हटकर अब हम उन्मुख डोलों में तो शामिल हुए। अब हमारी अवनति के बजाय उन्नति हो रही थी। उन्मुख डोलों से छलकते हुए पानी की तरह मेरे शरीर में नवीन उत्साह का संचार हुआ। परंतु वह अधिक देर टिका नहीं क्योंकि दिशा बदल जाने पर भी गाड़ियों की गति में कोई विशेष फर्क नहीं पड़ा था। इस रफ्तार से तो दो रोज बाद होने वाले राज्यारोहण के मुहूर्त तक भी हम किले के आस-पास पहुंचेंगे या नहीं इसमें शंका थी। बीच में एक गाड़ी ने कतार तोड़कर दायीं ओर की गाड़ियों में घुसने का प्रयत्न किया। इससे जो गड़बड़ी फैली उसे काबू में लाने में पंद्रह मिनट लग गये। मैंने मन ही मन उस गाड़ीवान की सात पीढ़ियों का उद्धार किया। कोई कनिष्ठ कर्मचारी हमारी वरिष्ठता को धकिया कर ऊपर का स्थान प्राप्त कर ले तो हमारे मन में जिस प्रकार का त्वेष जागता है कुछ वैसी ही झुंझलाहट और अपमान की भावना मुझे इस मौके पर हुई। पर उपाय ही क्या था।

इस प्रकार मक्खियां मारते हुए न मालूम कितना अमूल्य समय बीत गया। शीघ्र ही घड़ियों ने मध्यरात्रि के बारह बजने की घोषणा की। अब पेट में क्षुधा भी खलबली मचाने लगी थी। रोशनी देखकर जल्दी ही लौट आयेंगे इस आशा से मैंने रायसाहब के आग्रह करने के बावजूद शाम को जलपान नहीं किया था। उन्होंने थोड़ा-बहुत नाश्ता कर लिया था। परंतु उनका मेदा था जड़। जड़ बुद्धि के मनुष्यों को ज्ञान और जड़ मेदे के लोगों को अन्न जल्दी हजम नहीं होता। उन्हें तो अभी तक दोपहर के भोजन की सुगंधित डकारें आ रही थीं और वे बड़ी

बेफिक्री से आंखें मूदे ऊंघ रहे थे। मेरे आक्रोश की तुलना में उनकी यह अनासक्ति मुझे नितांत अप्रासंगिक मालूम दी। दूसरी ओर उनकी डकारें मेरी भूख को और भी भड़का रही थीं। फोर्ट में दिखाई देने वाले प्रकाश के पुंज के बजाय मुझे पेट की आग का ही अधिक अनुभव हो रहा था। शीघ्र ही मेरा सिर घूमने लगा और आंखों के सामने अंधेरा छाने लगा। ओढ़ने को कुछ न होने के कारण ठंड लग रही थी सो अलग। अब हमारी गाड़ी ने भी तेज रफतार से दौड़ने की ठानी। इससे ठंड और भी चुभने लगी। शीघ्र ही रानी का बाग, भायखल्ला स्टेशन और जे. जे. अस्पताल पार करके हम जहां से कतार में शामिल हुए थे वहां आ पहुंचे। यह भी खूब रही। नौ दिन चले ढाई कोस ! मेरे मूंह से एक सर्द आह निकल गई। अब फोर्ट में जाकर भी क्या फायदा था। फिर भी हम आगे बढ़ते रहे और क्रमशः पायधुनी, क्राफर्ड मारकेट और बोरीबंदर को पार कर गये। रास्ते भर अंधेरे में टिमटिमाने वाली कमेटी की लालटेनों के सिवा एक भी दीपक दिखाई दिया हो तो कसम ले लीजिये। चारों तरफ घुप् अंधेरा फैला हुआ था। हमें उसके दर्शन करवाने के लिए हमारा घोड़ा अब दुगुने वेग से भाग रहा था। अब तक उसे जो आराम मिला था उसकी उस ईमानदार प्राणी ने सूद सहित भरपायी कर दी। यह व्यर्थ की दौड़धूप करने के बजाय हमने बीच में से ही गाड़ी को लौटा लेना पसंद किया होता। पर पुलिस के कठोर अनुशासन के कारण हम यह भी न कर सके और प्रवाह पतित की तरह मजबूरी से आगे बढ़ते रहे। शाम को हो चुकने वाले प्रचंड दीप-महोत्सव के अवशेष रूप चारों तरफ फैले हुए घने अंधकार के दर्शन करते-करते हम कोई तीन बजे घर पहुंचे।

पूना वापस लौट आने पर मित्रों के सामने मैंने बंबई के दीपोत्सव का बड़ा सजीव वर्णन खूब नमक-मिर्च लगा-लगाकर और बड़े विस्तार के साथ किया। परंतु मैंने जब बड़े अभिमानपूर्वक यह कहा कि "इस दीपोत्सव की जोड़ का उत्सव मैंने पूरी जिंदगी में नहीं देखा" तब मेरे इस वाक्य में वाच्यार्थ के अलावा कोई गूढ़ व्यंग्यार्थ भी समाया हुआ है ऐसी शंका उन बेचारों के मन में स्वप्न में भी नहीं आई होगी।

भीतर की बात या तो रामजी जानते हैं, या मैं।

13. मेरे आलोचक

आज तक मेरे जो लेख प्रकाशित हो चुके हैं उन पर मेरे मित्रों और शत्रुओं ने अनेक प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल मत व्यक्त किए हैं। आश्चर्य की बात यह है कि यह सारी प्रतिक्रियाएं धर्म के ठेकेदारों के द्वारा ही हुई हैं। मेरे मित्र धर्माभिमानी हों, इसमें तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। परंतु मेरे विरोधक और निदंक भी धर्माभिमानी हैं यह जानकर बहुतों को आश्चर्य होगा। आज तक मैंने बडी निष्ठा से अपने धर्म और आचार-व्यवहार की असमर्थनीय बातों को भी नये और अकाट्य प्रमाणों से मंडित करके सुधारकों के सामने पेश किया है। इसके लिए मुझे अकसर अनाप-शनाप हुज्जत और ऊटपटांग तर्कों की सहायता लेनी पड़ी है। परंतु धर्माभिमानियों ने मुझे इसके बदले में क्या दिया ? केवल कृतघ्नता ! इस दुनिया का शायद यही दस्तूर है। सीजर का वध करने में ब्रूटस और ईसा को सूली पर चढ़वाने में जूडास निमित्त बना था। शहंशाह नेपोलियन को भी उसके तथाकथित मित्रों की कृतघ्नता का शिकार होना पड़ा था। और तो और यार लोग स्वयं भगवान शंकराचार्य को भी प्रछन्नबौद्ध कहने से नहीं चूके। फिर मैं भला किस खेत की मूली ! वैसे इस एक बात में उपरोक्त महात्माओं के साथ अपनी समानता देखकर मुझे इस उद्वेग में भी आनंद प्राप्त हुआ है।

जिन अनेक वाग्वीरों ने मुझ पर गालियों की वर्षा की है, उन सबको शायद यह गलतफहमी हो गई है कि मैं दरअसल प्रच्छन्न सुधारक हूं और मेरा असली उद्देश्य सनातन धर्म और उसके आचारों की खिल्ली उड़ाना है। इस प्रवाद का खंडन मेरे कतिपय लेखों का सुधारकों पर जो प्रभाव पड़ा है, उससे आसानी से किया जा सकता है। 'हजामत की नैतिक मीमांसा' नामक मेरा निबंध पढ़कर कई सुधारकों ने अपने सिर पर के अंग्रेजी केशकलाप की छुट्टी कर दी थी। यद्यपि

इसका कारण उन्होंने जूं की अधिकता बताया था, परंतु में यह डंके की चोट कह सकता हूं कि इस मत-परिवर्तन के मूल में खोपड़ी के पृष्ठभाग पर नहीं बल्कि उसके भीतर मचने वाली खलबली का हाथ था। दूसरे एक सुधारक के मन को मेरे एक लेख में वर्णित यज्ञोपवीत-माहात्म्य ने इतना अधिक प्रभावित किया कि उसने वर्षों तक रीठे का स्पर्श न होने वाले मैले-कुचैले जनेऊ को धुलवाने के लिए धोबी के यहां भेज दिया। तीसरे एक आधुनिक-मतवादी को मेरा गणेश माहात्म्य वाला लेख इतना पसंद आया कि उसने तुरंत बाजार में जाकर वक्रतुंड, एकदंत, लंबोदर आदि विशेषणों से युक्त गणेशमूर्ति खरीदी और अपने दीवानखाने के आले में उसकी बड़ी धूमधाम से प्रतिष्ठापना की। तब तक उसकी चित्तवृत्ति बड़ी उदास रहा करती थी। परंतु अब वह बड़े आनंद से जीवनयापन करने लगा है ऐसी विश्वसनीय खबर मुझे मिली है। धर्मपरिवर्तन के संबंध में लिखे गए मेरे लेख का भी ऐसा ही स्वस्थ प्रभाव पड़ा है। गवैयों को दी गई मेरी सूचनाओं पर तो कई गवैयों ने तुरंत अमल किया। एक ने तो किसी मदारी से एक सीखापढ़ा बंदर खरीद लिया। तब तक उस मर्कट को सब काम मनुष्यों की तरह करने की शिक्षा दी जाती थी। किंतु अब मनुष्यजाति का वह प्राचीन पूर्वज अपने एक वंशज को यथासंभव टेढ़ा-मेढ़ा मुंह बनाने की तालीम देने लगा। आजकल तो मुंह टेढ़ा करने की कला में उस गायक ने इतना नैपुण्य प्राप्त कर लिया है कि उसे और उसके उस्ताद को आमने-सामने बैठा दिया जाए तो गुरु कौन है और शिष्य कौन, नर कौन है और वानर कौन, यह पहचानने में कठिनाई होती है। हमें यह कहते हुए संतोष होता है कि तरह-तरह से मुंह बिगाड़कर गाने से आजकल उसे जो आय हो रही है वह उसकी पहले की मुखविक्षेपशून्य गायनकला द्वारा होने वाली आमदनी से कहीं ज्यादा है।

इस प्रकार जब सुधारकों को भी धर्ममार्ग में प्रवृत्त करने में मेरे लेख प्रेरणा सिद्ध हुए हैं, तो फिर धर्माभिमानी पाठकों के मन में पहले से ही पनपे हुए श्रद्धाभक्ति के बिरवे मेरे प्रोत्साहन से और भी अधिक दृढ़मूल हो उठे हों, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। इन बिरवों को तो मेरे द्वारा डाली हुई गोमल-गोमूत्र की खाद बहुत अनुकूल रही है, ऐसा मालूम देता है।

इन लेखों को लिखते समय मुझे मेरे धर्मध्वजी मित्रों से पर्याप्त मात्रा में सहयोग मिलता रहा, यह स्वीकार करने में मुझे कोई संकोच नहीं है। एक मित्र

ने गोमल-गोमूत्र सेवन की बड़ी तर्कसंगत उपपत्ति लिखकर भेजी थी। उनका कहना था : "सद्‌गुणी लोगों को अकसर अपनी इच्छा के विरुद्ध बड़े-बड़े विकट कर्तव्य निभाने पड़ते हैं। जिनका हौसला पंचगव्यप्राशन तक बढ़ चुका हो, उनके लिए दुनिया में कोई भी काम कठिन या अप्रिय नहीं होगा यह एक प्रकार की कृच्छ्रसाधना है। हमारे प्राचीन धर्मप्रवर्तकों ने मनुष्य की सहिष्णुता की कसौटी करने के लिए ही यह प्रथा बनाई होगी।" हमारी पुरानी रूढ़ियों की कड़ाही के तले में जमी हुई खुरचन को भी बुभुक्षित पाठकों के सामने रसीली मलाई के रूप में पेश करने की कला मुझे तो अब पूर्णतः साध्य हो गई है। अतः इन हथकंडों में अपने एक मित्र की इतनी गति देखकर मुझे संतोष होना स्वाभाविक है।

दूसरे एक मित्र ने शिकायत की है कि 'विवाह-समारोह' पर लिखे गये निबंध में मैंने वैश्या के हाथों मंगलसूत्र गुंथवाने की हमारी प्राचीन प्रथा का उल्लेख क्यों नहीं किया। उनका कहना है कि, "हमारे विवाह-समारंभों में दो प्रसंगों पर वारांगनाओं को सम्मान देने की प्रथा युगों से चली आ रही है। एक तो नृत्य-संगीत द्वारा निमंत्रितों का मनोरंजन करते समय और दूसरे नववधू का मंगलसूत्र पिरोते समय। कोई कह सकता है कि ये रूपाजीवाएं एक ओर तो दुलहिन का मंगलसूत्र पिरोकर वरवधू के विवाहित जीवन की दृष्यग्रंथि बांधती रहती हैं तो दूसरी ओर अपने स्वैर हावभाव और नेत्रकटाक्षों द्वारा विवाह के बंधनों को अदृश्य रूप से शिथिल करती रहती हैं। स्थूल दृष्टि से देखने पर इसमें विरोधाभास दिखाई दे सकता है। परंतु जरा गहराई से विचार करने पर इन दोनों कार्यों के बीच विरोध के बजाय कार्यकारणभाव दिखाई देगा। मंगलसूत्र गूंथने का कार्य अखंड सुहागिन ही कर सकती है। वारांगना से बढ़कर सदा-सुहागिन भला कौन होगी? और मंडप में उपस्थित लोगों का मन नृत्यगीतादि से आकर्षित किए बिना उसका बहुपतित्व और सदा-सुहागिन-सा सुहाग कैसे स्थापित हो सकता है? अतएव वारवनिता के ये दोनों कार्य एक-दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि पूरक हैं।" मित्र की इस टिप्पणी से हमें बेहद खुशी हुई। उसने "स्थूल दृष्टि से किसी बात का मर्म समझ में न आए, तो सूक्ष्म दृष्टि का उपयोग करना चाहिए"—हिंदू धर्म की इस बुनियादी और सर्वस्पर्शी शास्त्राज्ञा पर अमल किया है। उसने हमें निरुत्तर कर दिया फिर भी उसकी जागरूकता से हमें अभिमान का ही अनुभव हुआ है। शास्त्र का वचन है :

"शिष्यादिच्छेत्पराजयम्"। इसी मित्र ने जनवासे की विविध चीजें उड़ाने की बारातियों की पुरानी आदत का उल्लेख न करने के लिए भी हमें दोष दिया है।

भगवान श्रीकृष्ण के प्रति हमारा पक्षपात देखकर हमारे एक तीसरे मित्र को उनकी सहायता के लिए दौड़ पड़ने की प्रेरणा मिली है। चोर-जार शिरोमणि कह-कहकर सुधारक लोग श्रीकृष्ण के चरित्र पर हमेशा छींटे उड़ाते रहते हैं। उनका यह रूप जितना भागवत में उजागर हुआ है उतना अन्य किसी ग्रंथ में नहीं। अतः हमारे मित्र ने उनकी सफाई देते हुए श्रीमद्भागवत को ही प्रक्षिप्त ग्रंथ करार दिया है। और उसे प्रामाणिक मानने से इनकार किया है। माना कि इससे तो कृष्णद्वैपायन व्यास का ही पत्ता कट जाता है। परंतु अपने चरित्रनायक को दूध का धुला प्रमाणित होते देखकर भगवान व्यास को दुख में भी सुख का अनुभव होगा और अपने ग्रंथ पर लगाए जाने वाले इस लांछन को भी सहर्ष सहन कर लेंगे।

मैं सुधारक न होकर प्राचीन धर्माभिमानी ही हूं और अपने इष्टमित्रों की सहायता से सदा सनातन धर्म के पक्ष में लिखता रहता हूं, यह अब तक के विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा। मेरे प्रतिस्पर्धियों द्वारा लगाए गए इस अभियोग को कि मैं प्रच्छन्न सुधारक हूं और धर्म की व्याजस्तुति के बहाने उसकी निंदा ही करता रहता हूं, बहस के लिए सही मान लिया जाए तो भी मेरा बर्ताव निंदनीय सिद्ध नहीं होता। मैं यह प्रमाणित कर सकता हूं कि इस प्रकार की आलोचना के पीछे मेरी धर्मभावना ही प्रेरक शक्ति के रूप में काम कर रही है। पाठक कुछ समय के लिए यही मान लें कि मैं सुधारक हूं।

हमारा हिंदूधर्म प्राचीन समय में चाहे जिस स्थिति में रहा हो, आजकल तो वह केवल आचार प्रधान हो गया है इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता। प्रातः दिशामैदान जाने से लगा कर रात को बिस्तर पर लेटने तक के हमारे सारे छोटे-मोटे आचरण धर्म के अंतर्गत माने जाते हैं। सूर्योदय के समय मुंह किस दिशा में होना चाहिए; सोते समय टांगे किस दिशा में होनी चाहिए; बिल्ली रास्ता काट जाए तो क्या अनिष्ट फलप्राप्ति होती है; छींक आनेसे या शरीर पर छिपकली गिरने से क्या अनर्थ होता है; लघुशंका से निवृत्त होते समय जनेऊ को कहां लपेटना चाहिए और तर्पण करते समय कहां; इत्यादि सारी सूक्ष्म बातों का समावेश धर्म के अंतर्गत ही आता है। दिन

भर के समस्त व्यापार-व्यवहार के साथ-साथ समूची स्थावर-जंगम सृष्टि भी धर्म की श्रेणी में आती है। गाय, बैल, घोड़ा, हाथी, बंदर, कुत्ता, सांप, चूहा इत्यादि प्राणियों और बहीखाता, कलम-दवात, शस्त्रास्त्र, दीपक आदि अचेतन वस्तुओं को भी हम पूजा योग्य मानते हैं। फर्क सिर्फ इतना है कि कलम-दवात, बहीखाता आदि चीजों को हम प्रत्यक्ष सामने रखकर पूजते हैं जब कि सांप, हाथी, बाघ डरावने प्राणियों की पूजा उनकी प्रतिमा या चित्र के माध्यम से होती है। क्योंकि सचमुच के सांप को आंख मूंद कर नमस्कार करने पर सर्पदेवता प्रसन्न होकर आशीर्वाद देंगे या फुंकारते हुए झपट्टा मारेंगे इसका कोई भरोसा नहीं रहता। हमारी संस्कृति ने स्त्री और शूद्र को छोड़कर प्रायः सभी चराचर वस्तुओं को पूजा ग्रहण करने का अधिकारी माना है। देवताओं ने हमें उत्पन्न किया है या नहीं यह तो वे ही जानें, पर हमने तेतीस करोड़ देवताओं का सृजन अवश्य किया है। और अंत में तो देवताओं की इतनी भीड़-भाड़ होने पर भी, उनमें से किसी एक के प्रति उत्कट भक्तिभाव रखने के बजाय हम चाहे जिस दोराहे-चौराहे, देहरी-चौखट, पीर-सैयद और भूत-पिशाच को अपनी श्रद्धा अर्पण करते रहे हैं।

ये सारे आचार किसी सर्वमान्य तत्व या सिद्धांत के सहारे चलते हों, यह बात भी नहीं। अधिकांश बातों में तो रूढ़ि ही हमारे आचारों की नियंत्रक बन बैठी है। कोई प्रथा हमारे देश में हजार वर्ष पहले प्रचलित थी सिर्फ इतनी सी बात उसे सदा-सर्वदा चलती रखने के लिए पर्याप्त मानी जाती है। वास्तव में किसी भी समाज की रीतिनीति देशकाल और तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप होनी चाहिए और किसी भी प्रथा का अतिपुरातनत्व उसके प्रति आदर के बजाय संशय की उत्पत्ति का कारण होना चाहिए। पर हम इसी बात को भूल बैठे हैं। पुरानी आदत होने की दलील के बल पर जवान आदमी यदि घुटनों के बल चलने लगे या वृद्ध मनुष्य विषयवासना में डूबा रहे तो इसे कहां तक उचित माना जाएगा ? इसी निकष पर समाज की अन्य रस्मों को भी कसना चाहिए। आजकल तो रूढ़ि अपना एकछत्र शासन इतनी निरंकुशता से चलाने लगी है कि होली के दिन समाज के प्रतिष्ठित लोगों को भी अपनी इच्छा के विरुद्ध गालीगलौज और हुड़दंग में शरीक होना पड़ता है और श्रावणी के दिन अंतर्बाह्य शुचिर्भूत लोगों को भी, मुंह बिगाड़ कर ही सही, पर गोमल-गोमूत्र का सेवन करना पड़ता है।

हमें तो डर लगने लगा है कि कुछ ही दिनों में हम कहीं अपनी वर्तमान राजकीय और आर्थिक स्थितियों को भी सनातन रूढ़ि करार दे कर उन्हें गले से न लगा बैठें।

अभिमानी आंखों के लिए उपहास से बढ़ कर कोई अंजन नहीं। प्राचीनता और रूढ़ि के अभिमानी लोगों की अकसर यह आदत होती है कि उन पर मूर्खता का अभियोग लगने पर तो उन्हें गुस्सा आता है; पर उन्हें दुष्ट या नीच कहा जाए, तो उतना बुरा नहीं लगता। इतना ही नहीं, दुष्ट या नीच कहलाने की क्षमता अपने आप में पाकर तो वे कुछ गौरव का ही अनुभव करते हैं। अपनी गलतियों और कमजोरियों को स्वीकार करने का मानसिक धैर्य जिनमें नहीं है, अपनी हर बुरी-भली रूढ़ि को येनकेन प्रकारेण दूसरों के गले उतारने का जो प्रयत्न करते हैं, और देश की वर्तमान दुर्दशा को जो दैवगति के मत्थे मढ़कर-निश्चित हो जाना चाहते हैं, उन पाखंडी पोंगापंडितों की आंखें खोलना और इस बहाने रूढ़ि की अनिष्टता के प्रति पाठकों को जागरूक करना ही इन लेखों के पीछे हमारा प्रधान उद्देश्य रहा है।

हास्य-विनोद की मीमांसा करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उपहास की तह में अकसर महान और हीन एवम् भव्य और क्षुद्र के बीच का अंतर स्पष्ट करने की भावना होती है। ऊपर वर्णन किए हुए, येनकेन प्रकारेण स्याह को सफेद प्रमाणित करने वाले लोगों का प्रयत्न इतना बेतुका होता है और उनके अभिमान का विषय होने वाली रूढ़ियों एवम् उनके समर्थन में प्रस्तुत तर्कों की सत्य से दूरी इतनी अधिक होती है कि उन्हें उपहासस्पद सिद्ध करने में विशेष कठिनाई नहीं होती।

विनोद-प्रचुर और उपहासगर्भ भाषा शैली पश्चिम के देशों में बहुत अधिक प्रचलित है। वॉल्लेयर, मोलियर, रँबेले, पास्कल और सर्वांतीज से लगा कर स्टर्न, फील्डिंग, स्मॉलेट और मार्कट्वेन तक वहां के कुशल व्यंग्यकारों का हमने इसीलिए गहन अध्ययन किया। इन लेखों में उनका अल्प अनुकरण करने का प्रयत्न किया गया है।

परंतु किसी भी समस्या की ओर देखने की पौर्वात्य और पाश्चात्य दृष्टियों के बीच जो जमीन-आसमान का अंतर पाया जाता है इसका भी हमें एहसास था। फ्रांस में व्यंग्य-विनोद को इतनी अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है कि कोई अभियुक्त या

सजायाफ्ता अपराधी भी विनोद-प्रचुर भाषण करे तो समाज उसके बड़े से बड़े अपराध को क्षमा कर देता है। इसके विपरीत, हमारे यहां हास्यविनोद इतना हीन माना जाता है कि अत्यंत शुद्ध भावना से प्रेरित होकर भी कोई लेखक या वक्ता यदि अपने विषय को हासपरिहास के मिश्रण से मनोरंजक बनाने की कोशिश करे, तो इसे तुरंत एक साहित्यिक अपराध घोषित कर दिया जाता है और उस पर छिछोरा, बचकाना, वीभत्स, अश्लील आदि विशेषणों की पुष्पवर्षा होने लगती है। रॅबेले, स्मॉलेट आदि लेखकों ने तो अपने विनोद प्रधान ग्रंथों की बगिया में कहीं-कहीं मानवीय मलमूत्र की खाद भी बिखेरी है; फिर भी वहां के लोगों ने उसे नापसंद नहीं किया। परंतु हमारे यहां की लीला तो तीन लोक से न्यारी है। उदास चेहरों पर मुस्कान की एक झलक लाने के लिए किसी ने पंचगव्य-प्राशन की उपहासगर्भ चर्चा की तो उस पर पुरस्कार के रूप में पंचगव्य अर्थात् गोमल-गोमूत्र की बौछार हुई ही समझिए।

मनुष्य समाज में जब कोई नई प्रथा रूढ़ होती है तो पहले वह विचारों तक ही सीमित रहती है; फिर भी धीरे-धीरे अभिव्यक्ति पाती है और अंत में आचरण बन जाता है। परंतु पंचगव्य सेवन की प्रथा के संबंध में ठीक उलटा चमत्कार हुआ है। हम उसके प्राशन को महापुन्य मानते हैं पर मुख से उसका उच्चारण करने को पाप समझते हैं। जो मुख गोबर खाने से भ्रष्ट नहीं होता वही गोबर खाने का उल्लेख करने से अपवित्र कैसे हो जाता है ?

हमने उपरोक्त सब बातों पर गहराई से विचार किया और पुराणमतवादी पाठकों और आलोचकों की गालीगलौज के झंझट से बचने के लिए 'सुदामा' नामक मानसपुत्र उत्पन्न किया। हमारी कुछ कालविसंगत रूढ़ियों की उपयुक्तता सिद्ध करने के लिए कुछ भीरुधृष्ट लोग जिन बचकाने और हास्यास्पद तर्कों का प्रयोग करते हैं उन सबको हमने सुदामा के मुंह में जड़ दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जालंधरनाथ के शापवचन जिस प्रकार धातुमई प्रतिमा के पीछे खड़े हुए गोपीचंद को स्पर्श नहीं कर सके थे उसी प्रकार मूर्खतापूर्ण, बचकाना, आदि जिन विविध विशेषणों की वर्षा हमारे पुराणमतवादी बंधुओं ने दौर्बल्यजनित क्रोध के आवेश में दांत पीस-पीस कर हम पर की, वे सब सुदामा की प्रतिमा से टकरा कर निष्प्रभ हो गये। इससे मेरा उत्साहभंग होने की बात तो दरकिनार, मुझे इस बात से कुछ बल ही मिला कि मैंने जो स्वांग जानबूझकर धारण किया था

वह लोगों को सच्चा मालूम देने की हद तक असली और चमत्कारपूर्ण सिद्ध हुआ। किसी कलाकार द्वारा अभिनीत मृच्छकटिक नाटक के शकार की भूमिका को देख कर प्रेक्षकों के मुख से अनायास ही 'दुष्ट', 'पापी','बेवकूफ' आदि धिक्कार सूचक उद्‌गार निकल पड़ें तो उस अभिनेता को विषाद होगा या आनंद? कुछ इसी प्रकार की बात मेरे साथ भी हुई।

पश्चिम के देशों में जिस प्रकार नालियों के गंदे पानी को रासायनिक प्रक्रिया द्वारा शुद्ध करके फिर से प्रयोग में लाने की प्रथा है, उसी प्रकार हमारे धर्माभिमानियों के मुख से निकली हुई अशोभन गालियों को मैंने इस 'सुदामा' रूपी छलनी में से छानकर स्वीकार कर लिया है। यह सही है कि कभी-कभी कोई सचमुच ही संतोष व्यक्त करके प्रशंसात्मक आलोचना करता है, तो मैं उसे सुदामा के हिस्से में न जाने देकर खुद डकार जाता हूं। इस प्रकार जूठा और बचा खुचा भोजन पुत्र के आगे सरका कर खुद पकवानों पर हाथ साफ करने वाले पिता को कोई चाहे तो स्वार्थी और हृदयहीन कह सकता है। पर इससे लज्जित होने का मुझे कोई कारण दिखाई नहीं देता। 'सुदामा', कुछ भी कहिये, मेरा दहेज नहीं बल्कि मनसिज पुत्र है। उसे गालियां रूपी विष का भय या स्तुति रूपी अमृत की लालसा, दोनों में से एक भी होने की संभावना नहीं।

हास्य मिश्रित रस माना गया है। उदात्त और क्षुद्र ये दोनों परस्परविरोधी तत्व एकसाथ उसके उपादान होते हैं। इसमें क्षुद्र कल्पनाओं के अंतर्गत वीभत्स और अश्लील कल्पनाओं का भी समावेश रहता है। इसी कारण पश्चिम के विनोदप्रधान साहित्य में हमें इन बातों का सम्मिश्रण यत्रतत्र मिलता है। इन कल्पनाओं की हीनता सिद्ध करने के लिए भी उन्हें अपने लेखों में स्थान न दिया जाए तब तो उत्तम बात है। परंतु जिन बातों पर हमें उपहासास्त्र छोड़ना है वे ही यदि बीभत्स या अश्लील हों, तो इस नियम का पालन करना मुश्किल हो जाता है। जुगुप्साजनक प्रथाओं का केवल नामनिर्देश या उल्लेख करने के लिए भी जब अशोभन शब्दों का सहारा लेना पड़ता है तब उनका उपहास करते समय उनसे कैसे बचा जा सकता है? ऐसे मौकों पर आवश्यक अश्लील शब्दप्रयोगों का उत्तरदायित्व टीका करने वाले लेखकों पर नहीं बल्कि टीका का विषय होने वाली रूढ़ियों पर होना चाहिए। हमारे पुराणमताभिमानी मित्र गोमल और गोमूत्र का भरपेट सेवन करने के बाद डकार लेते-लेते यदि यह कहने लगें कि

"देखो भाई, इन पदार्थों का सेवन तो हम छोड़ने वाले नहीं। तुम्हें टीका-टिप्पणी करनी हो, तो अवश्य करो। पर टीका करते समय 'गोबर' शब्द मुंह से निकाला, तो खबरदार !"—तो इस सूचना पर अमल कैसे किया जा सकता है। कुछ यंत्रों मे पाई जाने वाली या सिर्फ एक ओर को खुलने वाले परदों (Valves) की सी कोई योजना तो प्रकृति ने मनुष्य के मुख में की नहीं है कि उसमें से गोबर भीतर तो प्रवेश कर सके पर शब्दरूप में बाहर न निकल सके। सेवन किये हुए पदार्थ की डकार को रोकना जिस प्रकार संभव नहीं और हितकर भी नहीं, उसी प्रकार उसकी अभिव्यक्ति या उल्लेख पर किसी प्रकार की पाबंदी लगाना भी उचित नहीं। सेवन करने वाले और उल्लेख करने वाले मुख यदि अलग-अलग हों, तब तो किसी भी हालत में अभिव्यक्ति का दमन करना उचित नहीं है।

मेरे एक निबंध का शीर्षक है 'हजामत की नैतिक मीमांसा'। उदात्त और हीन कल्पनाओं के बीच का विरोध ही उपहास की आत्मा है यह मान लिया जाए तो उपरोक्त शीर्षक में आपत्तिजनक कुछ भी नहीं है। परतु हमारे कुछ पाठकों को उसमें और कुछ नहीं तो शब्दप्रयोग को लेकर ही बुराई दिखाई दी है। उनका प्रस्ताव है कि इतने क्षुद्र विषय पर निबंध यदि लिखना ही था तो उसे कम से कम "श्मश्रू की नैतिक मीमांसा" जैसा भारी-भरकम शीर्षक देना चाहिए था। हमारे लेख के शीर्ष पर 'हजामत' के बजाय 'श्मश्रू' की स्थापना होने पर उपहास और व्यंग्य की दृष्टि से वह कितना औचित्यपूर्ण होगा; और गड़बड़ी लेख के शीर्षक में है या उसकी अकारण आलोचना करने वालों के दिमाग में, इसका निर्णय मैं पाठकों पर ही छोड़ता हूं।

जनसाधारण में एक ऐसी प्रथा दिखाई देती है कि कोई उन्हें हंसी-मजाक के दरमियान बोलचाल की प्राकृत भाषा में गालियां दे, तो इसका वे बुरा नहीं मानते। परंतु देवताओं और सनातन धर्माभिमानियों की बात इससे ठीक उलटी मालूम देती है। उन्हें गालियां देने और खाने के लिए प्राकृत के बजाय संस्कृत भाषा ही अधिक पसंद आती है। किसी से कहो कि, "तू गोबर में मुंह मारता है," तो वह बुरा मान जाएगा। परंतु उसी से यदि कहा जाय कि "तू गोमय प्राशन करता है" तो वह खुश होगा। इसी प्रकार महादेवजी को यदि जानवरों और भूतप्रेतों का ठेकेदार कहा जाय तो वे तीसरा नेत्र खोल कर हमें भस्म कर देने पर उतारू हो जाएंगे। परंतु पशुपति या भूतनाथ कहने पर उनके क्रोध का

तुरंत शमन हो जाएगा। प्राकृत गालियों के जख्मों पर संस्कृत अपशब्द शायद मरहम का काम करते हैं।

हजामत संबंधी हमारे लेख के शीर्षक में परिवर्तन चाहने वाले इस अड़ियल टीकाकार को उसी लेख के संबंध में एक और शिकायत भी रही है। एक बार हजामत करवाने के बाद दूसरी बार हजामत का दिन आने तक बालों की वृद्धि के साथ लोगों की मनोवृत्ति में भी कैसा फर्क पड़ जाता है इसका कुछ अत्युक्तिपूर्ण वर्णन हमने किया था। प्रस्तुत आलोचक महोदय को कुछ ऐसा भ्रम हुआ है कि हमारा वह लेख हल्का-फुल्का व्यंग्यात्मक निबंध न होकर ऐतिहासिक या मनोवैज्ञानिक शोध-प्रबंध है। इस दृष्टि से उन्हें उसमें कई दोष और विसंगतियां मालूम दी हैं। हमारे कथन की अर्थशून्यता प्रमाणित करने के लिए उन्होंने कई प्रमाण भी दिये। हमने लिखा था कि हजामत करवाने से पहले सिर पर जो टोपी क्षितिज रेखा के समांतर रहती है वही हजामत करवाते ही कुछ तिरछी हो जाती है। इस संबंध में वे लिखते हैं कि उन्होंने हजामत बनवाने के बाद सप्ताह भर तक टोपी को सिर पर जमाये रखा। पर टोपी पर उनके लंबे-लंबे दोनों कानों में से एक का भी गुरुत्वाकर्षण-प्रभाव नहीं पड़ा। इससे हमारी बात गलत प्रमाणित हो जाती है ! हमें तो ऐसा लगता है कि लगातार आठ दिन तक टोपी के आच्छादन से उनका दिमाग भन्ना उठा होगा और उसी झल्लाहट में उन्होंने हमें यह पत्र लिख मारा है।

इसी प्रकार, कुछ ठोंक-पीट कर एक नियम हमने यह गढ़ा था कि श्मश्रू की वृद्धि के साथ जबान पर संस्कृत के शब्द अधिक आने लगते हैं और बालों का उच्चाटन होते ही वृत्ति फिर प्राकृत की ओर झुक जाती है। हमारे टीकाकार ने एक सप्ताह तक इस उक्ति को भी परखा—पर सब व्यर्थ। संस्कृत भाषा ने उनके मुख में कुछ ऐसा पक्का अड्डा जमाया हुआ है कि वह हिलने को भी तैयार नहीं हुई। यह अतिपरिचित पाहुनी आज जाएगी, कल जाएगी, इस आशा में उस बेचारेने आठ रोज तक राह देखी। अंत में निराश होकर फिर हजामत बनवा ली और हमें खरीखोटी सुनाने के लिए मुंह खोला तब कहीं चमत्कार हुआ ! जिन ग्राम्य शब्दों की वे चातक की तरह राह देख-देख कर थक गये थे वे भक्त-वत्सल शब्द संकट के समय नंगे-पांवों दौड़े चले आये। इसके बाद तो घंटों तक उनकी जिह्वा पर सरस्वती रुंडमाला धारण करके तांडव करती रही और हमारे

कथनों का संपूर्ण उच्चाटन होने के बाद ही उन्हें शांति मिली। अपनी नाक कटवा कर उन्होंने हमारा अपशकुन बेशक किया; पर उन्हें यह मालूम नहीं पड़ा कि इस प्रकार अकथनीय शब्दों के बोझ के नीचे हमें दबा कर उन्होंने परोक्ष रूप से हमारे कथन की सत्यता ही प्रमाणित की है।

मैं अपने लेखों में हमारे देवताओं और आचारों की निंदा करता हूं, इतना ही नहीं आत्मनिंदा से होने वाले दुख में परनिंदाजनित सुख का एक छींटा भी नहीं पड़ने देता, ऐसा भी एक अभियोग मुझ पर लगाया गया है। मैं बड़े अभिमान के साथ स्वीकार करता हूं कि यह इल्जाम बिलकुल सही है। विषय के प्रतिपादन के मध्य स्वाभाविक रूप से उपस्थित होने पर तो पश्चिम की पोंगापंथी रूढ़ियों या वहां के पुराणों की ऊटपटांग कथाओं का विरोध करने से मैं कभी नहीं चूकता। परंतु संदर्भ को छोड़कर केवल टीका करने के इरादे से मैं उनकी टीका कभी नहीं करता। इसका एकमात्र कारण यह है कि अपनी कमजोरियों को देख कर मन में जितना मलाल होता है उतना दूसरों की कमियों को देखकर नहीं होता। और जहां कलेजे में कसक नहीं उठती वहां अभिव्यक्ति करने वाले उद्‌गार कैसे निकल सकते हैं?

हमारे धर्म और समाज में बेबुनियाद रूढियों के साथ कई अच्छी प्रथाएं भी हैं। कृष्ण की तरह राम को भी हमने ईश्वर का अवतार माना है। इन भव्य प्रथाओं और उदात्त चरित्रों के प्रति मेरे मन में हमारे प्राचीनाभिमानी बंधुओं के जितनी ही श्रद्धा और अभिमान की भावना है। परंतु व्यंग्यप्रधान लेखों में उनका उल्लेख अप्रासंगिक और उनकी स्तुति अप्रस्तुत होना स्वाभाविक है। हमारे इतिहास के इन उदात्त और अभिमानास्पद तत्वों की खिल्ली उड़ाना तो दरकिनार, उनका अप्रतिष्ठात्मक उल्लेख भी मेरे हाथों कहीं न हो जाए इसकी मैं पूरी सावधानी रखता हूं। इस बात की गवाही तो मेरे आलोचक भी निस्संकोच भाव से देंगे।

अस्तु। पहले मैं प्राचीन धर्माभिमानी हूं इस दृष्टि से और बाद में प्रच्छन्न सुधारक हूं इस दृष्टि से भी मैं अपने आलोचकों को उत्तर दे चुका। प्रत्युत्तर की सुविधा के लिए मैंने दोनों दरवाजे खुले रखे हैं। परंतु इस दोहरे दृष्टिकोण के कारण पाठकों को कुछ उलझन हो सकती है। इस लिए, अंततोगत्वा मैं प्राचीनता का पूजक सनातनधर्माभिमानी ही हूं यह स्थापित करने के लिए मैं एक अंतिम

और अकाट्य प्रमाण देता हूं। कुछ दिनों पहले किसी अंग्रेज साहब ने गणेशजी की प्रतिमा खरीद कर उसकी विडंबनात्मक पूजा-अर्चा करना आरंभ किया। परंतु इसके लिए उन्हें शीघ्र ही मृत्यु रूप में प्रायश्चित भुगताना पड़ा। पाठकों को याद होगा कि यह समाचार देश के सभी प्रमुख अखबारों में छपा था। मैंने गणेशचतुर्थी पर जो लेख लिखा है उसे भी वे पढ़ चुके होंगे। मेरे आलोचकों के मतानुसार मैंने उसमें गणेशजी का विडंबन किया होता, तो उपरोक्त गोरे साहब की तरह मैं भी कभी का प्राणों से हाथ धो बैठा होता। परंतु ऐसा तो कुछ हुआ नहीं। इससे प्रमाणित होता है कि या तो मैंने वह लेख शुद्ध अंतःकरण से और विघ्नहर्ता के प्रति भक्तिभाव से प्रेरित होकर लिखा था या फिर गणेशजी जागृत देवता न होकर पुराणकारों की कल्पना से उत्पन्न एक ढकोसला मात्र हैं जो अपने निंदक का कुछ न बिगाड़ सके। मुझे पूरा विश्वास है कि इस प्रकार की दुविधा में पड़ने पर हमारे धर्माभिमानी मित्र गणेशजी की निःसत्वता कबूल करने के बजाय मुझे उपरोक्त अभियोग से बरी कर देना ही उचित समझेंगे।

बारह लेख लिख कर कुछ दिनों के लिए विश्राम करने का मेरा इरादा था। पर सुदामा के बारह बज गए ऐसी गलतफहमी की गुंजाइश न छोड़ने के लिए यह तेरहवां लेख भी लिखना पड़ा। इसके लिए अपने आलोचकों को उत्तर देने से बढ़ कर उपयुक्त विषय और क्या हो सकता था? ऐसा न करने पर उनकी नाराजी भी तो झेलनी पड़ती। 'विविध ज्ञान विस्तार' के लिए बारह लेख लिखने का संकल्प ईश्वर कृपा से पूरा हुआ। इसके बाद पाठकों से भेंट होने का योग न जाने कब आये। तब तक अपने इस अकिंचन सुदामा को वे भूल नहीं जाएंगे ऐसी अपेक्षा व्यक्त करके मैं आज्ञा चाहता हूं।

14. बंबई की प्रदर्शनी

बंबई के दीपोत्सव के समय मुझे किस कदर गहरी निराशा हुई थी इसकी जानकारी पाठकों को दी जा चुकी है। उस मनोभंग का मुझे बंबई से बदला लेना था। सन् 1904 की बड़े दिन की छुट्टियों में मुझे इसका मौका मिला। राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन के उपलक्ष्य में बंबई में विराट प्रदर्शनी होने वाली थी जिसका चित्ताकर्षक वर्णन कई दिनों से समाचारपत्रों में आ रहा था। उन वर्णनों को पढ़ कर हर आदमी यह कहने लगा कि मनुष्य का जन्म मिला है, तो यह मौका चूकना नहीं चाहिए। इस में से अनमोल मनुष्य जन्म प्राप्त करने वाला हिस्सा तो मैं पहले ही पूरा कर चुका था। रही प्रदर्शनी देखकर उसे सार्थक करने की बात! सो उसे देखने का योग जुटाने का मैंने निश्चय किया। इस बार मैंने अपने अभिन्न मित्र बंडूनाना और पांडूतात्या को भी साथ ले जाने का निश्चय किया। इसके पीछे परोक्ष प्रयोजन यह था कि पिछली बार की तरह यदि इस बार भी निराशा ही पल्ले पड़ी, तो उसे बंटाने वाले भी साथ होने पर उसकी तीव्रता कम हो जाएगी। साथ ही यदि प्रदर्शनी को ठीक से देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, तो आनंद तिगुना हो जाएगा। यह तो सभी के अनुभव की बात है कि दुख के समय मित्रों की उपस्थिति उसे बांट देती है जब कि सुख के समय वही उसे कई गुना बढ़ा देती है।

बंबई जाने का निश्चय पक्का होते ही हमने तैयारी शुरू की। हम तीनों स्वदेशी वस्तुओं के प्रखर अभिमानी थे और तीनों ने यथासंभव स्वदेशी कपड़ा पहनने की शपथ ली हुई थी। परंतु इस 'यथासंभव' शब्द की व्याख्या को लेकर हम तीनों में मतभेद था। बंडूनाना शपथ का शब्दश: पालन करते थे। नागपुरी धोती और दुपट्टा, बंबई की मिलों में बने मोटे मारकीन का तनीदार अंगरखा

और लोई की बंडी, यही उनकी पोशाक रहती थी। बंबई में ठंड बहुत पड़ती है यह सुन कर इस बार उन्होंने एक रुई की बगलबंदी बनवा ली थी। पांडूतात्या कुछ शौकीन और जन्मजात धूर्त होने के कारण उनकी 'यथासंभव' व्याख्या काफी शिथिल थी। जनेऊ और पगड़ी स्वदेशी और बाकी कपड़े विदेशी ऐसा समझौता शायद उन्होंने मन ही मन कर रखा था। परंतु उनकी आर्थिक स्थिति उनकी शौकीन मिजाजी के अनुकूल न होने के कारण वे हर साल नये कपड़े नहीं सिलवा सकते थे। इसलिए उनके कपड़ों में उनकी इच्छा के विरुद्ध लंबे-चौड़े झरोखे दिखाई देते थे। पहले बनवाये गले काले और मोटे कोट अब रंग उड़ कर भदरंग दिखाई देने लगे थे और उनका कपड़ा झिरझिरा हो गया था। आरंभ में एड़ियों को छूने वाली पतलूनें तात्या के चरणों का सुखद स्पर्श छोड़ कर ऊपर को सिकुड़ गई थीं और पतलून और जूतों के बीच के बालिश्त भर के चिरस्थायी अंतर में से उनकी मोटी और भद्दी पिंडलियां झांका करती थीं। ऐसे पुरातन साजो-सरंजाम से बंबई की यात्रा के योग्य, कम छेदों वाले, वर्णत्याग न किये हुए और पहनने के बाद उनके उदर के घेरे पर से बिना फाड़े उतर सकें ऐसे कपड़े चुनना बडे परिश्रम का काम था। इसलिए उसमें पूरा एक घंटा लग जाना कोई ताज्जुब की बात नहीं थी। इसके बाद तात्या ने उम्र में उनसे कहीं बड़ी और सावधानी से संभाल कर रखी हुई एक जीर्णजर्जर जेबी घड़ी निकाली। उसका डायल तड़का हुआ था और घंटे दिखाने वाली सुई टूट चुकी थी। अतः कालगति नापने के काम में उसका विशेष उपयोग होने की संभावना नहीं थी। अधिक से अधिक, घंटा पूरा होने के बाद कितने मिनट बीते इसकी सूचना वह दे सकती थी। पर वह घंटा कौन सा था, रात का था या दिन का, यह जानने का कोई मार्ग नहीं था। इस प्रकार घड़ी की स्थिति कालमापन के लिए तो अनुकूल नहीं थीं, परंतु बीते हुए युगों की यादगार के रूप में उसका महत्व अवश्य अभूतपूर्व था। अपनी जर्जरता के बहाने वह अपनी उम्र की घोषणा निःसंदिग्ध रूप में करती थी। सुनहरी जंजीर में लटका कर कोट की भीतर वाली जेब में छोड़ देने पर वह काल के साथ-साथ अपने जन्मस्थान का भी पता नहीं लगने देती थी।

मेरा अपना वस्त्र परिधान नाना और तात्या के कपड़ों की औसत का प्रतिनिधित्व करता था। अर्थात् मेरे कुछ कपड़े स्वदेशी होते थे और कुछ विदेशी। स्वदेशी वस्त्र मैं अकसर विदेशी कपड़ों के भीतर पहना करता था। इसके पीछे दो

कारण थे। एक तो यह कि स्वदेशी कपड़े पहनने का गरूर लोगों की आंखों में न खटके और दूसरा यह कि स्वदेश प्रेम से लबालब भरी हुई मेरी देह को स्वदेशी कपड़ों का स्पर्श होता रहे।

दीपोत्सव के समय से बंबई के मेरे मित्र रायसाहब चक्रपाणि की ओर से मेरा मन टूट गया था। अतः इस बार और कहीं ठहरने की व्यवस्था करने के लिए हमने पांडूतात्या के एक मित्र को पत्र लिखा। उनका उत्तर आया कि, 'बंबई में ठहरने योग्य केवल दो स्थान हैं। इनमें से सुखनिवास तो आजकल दुखनिवास बना हुआ है और सरदारगृह की एक-एक कोठरी में बीस-बीस सरदार भरे हुए हैं। खानेपीने की सुविधा बेशक वहां अच्छी है। सुबह शौच-मुखमार्जन आदि की सुविधा कर देने का आश्वासन ग्रंट रोड के पास के एक ढाबे-वाले ने दिया है और दिन में उठने बैठने एवं रात में सोने के लिए भायखल्ला में एक कोठरी मिल सकती है। परंतु उसमें पानी की कोई व्यवस्था नहीं है और झाड़ू-बुहारी, दियाबत्ती आदि करने के लिए आसपास कोई नौकर मिलने की संभावना नहीं है। इस लिए कहार की व्यवस्था गिरगांव से करनी पड़ेगी और उसे दिन में दो बार ट्राम से आने-जाने का किराया देना होगा।' स्पष्ट था कि इस त्रिस्थली की यात्रा करके प्रदर्शनी देखने के लिए अधिक समय नहीं बचता। सुबह उठते ही कान पर जनेऊ लपेटे भायखल्ला से ट्राम में ग्रंट रोड के ढाबे में जाना पड़ेगा और प्रातर्विधि से निपट कर फिर भायखल्ला वापस आना पड़ेगा। एक आदमी को तो कहार की बाट देखते हुए दिन भर कोठरी में ही बैठना होगा। उसके बाद दस बजे के आसपास सबको बोरीबंदर के पास सरदारगृह तक जाने के लिए कुलाबा की ट्राम पकड़नी होगी और भोजन के बाद दो घड़ी आराम करने के बजाय भागते हुए फिर भायखल्ला आना पड़ेगा। शाम को कहार की राह देखते हुए कोठरी में घुटना होगा और दियाबत्ती होते ही भोजन की व्यवस्था के लिए फिर वही कवा-यद करनी होगी। इसके अलावा ट्राम बदलने के लिए पायधुनी या भिंडीबजार जंक्शन पर घंटों राह भी देखनी पड़ेगी। दिन के चौबीस घंटे यों सरदारगृह, ढाबा और कहार के बीच बंट जाने पर और किसी बात के लिए समय ही कहां बचेगा। सोना एक जगह तो स्नान दूसरी जगह; पेट का गढ़ा भरना एक स्थान पर तो खाली करना दूसरे स्थान पर, ऐसी हालत में प्रदर्शनी देखने योग्य मन की अवस्था ही कहां रहेगी ?

इन सब कारणों से अंत में हमें रायसाहब के यहां ही ठहरने का निश्चय करना पड़ा और मैंने उन्हें पत्र लिख दिया। मन में, एक क्षीण सी आशा अब भी बंधी हुई थी कि इस बार उनके यहां मेहमानों की भीड़ अधिक होने या इसी श्रेणी की अन्य किसी मजबूरी के कारण उनकी अस्वीकृति आएगी और मैं इस अप्रिय स्थिति से बच जाऊंगा। पर रायसाहब ने इस आशा को भी सफल नहीं होने दिया। वापसी डाक से उनका पत्र आ गया जिसमें उन्होंने बड़े आग्रह से हमें निमंत्रित किया। अब उपाय ही क्या था? मैंने उतरे हुए चेहरे से यह समाचार मित्रों को सुनाया और हम यात्रा की तैयारी में लगे।

इस बार रेल का सफर वैसे तो बिना किसी खास घटना के पूरा हो गया; पर भीड़ बेशुमार थी। हर डिब्बा छापेखानों में दिखाई देने वाले टाइप भरे चौखानों की तरह ठसाठस भरा हुआ था। हमारे डिब्बे की भीड़ में पांडूतात्या के पेट का भी समावेश होने के कारण वह भेड़-बकरियों के बाड़े की याद दिला रहा था। हम जिस बेंच पर बैठे थे उस पर से किसी के भी उठ खड़े होने की संभावना नहीं थी और अन्य बेंचों पर जो गड़बड़ी फैली हुई थी उसमें हमें कोई दिलचस्पी नहीं थी। मुर्दार भीड़ की सामूहिक रूप से होने वाली जड़ और मंद श्वासक्रिया के कारण पूरे डिब्बे के मुसाफिर बंबई के बजाय परलोक के यात्री मालूम दे रहे थे और सहीसलामत बंबई पहुंच जाएं तो गंगा नहाये ऐसा भाव उनमें से प्रत्येक के मुख पर झलक रहा था। बीच-बीच में गाड़ी एक ओर को कुछ झुक जाती थी। पांडूतत्या उसी ओर बैठे हुए थे। उनके बोझ से वह कहीं उलट न जाए ऐसी आशंका रह-रहकर हमारे मन में उठ रही थी। परंतु तात्या अत्यंत निर्विकार भाव से बैठे थे। अपनी वजह से औरों के प्राण संकट में पड़ रहे हैं ऐसी कल्पना उन्हें स्वप्न में भी नहीं आई होगी। इतना ही नहीं, अपनी स्थितप्रज्ञता व्यक्त करने के लिए उन्होंने भीषण सुर में गाना भी शुरू कर दिया था। एक यात्री के मन में गार्ड से इसकी शिकायत करने की बात भी आई। परंतु जैसे ही उसने उठने का प्रयत्न किया, भीड़ के दबाव से वह वापस ठेला गया और फिर तो हिला-हिला कर मजबूत किये हुए खूंटे की तरह वह अपनी जगह पर ही गड़ा रहा। उस बेंच पर के हम दस मनुष्य बंबई पहुंचते-पहुंचते कहीं एक शरीर और दस सिर वाला रावण तो नहीं बन जाएंगे ऐसी आशंका हमारे मन में उठने लगी। मार्ग में कौन-कौन से स्टेशन आये यह भी मालूम नहीं हो सका क्योंकि गर्दन को इधर-उधर

घुमाना संभव नहीं था। उधर पांडूतात्या की मधुर आवाज में इंजन की सीटियां डूबी जा रही थीं। आखिरकार कुछ देर बाद पांडूतात्या ने अपने आप गाना बंद कर दिया। परंतु अब गाने के स्थान पर उनके खर्राटे शुरू हो गये। उन सतरंगे खर्राटों की आवाज गाने की सुरों की अपेक्षा अधिक मीठी या सुरीली न होने के कारण स्रोताओं को विशेष राहत न मिल सकी।

बंबई पहुंचने पर मालूम हुआ कि गाड़ी आठ घंटे लेट हो चुकी थी। इतनी देर होने से गार्ड को कदाचित् आश्चर्य हुआ होगा। उस बेचारे को क्या मालूम कि उन आठ घंटो में से छह घंटों का श्रेय पांडूतात्या की पृथुल देह के हिस्से में जाता था। इंजन बेचारा उसे इससे जल्दी कैसे खींचता। हमारे डिब्बे के हर यात्री को यह बात मालूम थी। गाड़ी खड़ी रहने के बाद भी डिब्बे के बाकी लोग तो तुरंत उतर गए; पर हमारी बेंच के लोगों का हिलना-डुलना असंभव होने के कारण उतरने की समस्या बनी रही। इस संकट में से सब का छुटकारा खुद तात्या ने ही किया। पहले उन्होंने अपना पेट फुलाकर कुछ अधिक जगह प्राप्त की। फिर एकाएक पेट का संकोच करके, अन्य मुसाफिरों के शरीर स्थिति स्थापकता के सिद्धांत का अनुसरण करें उससे पहले ही वे चपलता से उठ खड़े हुए। इस प्रकार उन्होंने सारे यात्रियों का प्राणांतिक यंत्रणा से छुटकारा किया और सबने चैन की सांस ली। गाड़ी से उतरने पर तात्या को छोड़ कर बाकी सब लोगों को अपने शरीर कम से कम दो-दो अंगुल आकुंचन हो जाने का एहसास हुआ। इस कमी को तो दो-चार महीनों तक पौष्टिक भोजन करके ही दूर किया जा सकता था। पर महत्व की बात यह थी कि हम हाथों-पांवों से सही-सलामत बंबई पहुंच गये। इसके लिए हमने भगवान का मनःपूर्वक आभार माना।

घर पहुंच कर हम प्रातःकर्म से निवृत्त हुए और रायसाहब के साथ भोजन किया। इसके बाद कुछ देर आराम करने के लिए हम लेटे ही थे कि रायसाहब का नाई चंपी करने के लिए आ पहुंचा। उस बेचारे को क्या मालूम कि कम से कम साल भर तक तो हमें चंपी की जरूरत पड़ने वाली नहीं थी। उसे किसी तरह समझा बुझाकर विदा किया। सो कर उठने के बाद दीवानखाने में पहुंचे तो वहां बंबई में होने वाले अनेक सभा-सम्मेलनों के बारे में चर्चा चल रही थी। हम भी जाकर बैठ गए और सुनने लगे।

राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन के सुमुहूर्त पर हर साल की तरह इस बार भी

समाज-सुधार परिषद् का आयोजन किया गया था। उसकी खिल्ली उड़ाने के लिए हम तीनों ने वहां उपस्थित रहने का निश्चय किया। स्त्रियों की परिषद् का अधिवेशन अलग से होने वाला था। उसमें उपस्थित रहने की भी हमारी बहुत इच्छा थी। पूना में हमने ऐसा सुना था कि इस परिषद् में पुरुषों के बैठने की व्यवस्था चिलमनों के पीछे की जाएगी और मूंछों पर उस्तरा फेर कर और बुर्का पहन कर आने वाले पुरुषों को उसमें प्रवेश दिया जाएगा। हमारी यह सब करने की तैयारी थी; पर बंबई आने पर मालूम हुआ कि यह पूरी खबर गलत थी। हमें इससे इतनी निराशा हुई कि हमने अपनी स्त्रियों को छोड़कर पूरी स्त्री जाती को कोसा और अपना अपवाद छोड़ कर समस्त पतिवर्ग एवम् सुधारकों को धुलैंड़ी का त्योहार न होने पर भी जी भर कर गालियां दीं।

इसी बीच पंचांग-संशोधन सभा का भी अधिवेशन होने वाला था। परंतु बड़े-बड़े त्योहार, उपवास के दिन, व्यतिपात और अशुभ वारों को छोड़कर पंचाग के एक भी अंग के साथ हमारा घनिष्ठ परिचय न होने के कारण हमने उस ओर ध्यान नहीं दिया। हां, यह कहा जा सकता है कि उस सभा के लिए आवश्यक होने वाली शांति का अपनी उपस्थिति द्वारा भंग न करके हमने एक प्रकार से उसके काम में हाथ बंटाया और उसकी सफलता में परोक्ष योगदान दिया।

हमारा ऐसा कयास था कि पहले दिन तो लोगों की भीड़ अधिवेशन के मंडप में ही होगी प्रदर्शनी की ओर तो कोई झांकेगा भी नहीं। हमने सोचा था कि आरंभ के दिन तो पूरी बंबई महासभा के अध्यक्ष का सुनाई न पड़ने वाला भाषण सुनने में और कान के पर्दे फाड़ डालने वाली तालियों की आवाज उन्हें सुनाने में मशगूल रहेगी। इस विचार के आधार पर ही हम तीनों मित्रों ने आरंभ के दिन चुपचाप प्रदर्शनी में जाकर वहां के अनेकविध चमत्कारों को शांति से देखने की योजना बनाई थी। इसलिए उस दिन दोपहर बाद हम अधिवेशन के मंडप की ओर न जाते हुए प्रदर्शनी की ओर चले। चलते समय रायसाहब ने मार्गदर्शन के लिए अपने नौकर को साथ भेजना चाहा। परंतु रायसाहब के द्वारा विशेष तौर पर किये जाने वाले किसी भी कार्य का मतलब क्या होता है, इसका अनुभव मुझे पहले एक बार हो चुका था। अतः कोई बहाना बनाकर हमने उसे टाल दिया।

ठीक ढाई बजे हम ट्राम में बैठ कर रवाना हुए। मैं तीन वर्ष पहले भी बंबई आ चुका था। अतः गलत मार्गदर्शन करने जितना वहां के रास्तों का ज्ञान और

की हुई गलतियों का अस्वीकार करके अपनी ही बात पर अड़े रहने का धैर्य मुझे प्राप्त हो चुका था। अतः मित्रों को बंबई दिखलाने की जिम्मेदारी विशेषज्ञ की हैसियत से मैंने अपने ऊपर ले ली। फोर्ट पहुंचने तक रास्ते में जितने चौक और इमारतें आयीं, उन सबके संबंध में मैं मनगढ़ंत कथाएं सच्चे इतिहास की अदा से सुनाता गया और मित्रों के अज्ञान को अपने अज्ञान के स्तर पर लाकर ही मैंने दम लिया। पायधुनी और नल बाजार की व्युत्पत्ति मैंने इस प्रकार बैठाई कि वैष्णवों के वल्लभ संप्रदाय की स्त्रियां पायधुनी पर रोज अपने गुरु के चरण धोने के लिए यहां एकत्रित होती हैं और उस चरणोदक को बड़े-बड़े नालों द्वारा नल बाजार ले जाकर वहां उसका नीलाम किया जाता है। यह सुनते ही पांडूतात्या के मन में वल्लभ संप्रदाय के गुसांइंजी के प्रति तुरंत ईर्ष्या उत्पन्न हुई। पायधुनी से अगले चौक में बाटली वाला अस्पताल है। उसके बारे में मैंने यह गप भिड़ा दी कि ये पारसी सज्जन बोतल के निस्सीम उपासक थे। धीरे-धीरे उनके यहां खाली बोतलों की संख्या इतनी बढ़ गयी कि उन्हें बेचने से लाखों रुपये प्राप्त हुए। उसी द्रव्यराशि में से यह अस्पताल बनवाया गया। क्रॉफर्ड साहब के प्रति मेरे मन में न जाने क्यों बड़ा द्वेशभाव था। अतः उनके नाम से स्थापित मार्केट के सामने पहुंचने पर मैंने यह बताया कि ये साहब यहां रिश्वत की पैंठ लगाते थे और सबसे ऊंची बोली लगाने वालों को विभिन्न चीजों के ठेके देते थे।

मेरे इस स्पष्टीकरण के समय ट्राम के चालक और कंडक्टर में हमारी ओर देख-देख कर इशारेबाजी हो रही थी। अन्य कई यात्री भी मुंह में रूमाल ठूंस कर हंसी रोकने का प्रयत्न कर रहे थे। मैंने इसका अलग ही अर्थ लगाया। बंडू नाना के फेंटे का सिरा पीठ पर लटक रहा था और भीतर से उनकी चुटिया झांक रही थी। लघुशंका के लिए कान पर लपेटा हुआ जनेऊ ज्यों का त्यों मौजूद था। उधर पांडूतात्या बंबई के अनेक घंटाघरों की बड़ी-बड़ी घड़ियों की उपेक्षा करके अपनी समय न दिखाने वाली घड़ी को बार-बार जेब से निकाल कर समय देखने का दिखावा कर रहे थे। पेट उनका धोती की मर्यादा को लांघ कर फुट भर आगे झांक रहा था। अब आप ही बताइए; बंबई के रसिक लोग इस प्रकार की हरकतें करने वालों को निपट गंवार समझ कर उन्हें देख-देख कर हंसेंगे नहीं तो क्या करेंगे।

प्रदर्शनी के दरवाजे पर पहुंच कर मैं टिकट ले आया। द्वार पर लोहे का

चक्करदार फाटक लगाकर एक बार में एक आदमी छोड़ने की व्यवस्था की गई थी। और तो सब आसानी से भीतर आ गये पर पांडूतात्या उस चक्रव्यूह के बीच में ही फंस गये। बात चिंता की थी, पर शीघ्र ही भीतर घुसने के लिए उत्सुक भीड़ का ऐसा रेला आया कि तात्या की उस चक्रयंत्रणा से मुक्ति हो गई। भीतर जा कर देखा तो भीड़ का पार नहीं था। हमारे जैसे देशभक्त राष्ट्रीय सभा को उसके हाल पर छोड़कर और वक्ताओं को चीखते छोड़कर प्रदर्शनी देखने के लिए आ गए थे।

प्रदर्शनी में हमने क्या-क्या चमत्कार देखे, इसका वर्णन कहां तक किया जाय ! चारों ओर पूरे देश की प्राकृतिक और मनुष्यनिर्मित उत्तमोत्तम वस्तुएं करीने से सजा कर रखी हुई थीं। क्षण भर के लिए तो ऐसा आभास हुआ मानो हम किसी काल्पनिक स्वर्णभूमि में गौरी-गणेश के सामने की सजावट देख रहे हैं। उधर राष्ट्रीय सभा के अधिवेशन-मंडप में जिस प्रकार हर प्रांत के सर्वश्रेष्ठ मनुष्य एकत्रित हुए थे उसी प्रकार इस विभाग में अचेतन सुंदर वस्तुएं इकट्ठी की गई थीं। एक तरफ भीतर पानी होने वाला पाषाण था तो दूसरी तरफ पारा गलाने का प्याला। एक ओर एक नन्हा-मुन्ना चांदी का हाथी था तो दूसरी तरफ लोहे की एक विशाल नाल। इस ओर राजघराने की स्त्रियों द्वारा की हुई कशीदाकारी थी तो उस ओर अनाथालय की बालिकाओं की कढ़ाई-बुनाई के नमूने। एक अलमारी में आबदार मानिकों का ढेर लगा हुआ था तो दूसरी तरफ मानिक जड़े हुए फव्वारों में से जलकण बरस रहे थे। एक तरफ़ रजवाड़ों में शोभा देने लायक कपड़े सजे हुए थे तो दूसरी तरफ कपड़ों का बना हुआ रजवाड़ा शोभायमान था। स्त्रियों के कलाविभाग में हूबहू स्त्रियों जैसी दिखाई देने वाली गुड़ियाएं थीं तो यूरोपीय विभाग में हूबहू गुड़िया जैसी दिखाई देने वाली स्त्रियां। एक तरफ कांच की अलमारी में डसते ही प्राण ले लेने वाला बालिश्त भर का सांप था तो दूसरी ओर प्रेक्षकों का कुछ भी न विगाड़ सकने वाला ढली हुई शक्कर का प्रचंड शेर। इस शेर को देखकर भय से जबान सूखने के बजाय मुंह में पानी आने लगा। हम कहीं उसके पेट में न चले जाएं इस भय के बजाय यह हमारे पेट में न आ जाए ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई। बंडूनाना जो अब तक कांच की अलमारी में रखे हुए सांप से भयभीत होकर, मौका पड़ने पर भागने की तैयारी के साथ सुरक्षित अंतर पर खड़े थे, इस शेर की पीठ पर ममता से हाथ फेरने लगे और

पांडूतात्या ने शेर सचमुच ही शक्कर का बना हुआ है या नहीं यह आजमाने के लिए लोगों की नजरे बचा कर उसकी पूंछ का सिरा तोड़ लिया और उसे चख कर मन की तसल्ली की। वह दिलेर प्राणी इन गंवारों की इन बेहूदा हरकतों को सहन करता हुआ गंभीरता से चुपचाप खड़ा रहा। शक्कर की बनी हुई कई सुंदर इमारतों के नमूने भी प्रदर्शनी में थे। उनकी नक्काशी वाकई बड़ी बारीकी से की गई थी। उन्हें बनाने वाले शिल्पियों ने भूख-प्यास भुला कर बड़ी एकाग्रता से महीनों तक काम किया होगा। बीच में कभी पेट में चूहे दौड़ने पर इमारत की एकाध मंजिल चाट गये हों, यह बात अलग है।

आज तक हमारा ऐसा पक्का विचार था कि स्त्रियों का एकमात्र कार्यक्षेत्र है चौका-चूल्हा और उनके एकमात्र हथियार हैं पलटा-करछुल। अत: जब पूना में हमने यह बात सुनी थी कि प्रदर्शनी में स्त्रियों के हस्तकौशल का विभाग भी होगा तब हमने जी भर कर खिल्ली उड़ाई थी। परंतु आज वास्तविकता को देख कर आंखें चौंधिया गईं और हमें विश्वास हो गया कि स्त्रियों के नाजुक हाथ केवल गहने पहनने में ही नहीं बल्कि अन्य बातों में भी पुरुषों के बलिष्ठ हाथों से बढ़कर हो सकते हैं। इस प्रत्यक्ष प्रमाण के बावजूद, स्त्रियों की योग्यता को सदा शंका की नजर से देखने और पुरुषों की तुलना में उन्हें हीन मानने का व्रत मैंने आज तक जारी रखा है। यह बुनियादी सिद्धांत की बात है जिसमें किसी प्रकार के समझौते की गुंजाइश नहीं। यहां हम आर्यपुरुषों का गौरव दांव पर लगा हुआ है। विरोध की परवाह किये बिना कभी-कभी तो अपना कहा अपने ही गले में आने का प्रसंग आने पर भी स्त्रियों के महत्व को स्वीकार न करने में ही पौरुष की शान है। अन्य किसी क्षेत्र में संभव न हो, तो कम से कम शाब्दिक क्षेत्र में स्त्रियों पर अपना श्रेष्ठत्व स्थापित करने में ही पुरुषार्थ की पराकाष्ठा है, ऐसा मेरा निस्संदेह मत है।

हमारे ऊपर प्रदर्शनी का प्रभाव पड़ा उसी तरह प्रदर्शनी के ऊपर हमारा प्रभाव भी पड़ा। पांडूतात्या की लापरवाही की वजह से अनेक चीजें अस्त-व्यस्त हो गई जिसके कारण हमें चौकीदारों की बात सुननी पड़ीं। परंतु तात्या पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। शिष्टाचार की रत्ती भर भी परवाह किए बिना और बीच में आने वाले स्त्रियों-बच्चों की ओर बिलकुल ध्यान न देते हुए वे अपनी लंबी नाक की सीध में बेधड़क आगे बढ़े चले जा रहे थे। मार्ग में जिनके पांव उनके चमरौधे

जूतों के तले रौंद दिये जाते उनकी गालियों को फूल के समान मान कर वे किसी विजयमस्त वीर की तरह आगे बढ़े जा रहे थे और किसी महात्मा की तरह, एक बार स्वीकार किये हुए मार्ग से बाल भर भी विचलित होने को तैयार नहीं थे। प्रदर्शनी में कुछ अंधों ने आंखवालों की तरह काम कर दिखाया था जिसे देखकर प्रेक्षकगण खुश हो रहे थे। परंतु हमारे तात्या ने आंखों वाले होकर अंधों की तरह बर्ताव किया फिर भी किसी ने उनकी सराहना का एक शब्द भी मुंह से नहीं निकाला।

प्रदर्शनी में मनोरंजन के जो अनेकविध साधन थे उनमें एक शीशमहल बहुत मजेदार था। उसमें दर्पणों की ऐसी रचना की गई थी कि देखने वाले का प्रतिबिंब निंदकों की दृष्टि में दिखाई देने वाले उसके असली स्वरूप के जैसा ही भयावह दिखाई देता था। कोई सुंदर स्त्री उन शीशों के सामने गलती से भी खड़ी हो जाती, तो लज्जा से चूर-चूर हो जाती थी। हम जब उनके सामने जाकर खड़े हुए तो क्या दिखाई दिया कि तीन कुरूप, बौनी और भीमकाय आकृतियां तरह-तरह के टेढ़े-मेढ़े मुंह बनाकर हमें चिढ़ा रही हैं। उन्हें देखकर हम हंसने लगे तो वे आकृतियां भी विकट अट्टहास्य करने लगीं। तब कहीं हमें मालूम हुआ कि वे तो हमारे ही प्रतिबिंब थे।

इसके बाद हम जलक्रीडा के स्थान पर पहुंचे। वहां एक ऊंचे चबूतरे पर से तमाशबीनों से भरी हुई छोटी-छोटी नावें पटरी पर रपटती हुई नीचे पानी में गिर रही थीं। हम भी एक नाव में जा बैठे। बंडूनाना की तो डर के मारे घिग्घी बंध गई और वे जल्दी-जल्दी मुझे बतलाने लगे कि इस भयानक मनोविनोद में उनकी मृत्यु हो जाए तो उनकी संपत्ति आदि की क्या व्यवस्था की जाए। दूसरी ओर पांडूतात्या ने नाव छूटने में दो-चार मिनट की देर है यह देख कर उतनी देर आंखें बंद करके एक झपकी ले ली। पाठक अब समझ गए होंगे कि हमारे इन दो अभिन्न मित्रों के स्वभाव में परस्पर कितना विरोध था।

प्रदर्शनी में एक स्थान पर लाखों रुपये के कीमती जवाहरात सजा कर रखे हुए थे। उन्हें देख कर मन में लालसा तो बहुत जगी, पर यह सब माया के प्रलोभन हैं और संसार के सारे भोग अंततोगत्वा नाशवान हैं ऐसे उदात्त वेदांती विचारों के सहारे हमने उन्हें खरीदने से इंकार कर दिया।

शाम के सात बजे प्रदर्शनी के विभिन्न विभाग देखने का और अपना प्रदर्शन

लोगों के सामने करने का काम समाप्त हुआ। लगातार घूम-घूम कर हमारे पांव थक गये थे और भूख भी जोर से लग रही थी। इसलिए हमने उपाहारगृह में जा-कर जलपान करने की सोची। वहां पहुंचने पर मालूम हुआ कि प्रदर्शनी के इस अन्नपूर्णागृह में पूरी, सब्जी, पकौड़े, मिठाइयां, रबड़ी, चाय, कॉफी, आइसक्रीम और शीतपेय आदि सब चीजें उपलब्ध हैं। परंतु बंडूनाना और मैं परम आचार विचार से चलने वाले और छुआछूत एवम् कच्चे, पक्के का भेद मानने वाले सनातनी व्यक्ति थे। हमारे लिए इन चीजों का कोई उपयोग नहीं था। इसलिए हमने सिर्फ औंटा हुआ दूध पीने का निश्चय किया। इसके विपरीत पांडूतात्या इन विधिनिषेधों के पार जा चुके थे। उन्होंने ये सारी चीजें चखने की योजना बनाई। भीतर-जाकर देखा तो खाने की व्यवस्था पटड़ों के बजाय कुर्सी-टेबलों पर थी। पांडूतात्या ने बड़े आनंद से और हम दोनों ने कुछ नाराजी से कुर्सियों पर आसन जमाया। जन्मजात संस्कारों को एक ही दिन में यों आसानी से तोड़ देने में हमारी आत्मा कुलबुला रही थी। शीघ्र ही हमारे सामने औंटे हुए दूध के गिलास और तात्या के सामने पूरियों की तश्तरी आ गई। जब तक परिचारक सब्जियां लाने गया उतनी देर में तात्या ने पूरियों की प्लेट साफ कर दी। वह बेचारा बड़े अचरज में पड़ गया। फिर वह सोच कर कि वह शायद गलती से पूरियां परोसे बगैर खाली तश्तरी रख गया था, प्लेट लेकर फिर पूरियां लाने गया। परंतु वापस आकर देखता है तो यह प्लेट भी साफ क्योंकि तब तक तात्या ने सब्जियां, चटनी, अचार आदि सब चीजें उदरस्थ कर ली थीं। इस प्रकार तात्या ने उस परोसने वाले से पांच-सात चक्कर लगवाए, पर पूरियों और सब्जियों का पेट के बाहर संयोग नहीं होने दिया। बीच में एक वेटर किसी और ग्राहक के लिए पूरियों की गड्डी लिए जा रहा था। वह अपने लिए ही है ऐसा मान कर तात्या ने उसे भी जबरदस्ती अपने सामने रखवा लिया और परोसने वाले की बदतमीजी भरी शिकायतों की ओर ध्यान न देते हुए बड़े मनोयोग से उसें और उसके साथ अपने गुस्से को भी उदरस्थ कर गए। अन्नब्रह्म की ऐसी एकांतिक उपासना करने वाले महाभाग हमारे देखने में कम ही आए हैं। इसका परिणाम आखिर यह निकला कि वेटरों को तात्या से कहना पड़ा कि पूरियां खत्म हो गईं। परंतु तात्या जिनका नाम ! बड़े वीतराग भाव से उन्होंने उत्तर दिया, "कोई बात नहीं। मुझे इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। पूरी नहीं तो आइसक्रीम

या और जो कुछ भी तैयार हो, ले आओ।" वेटर अब तक तात्या की जठराग्नि से इतना प्रभावित हो चुका था कि उसने एक साथ चार प्याले आइसक्रीम और शीतपेय के दो गिलास लाकर उनके सामने रख दिए। उसकी पीठ फिरने से पहले ही तात्या ने फिर उदरयज्ञ आरंभ किया और दोनों गिलासों का पेय गटागट पीकर खाली गिलास उसे थमा दिए। इसके बाद उन्होंने चार गिलास कोल्ड ड्रिंक और लाने का आदेश दिया और मोर्चा आइसक्रीम की ओर घुमाया। वेटर बेचारा आश्चर्य से उनके मुंह की ओर ताकता रहा। इतने में उसे बुद्धि सूझी कि आइसक्रीम के चार प्याले समाप्त होने से पहले ही उसे बाकी चीजें लानी हैं। इसलिए वह हड़बड़ी में घूम कर चला गया।

तात्या के इस भ्रष्टाचार को अब तक हम बेचैनी से देख रहे थे। अब हमारा मित्रप्रेम जागृत हुआ। कुछ भी कहिए तात्या हमारे बचपन के साथी और अभिन्न मित्र थे। मरने के बाद यमदूत उन्हें तपा कर लाल किए हुए तवे पर लिटायें या धधकती हुई अग्नि में फेंकें यह भला हम कैसे सहन कर सकते थे। हमने उनके आचरण का दोष दिखाते हुए उन्हें बरजने की कोशिश की। कुछ समय तक तो हमारे दिखाए हुए यमयातना के भय को कानों से सुनने की भी उन्हें फुर्सत नहीं मिली। सामने रखी हुई सारी वस्तुओं को शांतिपूर्वक उदरस्थ करने के बाद ही उन्होंने हमारी ओर रुख किया। फिर बड़े इतमीनान से बोले, "अरे मूर्खो, भस्मीभूतस्य देहस्य पुनर्जन्मो न विद्यते। जिस अग्निकुंड का तुम मुझे डर दिखा रहे हो वह मेरे पेट के खड्डे से बड़ा नहीं हो सकता। और जिस नरकाग्नि के स्मरण मात्र से तुम थरथर कांप रहे हो, वह मेरी जठराग्नि के पासंग की भी बराबरी नहीं कर सकती।"

तात्या के बकासुरी उदर की ओर गौर से देखने पर उनके कहने का मर्म हमारी समझ में आया। परंतु अब हम दूसरी ही उलझन में पड़ गए। हमारा यह लंगोटिया यार अकेला ही नरकाग्नि में जलेगा इस बात को लेकर हमें बड़ा दुख होने लगा। इतने में वेटर ने कोल्डड्रिंक चार गिलास लाकर टेबल पर रख दिये। उनके भीतर के उस रंगबिरंगे शीतोदक को देख कर हमारे मन की बेचैनी और भी बढ़ गई। मैंने बंडूनाना से कहा, "नाना, तात्या के ललाट का नरकवास तो, हम कुछ भी करें, टाले नहीं टलता। सवाल सिर्फ इतना है कि उन्हें अकेले ही पतन की ओर जाने दिया जाए, या मित्र होने के नाते उनका साथ निभाना

हमारा भी फर्ज है ? कुंभीपाक नरक के अग्निकुंड में उन्हें अकेले ही जलना पड़ा, तो हमारी मैत्री किस काम की ?"

मेरे यह कहते ही बड़ा चमत्कार हुआ। वंडूनाना के मन में भी शायद बहुत देर से यही विचार घुट रहा था। अतः हम दोनों पर उसकी प्रतिक्रिया मानो एक साथ हुई, और हम एक साथ कह उठे, "नहीं, नहीं, तात्या को अकेले नरक में जाते हुए हम नहीं देख सकते।...वेटर, हमारे लिए भी दो-दो प्याले आइसक्रीम और दो-दो गिलास शरबत ले आओ।"

यह सुनते ही पांडूतात्या ने ऐसा विकट अट्टहास किया कि इर्दगिर्द की टेबलों के लोग मुड़-मुड़ कर हमें घूरने लगे। तात्या केवल हंस कर ही नहीं रुक गये, बल्कि अपनी भीषण आवाज में बोले, "वाह वाह ! तुम्हारा सनातन-धर्माभिमान भी मेरे स्वदेशाभिमान की तरह काफी लचीला मालूम देता है। चलो, बड़ी खुशी की बात है। अब जब यहां तक आगे बढ़े हो, तो एक कदम और बढ़ो। जरा बिस्कुट-ड़बलरोटी भी तो चख कर देखो। तुम अगर मंगवाना चाहो, तो मैं साथ देने को तैयार हूं।"

अब इस पेटू आदमी से भला क्या कहा जाए ! उनकी इधर जीभ चल रही थी और उधर हमारी शर्म से गर्दन झुकी जा रही थी। केवल मित्र की कल्याण कामना से प्रेरित होकर अपने पारलौकिक कल्याण को खतरे में डालने वाले हम जैसे मित्रों पर चटोरेपन का अभियोग लगाया जाए, तो हम शर्माने के सिवा और क्या कर सकते हैं ?

खैर, भर पेट भोजन करने के बाद हम बड़े दरवाजे के सामने वाले फव्वारे के पास जा पहुंचे और एक बेंच पर बैठ गए। फव्वारे के चारों तरफ बेंच डली हुई थीं। पर भीड़ के मुकाबले में उनकी संख्या इतनी कम थी कि अधिकांश लोग यदि उपाहारगृह में बैठे उदरपूर्ति करने में न जुटे होते, तो बैठने की जगह मिलना मुश्किल था। यहां से चारों तरफ का दृश्य बड़ा सुंदर दिखाई दे रहा था। चारों तरफ बिजली के लट्टुओं की आतिशबाजी हो रही थी। इंद्रधनुष का आभास उत्पन्न करने के लिए फव्वारे की फुहारों पर लाल पीले, हरे, नीले, नारंगी और बैंगनी रंग का प्रकाश फेंका जा रहा था। पानी के हजारों शीतल तुषारकण हमारे थके हुए अंगों को बड़ा सुख पहुंचा रहे थे। चहुंओर सुदर्शन स्त्री पुरुष तरह-तरह की वेशभूषा और नेत्रदीपक आभूषण धारण किये चहलकदमी कर रहे थे।

उनके कपड़ों से आने वाली इत्र की खुशबू चारों ओर फैल रही थी। पास ही बजने वाले बैंड के वाद्यों का मधुर स्वर कानों को अनुपम आनंद दे रहा था। इन सब अनुभवों के साथ अभी-अभी सेवन किये हुए अमृततुल्य पकवान्नों के अब तक जीभ पर रेंगने वाले मधुर स्वाद को जोड़ दिया जाए, तो बिना अतिशयोक्ति के यह कहा जा सकता है कि हमारी पांचों ज्ञानेंद्रियां एकसाथ स्वर्ग सुख का अनुभव कर रही थीं। रूप रसगंध स्वर का ऐसा सर्वस्पर्शी सुखानुभव सद्‌गुणी मनुष्य को स्वर्ग में निश्चित रूप से मिलेगा, ऐसा विश्वास दिलाया जा सके, तो इस संसार मे पाप या कलुष ढूंढने पर भी दिखाई नहीं पड़ेगा।

रात को नौ बजे हम बी. बी. सी. आई. की लोकल गाड़ी से पहले दर्जेमें सफर करके घर पहुंचे। रेल से आने का कारण यह हुआ कि दोपहर से ही हमारे मन में ट्रामगाड़ी के संचालकों के खिलाफ प्रतिकूल भावना उत्पन्न हो गई थी। पहले दरजे में यात्रा करने का कारण भी यह था कि चर्चगेट से ग्रंट रोड तक का प्रथम वर्ग का टिकट बहुत कम पैसों में मिल जाता है। इतने कम पैसे खर्च करके हमारी जन्मपत्री में बहुत बड़ी ठोकर लग सकती थी और अन्य प्रकार से भी हमारा फायदा हो सकता था। अब हम छाती पर हाथ रख कर शपथपूर्वक कह सकते थे कि हम कभी-कभी पहले दर्जे में भी यात्रा करते हैं। झूठ बोलने से मुझे कितनी अधिक चिढ़ है इसका अनुभव तो पाठकों को पहले भी अनेक बार हो चुका होगा।

15. अखिल भारतीय चोर सम्मेलन

आज का युग सभा-सम्मेलनों और परिषद-परिसंवादों का है। यों राष्ट्रीय, सामाजिक और धार्मिक सभा-परिषदें तो बहुत पहले से होती रही हैं। परंतु अब तो विशिष्ट जातियों और व्यावसायिकों के सम्मेलन भी बड़ी संख्या में होने लगे हैं। यह क्या है, साहित्यकारों की परिषद् है। वह क्या है, नाट्य-व्यवसाइयों का सम्मेलन है। यहां क्या हो रहा है, मुसलमानों की मजलिस है, और वहां क्या हो रहा है, अस्पृश्यों की सभा ! इसके अलावा मिल-मजदूर, डाक-तार विभाग के कर्मचारी और श्रमिक यूनियनों की हड़तालें तो आये दिन होती ही रहती हैं। यह सब मनुष्य की समूहवृत्ति की ही परिचायक हैं। फर्क सिर्फ इतना है कि सभा-सम्मेलनों का झुकाव प्रवृत्ति की ओर होता है जबकि हड़तालों का रुख निवृत्ति की ओर अधिक रहता है।

इन आंदोलनों में आजकल इतना उफान आने का कारण क्या है ? इससे क्या यह माना जाए कि हम लोगों के मन में दिनोंदिन एकता की भावना प्रबल हो रही है ? या फिर यह कहा जाए कि हम लोगों की वृत्ति मूलतः उत्सवप्रिय होने के कारण (और सभा-सम्मेलन उत्सव का ही एक प्रकार होने के कारण) हम बराबर उनकी ओर आकर्षित हो रहे हैं ? या फिर यह कारण हो सकता है कि हम में से तीर्थयात्रा के इच्छुक लोगों की पर्यटन इच्छा इस बहाने पूरी हो जाने के कारण उनकी भीड़ लगी रहती है। या फिर निठल्ले और निरुद्यमी लोगों को अपना अमूल्य (अर्थात् जिसका कौड़ी भर भी मूल्य नहीं है) समय बिताने के लिए ये कुंभमेले उत्कृष्ट स्थान सिद्ध होते हैं और इसी कारण मौसम-बेमौसम उनका रेला इस ओर मुड़ता रहता है ? इन सम्मेलनों से फायदा क्या होता है, इस पर विचार करने पर, रेलगाड़ियों को होने वाले बेहद मुनाफे के अलावा और कोई लाभ दिखाई नहीं देता। दूर-दूर से आने वाले सभासदों की दृष्टि से विचार

किया जाए, तो ये सारे सम्मेलन देश और काल की सीमाओं को नष्ट करके लोगों की भीड़ एकत्रित करने वाले मजमों के सिवा और कुछ सिद्ध नहीं होते।

सभा-सम्मेलनों के इस छुतहे रोग का उद्भव समाज के शीर्षस्थान से होकर नीचे की ओर किस हद तक फैल गया है इसका अनुभव हमें अभी हाल में ही हुआ। पिछले महीने के आरंभ से ही हमारे शहर में नित्य नये-नये चेहरे दिखाई देने लगे थे। इन चेहरों में एक समानता थी। सबका वर्ण पक्का काला था और बाल सबके घने और कड़े। गाल की हड्डियां सबकी उभरी हुई, गरदन सबकी नदारद और दृष्टि चंचल! आरंभ में तो हमें इन डरावने आगंतुकों के बारे में कुछ भी मालूम न हो सका और न उनके आगमन का रहस्य ही समझ में आया। परंतु उनके आते ही शहर में चोरियों की संख्या एकाएक बहुत बढ़ गई। इससे हम लोग इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि इन तमाम महानुभावों का ध्यान दूसरों की समृद्धि पर था और नगरनिवासियों को अपनी संपत्ति के बारे में अधिक दक्षता सिखाने के महत् उद्देश्य से इनका यहां आगमन हुआ है। उनके देशबंधु ज्यों-ज्यों अधिक संपन्न होंगे त्यों-त्यों इन उदारचेताओं को अधिक आनंद होगा। 'या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' इस भगवद्वचन के अनुसार अन्य लोग जब मोहनिद्रा में सोते रहते हैं तब ये संयमी खुद जागते रहकर और अपार कष्ट सहन करके दूसरों की संचित धन विषयक चिंता को सदा के लिए दूर करते हैं। इस एकमात्र उद्देश्य से प्रेरित होकर हीं उन्होंने यह उदात्त व्यवसाय अंगीकृत किया है। उनके उद्देश्यों के संबंध में खातिरजमा होते ही हमने पुलिस को सूचना दी। हेतु यह था कि इन योगियों के निवास-भोजनादि की व्यवस्था सरकारी अतिथिशालाओं में हो जाए और उन्हें निःशुल्क एकांतवास का सुख उपलब्ध हो सके। परंतु पुलिस ने अपने नियमानुसार उन्हें छोड़कर नगरवासियों को ही तंग करना शुरू किया जिसके कारण हमें यह मोह छोड़ देना पड़ा।

सोहबत का असर बहुत प्रबल होता है! जब तक इन महात्माओं की संख्या मर्यादित थी तब तक तो शहर की नैतिकता सही-सलामत रही। परंतु शीघ्र ही यह संख्या ऐसी रफ्तार से बढ़ने लगी कि हम मेजबान हैं और वे मेहमान यह भेद ही नष्ट हो गया। कुछ दिनों में तो हमारी संख्या अल्पमत में पहुंच गई। इसके अलावा, आरंभ में जहां ये चोरियां सिर्फ नागरिकों के घरों में होती थीं वहां अब ये चोर आपस में एक-दूसरे के यहां भी चोरियां करने लगे। चोरों के बहुमत के

सान्निध्य में रहते-रहते अब हमें अपने साहूपन की लाज आने लगी। लोगों ने कई दिन तक तो नैतिकता को संभाले रखने की जी-जान से कोशिश की। परंतु मूर्खों के मजमे में जिस प्रकार बुद्धिमानों को भी अंत में मूर्ख बनना पड़ता है उसी प्रकार चोरों के समाज में साहों की कीमत धीरे-धीरे कम होने लगी और लोगों का झुकाव क्रमशः चौर्यकर्म की ओर होने लगा। मैं भी इसका अपवाद नहीं था।

मेरी आरंभिक चोरियां अल्पस्वल्प ही थीं। उदाहरणार्थ पहले-पहल तो मैंने चौर्यकर्म को साहित्यिक क्षेत्र तक ही सीमित रखा। फिर धीरे-धीरे अपनी ही संपत्ति की हेराफेरी करने लगा। अलमारियों का रुपया बेमालूम संदूकों में छिपा देता और संदूकों के गहने अलमारियों में। यह काम करते समय मुझे कोई देख तो नहीं रहा इस भय से चारों तरफ सशंक दृष्टि से देखता भी रहता। शीघ्र ही बंडूनाना के घर से उनके फटे हुए जूते चुरा लाने तक मेरी तरक्की हुई। इस दरमियान उन्हें भी मेरी तरह चोरी की आदत पड़ चुकी थी और बाद में मालूम पड़ा कि जो जूते मैं उनके घर से चुराकर लाया था वे दरअसल मेरे ही थे जिन्हें कुछ रोज पहले चोरी के नये-नये उत्साह में वे हमारे यहां से उड़ा ले गए थे।

इस प्रकार शहर में सभी की प्रवृत्ति चौर्यकर्म की ओर हो जाने के कारण चोरियों से किसी का विशेष नुकसान नहीं हुआ। किसी ने किसी की पगड़ी चुराई, तो दूसरे ने पहले का आपका साफा पार किया समझिये। इस प्रकार आदान-प्रदान का संतुलन हो जाने के कारण किसी का भी विशेष नफा-नुकसान न होते हुए प्रत्येक को हस्तलाघव के आनंद का अनुभव होने लगा।

परंतु ये सारे चोर हमारे ही शहर में अड्डा जमाये क्यों पड़े हुए हैं, इसका कोई खुलासा न हो सका। हमारा कस्बा छोटा और पिछड़ा हुआ होने के कारण वे चाहे जितने समय तक यहां धरना दें, उन्हें अधिक माल मिलने की संभावना नहीं थी। इस हालत में उनकी प्रदीर्घ उपस्थिति का कारण या तो यह हो सकता था कि इन लोगों ने हम लोगों को नितांत बेवकूफ समझकर यहां अड्डा जमाया है या फिर हमें धूर्त-शिरोमणि मानकर अपने सान्निध्य के योग्य माना है। इन दोनों में से एक भी पर्याय हमारे स्वाभिमान का पोषक नहीं था। आखिर शहर के एक परम धूर्त सुनार ने उनके पेट में बैठकर किसी तरह अंदरूनी बात का पता लगाया। मालूम हुआ कि शीघ्र ही नगर में अखिल भारतीय चोर सम्मेलन का अधिवेशन होने वाला है और उसी के उपलक्ष्य में भारत भर के चोर, उचक्के,

ठग, गिरहकट, डाकू, लफंगे आदि शांतिप्रिय कलाकारों के प्रतिनिधि यहां एकत्र हुए हैं।

इस सम्मेलन का सम्मान हमारे ही शहर को मिलने का कारण यह था कि यह नगरी भारत के कटिभाग को मेखला की तरह व्याप्त करने वाले विंध्य पर्वत के समीप बसी हुई है। उसकी यह भौगोलिक स्थिति देशभर के प्रतिनिधियों को एकत्रित होने के लिए और आवश्यकता पड़ने पर इर्द-गिर्द के पहाड़ों में फरार हो जाने के लिए अत्यंत अनुकूल थी। हमारे शहर को किसी भी दृष्टि से कोई महत्व नहीं मिलता इस बात का हमें सदैव बड़ा खेद रहता आया है। अतः इस बार तस्करों का ही क्यों न हो, पर कोई अखिल भारतीय सम्मेलन हमारे नगर में हो रहा है इस बात ने हमें बहुत सुख पहुंचाया और हमने अन्य बड़े शहरों से ईर्ष्या करना छोड़ दिया।

स्वागत-समिति के अध्यक्ष पद पर हमारे इलाके के मशहूर डकैत संभू पासी का निर्वाचन हुआ था। यह नियुक्ति गलत हुई थी ऐसा कहने की किसी की हिम्मत न होगी। संभू को तब तक चार बार कैद बामशक्कत की सजा हो चुकी थी और अब तक वह सब मिलाकर अपने जीवन के बीस वर्ष कारागृह में बिता चुका था। अतः इस सम्मेलन के आजीवन सदस्य होने की योग्यता उसमें निश्चित रूप से थी। इसी प्रकार अध्यक्ष पद को बेचू भील सुशोभित करने वाला था। चोरों की पूरी बिरादरी उसका उचित स्वागत करने की बड़ी तत्परता से तैयारी कर रही थी।

सम्मेलन के संबंध में प्रतिदिन नई-नई बातें सुनाई देने लगीं। आज बंबई की सुनहरी टोली का नायक आया है तो कल दिल्ली के शोहदों का सरदार आने वाला है। सुबह पूना के विश्वविख्यात उचक्कों का नेता आया है तो शाम को बनारस के ख्यातनाम ठगों का प्रतिनिधि-मंडल आने वाला है। इस प्रकार की सैकड़ों सुरस खबरें रोज सुनने में आती थीं। अधिवेशन के मंडप और प्रतिनिधियों के निवासस्थान की तैयारी जोरों से चल रही थी। दो-एक बार तो मंडप के कार्य की प्रगति का प्रमाण हमें घर बैठे मिल गया। उदाहरणार्थ एक रोज बंडूनाना और मेरे दोनों के साफे एक साथ गायब हो गए। हमने तुरंत अंदाज लगाया कि उनकी योजना मंडप की छत के चंदोवे में हुई होगी। शाम को जाकर देखने पर हमारा अनुमान बिलकुल सही प्रमाणित हुआ। चंदोवे के एक परदे पर बंडूनाना

के साफे पर पड़े हुए पान के दाग और दूसरे पर मेरे साफे पर जगह-जगह बीड़ी से जलकर पड़ जाने वाले छेद स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। दूसरी बार हमारे दुपट्टे गायब हो गए। हमने तर्क भिड़ाया कि अब मंडप के चहुंओर झालर लग रही होगी। यह भी सही निकला। एक बार तो यारों ने बंडूनाना की चुटिया ही पार कर दी। पहले तो हमारी समझ में नहीं आया कि शर्विलकों को इसकी भला क्या जरूरत पड़ गई। दूसरे दिन हम मंडप देखने के लिए गए तब इस रहस्य का उद्घाटन हुआ। प्रवेश द्वार के पास शोभा के लिए विभिन्न जानवरों की मिट्टी की प्रतिमाएं बनायी हुई थीं। उनमें से एक बकरे की दाढ़ी के रूप में नाना की चुटिया शोभायमान हो रही थी। हम लोगों ने पाहुनों के आदरातिथ्य में शब्दशः नखशिखांत सहयोग दिया था इसका यह प्रत्यक्ष प्रमाण था।

आखिर सम्मेलन का दिन आ पहुंचा। अध्यक्ष महोदय उसी रोज सुबह आने वाले थे। उनकी अगवानी के लिए पूरी बिरादरी स्टेशन पर गई। उनका जुलूस जिस बैलगाड़ी में बिठाकर निकाला गया, उसमें बैलों की जगह स्वयंसेवक जुते। इन लोगों ने गाड़ी खींचते-खींचते तोबड़े में मुंह डालकर सानी खाने में भी कसर नहीं छोड़ी। जुलूस बहुत शानदार रहा। सिर्फ उस गड़बड़ी में अध्यक्ष महोदय की घड़ी और अंगूठी चोरी हो गई। परंतु ये वस्तुएं उनकी या उनके पूर्वजों की उपार्जित संपत्ति न होने के कारण उन्हें इससे विशेष दुख नहीं हुआ। और फिर यह बात भी थी कि उसी रात को मेरी घड़ी और बंडूनाना की अंगूठी चोरी चली जाने से अध्यक्ष महोदय के नुकसान की भरपायी हो गई होगी।

अब तक सभी चौर्यकर्म में निपुण हो जाने के कारण सम्मेलन की प्रवेश-पत्रिका मिलने में हमें कोई कठिनाई नहीं हुई। स्वागत-समिति के अध्यक्ष का भाषण अपनी सारगर्भिता के कारण स्मरण रहेगा। सम्मेलन की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए उन्होंने कहा था :

"हमारे व्यवसाय को समाज की ओर से जितना प्रोत्साहन मिलना चाहिए, उतना नहीं मिलता। यह बड़े शर्म की बात है। [धिक्कार !…धिक्कार…की आवाजें।] अर्थशास्त्र का एक सर्वमान्य सिद्धांत है कि देश की उन्नति के लिए देशांतर्गत संपत्ति का हस्तांतरित होते रहना परम आवश्यक है। हमारे व्यवसाय के अभाव में यह सिद्धांत पुस्तकों में ही रह जाता। संपत्ति के स्थानांतरण के लिए चोरी से अधिक अनुकूल कौन-सा व्यवसाय हो सकता है ? [कोई नहीं…कोई

नहीं···] कृपण मनुष्य कौड़ी-कौड़ी करके जमा किया हुआ धन जमीन में गाड़ देता है। साहूकार लोग आसामियों को ठग कर जो रुपया कमाते हैं उसे तिजोरियों में वंद कर देते हैं। स्त्रियों की जोड़ी हुई वचत गहनों के रूप में अटक जाती है। इस प्रकार देश की कितनी पूंजी निष्क्रिय पड़ी रहती है। सज्जनो, इस रुंधे द्रव्य के प्रवाह को मुक्त करके उसे सारे देश में अविरोध संचरित करने का श्रेय हमारे ही धंधे को है। [प्रचंड हर्षध्वनि।] इसके अलावा हमारे व्यवसाय के कारण कारीगरों को नये-नये उपकरण बनाने का प्रोत्साहन मिलता है। ताले-तिजोरियां वनाने का धंधा पूर्णतः हमारे व्यवसाय पर आधारित है। अर्थशास्त्र की दृष्टि से यह भी एक बहुत बड़ा राष्ट्रीय लाभ है।

"सज्जनो, प्राचीन काल में हमारे धंधे ने बड़े अच्छे दिन देखे हैं। भगवान श्रीकृष्ण वचपन में गोरस चुराया करते थे। विश्वामित्र जैसे राजर्षि को वसिष्ठ की कामधेनु चुराने में कोई हिचक नहीं हुई। दुर्योधन जैसे चक्रवर्ती सम्राट और उसके वयोवृद्ध सेनापति पितामह भीष्म को विराट की गायें हांक ले जाने में तिलमात्र भी संकोच नहीं हुआ। प्राचीन युग के राजाओं को अर्थशास्त्र के इस व्यापक तत्व की जानकारी होने के कारण वे स्वयं उस पर यथाशक्ति अमल करते थे और समय-समय पर प्रजाजनों को लूटने का अभियान करते रहते थे। परंतु आधुनिक और पुरोगामी कहलाने वाले आज के राज्यकर्ता हमारे कलामय व्यवसाय के लिए कठोर दंड का विधान करते हैं। ठगवाजी जैसी प्राचीन कला का तो उन्होंने जड़मूल से नाश कर दिया है। यह सब देखकर किस सहृदय मनुष्य का अंतःकरण द्रवित नहीं होगा? [धिक्कार!] सौएक साल पहले तक हमारे देश के राज्यकर्ता ठगवाजी जैसे खांटी स्वदेशी उद्योग को प्रश्रय दिया करते थे। पिंडारियों की तो पूरी सेनाओं का वे पोषण करते थे। उस युग में पाश्चात्य देशों में भी चौर्यकला की बड़ी तरक्की हुई थी। परंतु अब वहां भी जमाना बदल गया है।

"इस हालत में संतोष सिर्फ इस बात का है कि आजकल चोरी की सहोदरा बहन घूसखोरी का देशभर में बोलबाला है। परंतु इन दोनों सगी बहनों में एक बहुत वड़ा अंतर है। रिश्वतखोरी संपत्ति के मालिक की अनुमति से होती है जबकि चोरी उसकी इच्छा के विरुद्ध। हमारा धंधा इस दृष्टि से अधिक उदात्त है। उसमें संपत्ति के स्वामी को पश्चात्ताप करने की नौबत कभी नहीं आती। मसल मशहूर

है कि ठगे सो ठग पर ठगावे सो ठाकुर। चोरी पकड़ी भी जाए, तो उसका दायित्व सिर्फ चोर पर रहता है। घूस की तरह वह अपने स्वामी को नहीं धर दबोचती। वैसे अपने कृत्य की जिम्मेदारी संपत्ति के मालिक पर डालने वाले कुछ सूक्ष्म कलाकार हमारे पेशे में भी पाये जाते हैं। सुनार, दरजी, ग्रंथकर्ता आदि इसी श्रेणी के कलाकार हैं। इन सब पेशेवरों ने पराया माल बेमालूम अपना कर लेने का व्रत अल्प रूप में ही सही पर अखंड रूप से जारी रखा है। इसलिए उन्हें भी हमारीबिरादरी का सम्माननीय सदस्य मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इस सम्मेलन में हम इस आशय का प्रस्ताव भी रखने वाले हैं।

"चोरी से सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि वह कल्पनाशक्ति का पोषण करती है। इसके अलावा इस व्यवसाय में हमें बहुत से विधि-निषेधों का पालन करना पड़ता है। आपको यह सब बताना सूरज को दीपक दिखाने के समान है। इसलिए अधिक विस्तार न करते हुए कल्पनाशक्ति के विकास के दो-एक उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा। यह बात पहले कही जा चुकी है कि चोर न होते तो तिजोरियां और तालों का आविष्कार न हुआ होता। हमारी तो यह स्पष्ट राय है कि यंत्रकला का पहला आविष्कार ताला ही है। रेलगाड़ी, तारयंत्र इत्यादि सारी आधुनिक वस्तुओं का उद्गम ताले से ही हुआ है। इस प्रकार यंत्रों का जनक है ताला और ताले के जनक हैं हम। इस हालत में रेलगाड़ियों को सीटी बजाते हुए दुनिया भर में संचार करने की स्वतंत्रता हो, और हमें दर्रे-घाटियों में क्यों घूमना-फिरना पड़े, यह भला कहां का न्याय है ? मित्रो, मेरी आपसे यही प्रार्थना है कि इन अगणित संकटों के बावजूद हमें अपने धैर्यमेरु को न डिगाते हुए अपने व्रत पर अटल रहना चाहिए।

"अब अध्यक्ष महोदय के संबंध में दो शब्द बोलने की मैं इजाजत चाहता हूं। आपके सामने उनका महिमास्तोत्र गाने का मेरा उद्देश्य भी नहीं है। कारण कि मैं यदि उनके गुणों का वर्णन करने लगूं तो उस लेख के लिए आवश्यक कागज और स्याही जुटाने के लिए मुझे जीवन भर इन्हीं दो चीजों की चोरी करते रहना पड़ेगा। [प्रचंड करतलध्वनि] उनके संबंध में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मृच्छकटिक नाटक का शर्विलक इनके खानदान का आद्यपूर्वज था। उसने स्त्रीलंपटता के कारण जिस व्यवसाय को अंगीकृत किया था उसे उसके आज के वंशज नितांत निस्पृहता से आगे बढ़ा रहे हैं। अध्यक्ष महाराज ने अपने

जीवन की एक भी रात चौर्यकर्म किये बिना बेकार नहीं गंवाई। उनके इस अक्षुण्ण व्रत में आज के सम्मेलन के कारण भी कोई विघ्न नहीं पड़ेगा। कारण कि आज रात को भी यहां के निवासियों को अपना हस्तलाघव दिखाने का उन्होंने निर्णय किया है। [उनके इस निश्चय का अनुभव और लोगों की अपेक्षा मुझे और वंडूनाना को ही अधिक हुआ, यह अलग से बताने की आवश्यकता नहीं]। उनके कुल में जितने भी पुरुष उत्पन्न हुए, सबने अपने कर्तव्यपालन में प्राणों की आहुति चढ़ा दी। उनमें का प्रत्येक पुरुषोत्तम अंत में किसी न किसी हत्या या डकैती में शरीक होकर फांसी के तख्ते पर चढ़ा। फांसी लगने की प्रथा उनके वंश में पीढ़ी दर पीढ़ी चलती आने का परिणाम यह हुआ है कि इनके कुल में जन्म लेने वाले हर लड़के के गले के इर्दगिर्द फांसी के रस्से के निशान स्पष्ट दिखाई देते हैं। अन्य बातों में भी उसके पांव पालने में ही दिखाई देने लग जाते हैं। खुद अध्यक्ष महोदय का ही उदाहरण ले लीजिये। बचपन में इनकी मां जब इन्हें दूध पिलाने बैठती थी तब ये उसके गले की हमेल में से एकाध रुपया बेमालूम पार कर देते थे। [प्रचंड हर्षध्वनि।] उसके बाद धीरे-धीरे शोहदा, गिरहकट, उचक्का, चोर, डकैत आदि पदवियां प्राप्त करते हुए और हथफेरी के विभिन्न सोपानों को पार करते हुए अब वे व्यवसाय के सर्वोच्च सोपान पर पहुंच गये हैं। अभी कुछ रोज पहले ही उन पर डकैती का मुकदमा चला था जिसमें कालेपानी की सजा होने की आशंका थी। हम सब तो घबरा गये थे कि वे कहीं हमें छोड़कर चले न जाएं। परंतु भगवान ने हमारी प्रार्थना सुन ली और शहर के सब से धूर्त वकील के प्रयत्नों से सिर पर आया हुआ संकट टल गया। यहां यह बता देना मैं आवश्यक समझता हूं कि इससे खुश हो कर अध्यक्ष महाशय ने वकील साहब को जो पचास हजार रुपये बतौर शुक्राने के दिये थे, वह रकम उन्हीं के घर में सेंध लगाकर प्राप्त की गई थी। इसी को कहते हैं कि मियां की जूती और मियां का सर। चौर्यकर्म में ऐसी अद्वितीय निपुणता संपादित करने वाले मनुष्योत्तम को आप अध्यक्षपद के लिए सर्वानुमत से चुनेंगे ऐसी आशा है।"

इस भाषण के बाद तालियों की जो प्रचंड ध्वनि हुई उसमें हमारे हाथ व्यस्त रहने के कारण कुछ दक्ष सभासदों ने उतनी ही देर में हमारी जेबें साफ कर दीं। इसके बाद अध्यक्ष का औपचारिक चुनाव हुआ और उनका आवेशपूर्ण भाषण हुआ। अंत में कुछ प्रस्ताव परिषद् के सामने रखे गये जो सर्वानुमत से पारित

हुए। उनमें से कुछ महत्वपूर्ण प्रस्ताव यहां दिए जाते हैं :—

1. प्रतिवर्ष सम्मेलन के अवसर पर चोरी के लिए आवश्यक औजारों और अन्य उपकरणों की एक प्रदर्शनी का आयोजन किया जाए।

2. प्लेग की महामारी के कारण लोग घर-बार छोड़ कर शहर के बाहर छोलदारियों में जाकर रहते हैं। इससे हमारे पेशे के बड़ी सुविधा रहती है। सभा इससे संतोष व्यक्त करती है और प्लेग का कारण होने वाले तमाम तत्वों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है।

3. मकान-मालिकों की ओर से हथियारों का प्रयोग होने के कारण व्यवसाय-बंधुओं के जखमी होने का खतरा रहता है इसलिए सभा हथियार बंदी का कानून बना देने वाली माईबाप सरकार का हार्दिक अभिनंदन करती है।

4. सदस्य जब किसी गांव में डाका डालने के लिए जाते हैं तो गांव के लोग इकट्ठे होकर उन पर पत्थरों की वर्षा करते हैं और अन्य प्रकार से उनके काम में बाधा डालते हैं। सभा उनके इस नीच बर्ताव का धिक्कारपूर्वक निषेध करती है।

5. अंधेरी रातों में म्युनिसिपल कमेटी सड़कों पर रोशनी की व्यवस्था करती है। इससे दुराचारियों को अपने संकेतस्थलों पर पहुंचने में सहयता मिलती है और समाज में अनाचार फैलता है। इसी प्रकार किसी गुफा में से रेलगाड़ी गुजरती है तब डिब्बों की बत्तियां जला दी जाती हैं। इससे आग लगने की संभावना रहती है। अतः परिषद् इन प्रसंगों पर बत्तियां न जलाने की विनती कमेटी और रेलवे कंपनी से करती है।

6. सुधारित पंचांग में स्थूल और सूक्ष्म गणना के आधार पर प्रतिमास दो भिन्न-भिन्न अमावस्याएं निश्चित की जाती हैं। सभा इस व्यवस्था के प्रति संतोष व्यक्त करती है और कृष्णपक्ष की तरह शुक्लपक्ष में भी दो-एक अमावस्याओं की योजना करने की आग्रहभरी विनती ज्योतिष सम्मेलन से करती है।

7. स्वदेशी आंदोलन का समर्थन करने के लिए सभा प्रस्ताव रखती है कि चौर्यकर्म में उपयोग होने वाले रस्से-रस्सियां, सीढ़ियां, फावड़ा-कुदाल, रेती इत्यादि औजार स्वदेशी ही होने चाहिए। विदेशी माल का ही नहीं बल्कि विदेशियों का भी बहिष्कार होना चाहिए। चोरियां सिर्फ इस देश के निवासियों के घरों में ही की जाएं और गोरों को इस विशेषाधिकार से वंचित रखा जाए।

इसी प्रकार जिन वस्तुओं की चोरी की जाए वे भी विशुद्ध स्वदेशी होनी चाहिए। विदेशी वस्तुओं को हाथ लगाना भी यह सभा त्याज्य समझती है।

8. शराब, भांग आदि का नशा करके चोरी करने पर अकसर सफलता नहीं मिलती। इसलिए यह सभा मद्यपान का जोरदार निषेध करती है।

9. चोर और ग्रंथकार इन दोनों का हेतु अर्थचौर्य ही होता है। इस समानता के आधार पर इन दोनों बिरादरियों में बंधुभाव बढ़ाने के उद्देश्य से दोनों की परिषदों का एक सम्मिलित अधिवेशन आयोजित करने की आग्रहभरी विनती यह परिषद साहित्य सम्मेलन के कर्णधारों से करती है।

10. बड़े शहरों में पुलिस के सिपाहियों की संख्या कम करना मितव्यता की दृष्टि से और नोटों का प्रचलन बंद करना आर्थिक दृष्टि से परमावश्यक है। अतः परिषद् सरकार से इन दोनों कटौतियों को तुरंत अमल में लाने की दरख्वास्त करती है। साथ ही यह सुझाव रखती है कि नोट छापना यदि आवश्यक ही हो, तो कम से कम उन पर नंबर न छापे जाएं।

11. इस सम्मेलन के सदस्य होना चाहने वालों को कम से कम दस चोरियों का अनुभव होना चाहिए। इसके लिए आवेदनपत्र के साथ दस गृहस्वामियों के सिफारिशी पत्र नत्थी करना आवश्यक है। कार्यकारिणी सभा के सदस्य बनने के लिए उपरोक्त योग्यता के अलावा सरकारी खजानों या बैंकों पर डाका डालने का कम से कम एक बार का अनुभव होना चाहिए। इसी प्रकार सम्मेलन का अध्यक्ष होने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि उन महापुरुष द्वारा कम से कम एक बार फांसी या कालेपानी की सजा के योग्य अपराध किया गया हो।

ये और इसी प्रकार के कुछ अन्य प्रस्ताव पारित होने के बाद अध्यक्ष का आभार माना गया और सम्मेलन समाप्त हुआ। सम्मेलन का काम कुल मिला कर चार रोज तक चला। इस दरमियान शहर में इतनी चोरियां हुईं कि हम यह चाहने लगे कि अगले वर्ष के अधिवेशन का सम्मान हमारे नगर से जितनी दूर के स्थान को मिले उतना ही अच्छा हो। मेहमान प्रतिनिधिगण वापस जाने लगे तब हम उन्हें शहर की सीमा तक विदा करने के लिए गए। प्रत्येक प्रतिनिधि अपने हाथों में, बगल में, जेब में, या अंटी में कुछ न कुछ छिपाये हुए था। कइयों ने जब जाते समय हमारा प्रेम से आलिंगन किया तब उनकी गांठ में से चुराया हुआ माल गिर

पड़ा। इससे उनका गला भर आया। अब यह कहना मुश्किल है कि यह हमारे विरह के कारण हुआ या अंटी में आया हुआ माल अंतिम घड़ी में छिन जाने के कारण हुआ।

मेहमानों को विदा करके लौटते समय हमारा मन बहुत उदास था। सांत्वना सिर्फ एक बात की थी कि उनका चिरवियोग सहन करने पर भी अब हमें वित्त का वियोग सहन नहीं करना पड़ेगा। इस विचार से शोकाकुल मन को दिलासा देते हुए हम भारी अंतःकरण और हल्की जेबें लेकर घर लौट आए।

16. याचक

जो लोग दूसरों की किसी भी प्रकार से सेवा किए बिना मुफ्त में ही उनसे द्रव्य या अन्य किसी वस्तु की याचना करते हैं उन सबका समावेश यहां याचक शब्द के अंतर्गत किया गया है। अपने देश में दिनोंदिन दारिद्रय के साथ-साथ याचकों की संख्या भी बढ़ती जा रही है। ऐसा एक भी दिन नहीं जाता जिस रोज दो-चार याचक हमारी इच्छा के विरुद्ध आकर हमारा दिमाग न चाटते हों। आज-कल अच्छा वेतन देने पर भी रसोइये, पनिहारे आदि मिलना मुश्किल हो गया है। पहले इस प्रकार के नौकर आसानी से मिल जाते थे, इतना ही नहीं, वे गुणी और ईमानदार भी हुआ करते थे। आजकल वे सब कहां गायब हो गए, इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर है कि उन एकनिष्ठ सेवकों ने आजकल मुफ्तखोरी की कमर कस ली है और उनका मधुकरवृत्ति वाले याचकों में रूपांतर हो गया है। ठीक भी है। दस-पांच घरों के चक्कर काटकर यजमानों से आदर-सत्कार और भरपेट भोजन के उपरांत रोज रुपए-दो रुपए मिल जाते हों, तो दस रुपए माहवार पर मालिक की गालियां खाकर कड़े परिश्रम की नौकरी कौन करेगा? इस हालत में गुण और ईमानदारी की कीमत घटकर आलस और लिहोड़ेपन का भाव बढ़ जाए यह स्वाभाविक है। कोई चरित्रसंपन्न, विनयशील, विद्वान और अल्पसंतोषी याचक हमारे यहां आए और हम जो कुछ दें उससे संतुष्ट होकर आशीर्वाद देता हुआ चला जाए तो उसके पल्ले क्या पड़ेगा? अकसर हम उसे कम से कम दक्षिणा देकर टरका देने का प्रयत्न करेंगे। परंतु कोई लिहाड़ा, लालची और निर्लज्ज ब्राह्मण आनकर मुंह फैलाने लगे तो उस बला को टालने के लिए ही सही, पर हमें उसे तृप्त करना ही पड़ता है। अपात्र को दिए गए इस प्रकार के जबरदस्ती के दान से पुण्य होने के बजाय हम आलस्य, व्यसन आदि दुर्गुणों को प्रोत्साहन देने के पाप के ही सहभागी हैं।

कोई निर्धन मनुष्य ईमानदारी से व्यवसाय करने के इरादे से अपना माल कंधे पर लादे घर-घर जाकर बेचने लगे, तो परिश्रम के अनुपात में उसे बहुत कम आमदनी होगी। इसके अलावा ग्राहकों के नाज-नखरे सहन करने पड़ेंगे सो अलग। परंतु कंधे का बोझ फेंककर वह यदि माथे पर तिलक, गले में जनेऊ और हाथों में पंचपात्र-आचमनी धारण कर ले तो यजमान उसकी अगवानी करके उसे आदरपूर्वक उच्चासन पर बिठाएंगे और इच्छा व्यक्त करते ही छप्पन व्यंजनों का भोजन करवाकर ऊपर से दक्षिणा भी देंगे। यह आलम जब तक चल रहा है तब तक मेहनत-मजदूरी का विकास और आलस्य का नाश कैसे हो सकता है? सच पूछा जाए तो याचक और याचकवृत्ति के जनक यजमान और उनकी अंधश्रद्धा ही है।

इन मुफ्तखोरों के अलावा ज्योतिषी, कथावाचक, गवैये, जादूगर, गारुड़ी इत्यादि याचक भी समय-समय पर रुपयों की मांग करते रहते हैं। परंतु इन लोगों को मिलने वाले धन के बदले में उन्हें कुछ न कुछ करामात दिखानी पड़ती है; कुछ न कुछ परिश्रम करना पड़ता है; और अपने व्यवसाय की कुछ न कुछ पूर्व-तैयारी करनी पड़ती है। इसके अलावा उनका सत्कार करने के बदले में देने वाले को कुछ न कुछ ज्ञान या मनोरंजन की प्राप्ति अवश्य होती है। परंतु गलत उच्चारण और अशुद्ध पाठ वाले दो-चार वेदमंत्रों के बल पर जो याचक घर-घर से दक्षिणा वसूल करते हुए घूमते रहते हैं उन्हें तिलक-छापे के अलावा किसी पूंजी की और अर्थहीन शब्दाडंबर से यजमान को मजबूर कर देने वाली वाचाल जिह्वा के अलावा और किसी शारीरिक या मानसिक योग्यता की आवश्यकता नहीं पड़ती। उनकी सच्ची पूंजी और असली योग्यता दूसरों की श्रद्धा और आस्था ही होती हैं। उनके भाग्य से समाज में इन चीजों का निर्माण ब्रह्माजी ने पहले ही से प्रचुर मात्रा में कर रखा है।

दक्षिणा मिलने से पहले याचकों को यजमान के सामने दांत निपोरते हुए जो निरर्थक बकझक करनी पड़ती है वह अक्सर दाता और उसके दानवीर मन की स्तुति से भरी रहती है। यह चापलूसी अत्यंत हीन कोटि की होती है पर उसे सुनकर अधिकतर यजमान अपने आपको कर्ण का अवतार समझने लगते हैं। उन (लंब) कर्णों की समझ में यह सीधी सी बात नहीं आती कि जिस याचक ने कभी उनकी शक्ल भी नहीं देखी और जिसकी दिलचस्पी उनका मुख देखने के बजाय

उनके दिये हुए रुपयों पर अंकित सम्राट की मुखछवि देखने में ही अधिक रहती है, उसे उनके महत् प्रयास से छिपाकर रखे हुए दानवीर गुण की जानकारी आखिर हुई कैसे ? दाता की प्रसंशा याचकों के व्यावसायिक हथकंडे के सिवा और कुछ नहीं होती और यजमान की दानवीरता इस स्तुति का कारण न होकर उसका परिणाम ही होता है।

एक बार काशी का एक पंडा हमारे यहां आया और कहने लगा कि "आपका नाम और कीर्ति सुनकर इतनी दूर से आया हूं।" काशी में रहते हुए उसे मेरी सुकीर्ति सुनाई दी और उसे सुनकर वह इतनी दूर से चलकर आया है यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता महसूस हुई और अपने गौरव का अनुभव रोमांच उत्पन्न करके मन में गुदगुदी करने लगा। मैंने मन ही मन अपनी पीठ ठोंकी और उसे उसकी लंबी यात्रा के अनुरूप दक्षिणा देने ही वाला था कि पास बैठे हुए पांडूतात्या उससे मेरा नाम पूछ बैठे। सुनते ही वह सिटपिटा गया। नाम जानता तो बताता। आखिर उसे निराश होकर हाथ हिलाते हुए जाना पड़ा। जाते समय मुझे और तात्या को भद्दी-भद्दी गालियां सुनाता गया। दक्षिणा के लिए न सही, गाली देने के लिए ही मेरे और मेरे पूर्वजों के नाम की जानकारी होती तो बड़ी सुविधा रहती ऐसा भाव उसके चेहरे पर स्पष्ट झलक रहा था।

कुछ याचक किसी धर्मकार्य या धार्मिक संस्था के नाम पर रुपया वसूल करते हैं। 'अमुक शहर में धर्मशाला बनवानी है', 'अमुक मंदिर पर सोने का कलश चढ़वाना है', 'अमुक शिवालय का जीर्णोद्धार करना है' 'फलां संत की समाधि बनवानी है' आदि बहाने बड़े उपयोगी सिद्ध होते हैं। इस प्रकार चंदा जमा कर लेने के बाद शायद उन्हें इस अंग्रेजी कहावत की याद आती है कि दानधर्म का आरंभ घर से ही होता है। अतः उगाहे हुए रुपये को वे निस्संकोच भाव से अपना घर बसाने में खर्च करते हैं और अपने बीवी-बच्चों के अन्नवस्त्र की व्यवस्था को ही धर्मादाय राशि का सर्वश्रेष्ठ उपयोग मान लेते हैं। धर्म या ईश्वर के नाम पर मांगने से मनुष्य को किसी चीज की कमी नहीं रहती इस सत्य का अनुभव इन लोगों के जितना और किसी को नहीं होता।

इस प्रकार के अनुभवों के कारण याचकों को दान देने पर मेरी बिलकुल श्रद्धा नहीं रही। इस मामले में पांडूतात्या मुझसे एक कदम आगे हैं, पर वे अपने मुंह से कभी दो-टूक इनकार नहीं करते। 'आज तो सूतक है', 'आज दिन अच्छा

नहीं हैं' इत्यादि बहानों से उनका काम चल जाता है। उधर बंडूनाना का आचरण पहले इसके बिलकुल विपरीत हुआ करता था। वे बेचारे सबका लिहाज करते थे और किसी भी अभ्यागत को कभी खाली हाथ नहीं लौटाते थे। उनके घर में किसी न किसी साधु-बैरागी, गवैगे-कथावाचक या पंडे-पुरोहित का डेरा सदैव पड़ा रहता था। शीघ्र ही उनकी दानवीरता की कीर्ति इतनी फैली कि तीन-तीन चार-चार याचक एक साथ उनके यहां अड्डा जमाने लगे। नाना के परिवार का विस्तार वैसे ही बहुत लंबा-चौड़ा है। उसमें इन आगंतुकों की भीड़ जुड़ने के कारण रसोई-पानी और अन्य बातों से गृहिणी को बड़ा कष्ट होने लगा। पर चारा ही क्या था ? बेचारी ने सब चुपचाप सहन किया। समय बीतते याचकों की संख्या बढ़ते-बढ़ते नाना के कुटुंबीजनों की संख्या से भी बढ़ गई। पांडित्य, विद्वत्ता, संगीतविद्या आदि गुण 'सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ते' वाली उक्ति को कुछ अलग अर्थ में चरितार्थ करते हुए उनके घर में मानो पांव तोड़ कर आ बसे। शीघ्र ही उन्हें अपने ही घर में रहने में संकोच होने लगा। स्नान-भोजनादि के लिए घर आकर बाकी समय वे मित्रों के यहां बिताने लगे। घर पर यह आलम रहा कि मेहमानों के लिए एक जून में एक पसेरी चावल खपने लगा। गृहस्वामी की उपस्थिति का झंझट दूर होते ही अभ्यागत लोग आपस में एक-दूसरे को आग्रह कर-करके ठूंसपेट खिलाने लगे। माले मुफ्त, दिले बेरहम ! इसके अलावा, ये अनाहूत अतिथि बड़े नाजुकमिजाज सिद्ध हुए। बासी भोजन, मोटे चावल, या जरा भी बासवाला घी उन्हें पसंद नहीं आता था। उनमें अनेक पंथों के अनुयायी होने के कारण रोज किसी न किसी को कोई न कोई व्रत-उपवास लगा रहता था। अब क्या था; घर में प्रतिदिन साधारण, निरान्न और फलाहार यों तीन प्रकार का भोजन बनने लगा। रोजमर्रा के खाने की अपेक्षा इस फलाहार पर अधिक खर्च होना स्वाभाविक था। निरान्न उपवास करने वालों को तो दूसरे दिन जुलाब की आवश्यकता पड़ने लगी। यह सारी लूटखसोट नाना ने खुली आंखों से सहन की। फिर इतना खर्च होकर घर में सुख-समाधान का वातावरण रहता हो, सो बात भी नहीं। तीन-तीन चार-चार गवैये या पंडे एकसाथ उपस्थित होने के कारण वे एक-दूसरे से द्वेष करके एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करने लगे। कहावत मशहूर है कि "भिक्षुको भिक्षुकं दृष्ट्वा श्वानवत् गुर्गुरायते"। कभी-कभी ऐसा भी होता कि उनकी आपसी गुर्राहट को देखकर नाना का मन खट्टा हो

जाता और किसी को भी अपेक्षित प्राप्ति हुए बिना, सब को उन्हें मन ही मन गालियां देते हुए खाली हाथ लौट जाना पड़ता। परंतु उनके खाली किये हुए स्थानों को भरने के लिए, रणमैदान में जूझने वाले राजपूत योद्धाओं की तरह, एक की जगह तीन याचक सदा तैयार रहते।

एक बार तो ऐसा हुआ कि नाना के यहां चार पंडे, तीन पुरोहित, दो शास्त्री, दो गवैये, दो कथावाचक, दो ज्योतिषी, एक अष्टावधानी और एक बहुरूपिया यों कोई बीसेक याचकों का जमघट जुड़ गया। इन लोगों ने अपनी अनियमितता, झगड़ालूपन, बेहूदगी और पेटूपन से घर भर का नाकों दम कर दिया। चंदे-चिट्ठे के लिए रातदिन नाना का दिमाग चाटा जाता था सो अलग। इसी कारण उन दिनों उनका मित्र समुदाय उनसे कतराने लगा था। पाहुनों को इससे कोई लेन-देन नहीं था। अष्टावधानी महाराज को एक साथ आठ-आठ बातों का ध्यान न रहे यह बात तो समझ में आती थी, पर औरों का भी यही हाल था। शिष्टाचार के नाते कहे हुए नाना के शब्दों का अभिधार्थ में अनुसरण करके वे उनके घर को अपना ही घर मानने लगे। गवैयों की तानों, पुरोहितों के पाठों, शास्त्रियों के वाद-विवाद और पंडों की गाली-गलौज में नाना को कान दिये कोई बात सुनाई नहीं देती थी और कुछ दिनों में तो नौबत यहां तक आयी कि बालबच्चों से तीन-तीन चार-चार दिन भेंट होना दुर्लभ होने लगा।

नाना के संकोची स्वभाव के कारण उनके घर को सराय बनता देखकर हम मित्रों से रहा नहीं गया। हम इस आपत्ति में से उन्हें मुक्त करने की युक्तियां सोचने लगे। जो घर में दखल जमा चुके थे, उनका विचार तो बाद में भी हो सकता था पर नवागंतुकों को रोकना तुरंत लाजिमी था। इसके लिए ड्योढ़ी में एक विकराल और कटखना कुत्ता बांधने का निश्चय किया गया। पर इसमें दिक्कत यह हुई कि कुत्ता अपने और पराये के भेद से सर्वथा अनभिज्ञ था। वह आगंतुकों की अपेक्षा घर के लोगों को ही अधिक तंग करने लगा। दूसरी कठिनाई यह थी कि कुत्ते की वजह से जिस प्रकार बाहर के याचक घर में आने बंद हुए उसी प्रकार भीतर वालों के बाहर जाने पर भी रोक लग गई। जो आगंतुक दो-चार दिन के लिए आए थे उन्होंने कुत्ते की नाकेबंदी उठने तक घर में ही डेरा जमाने का निश्चय किया। उन लोगों की दिनरात की कांय-कांय में कुत्ते का भौंकना जुड़ा सो अलग। इसका एक अनपेक्षित परिणाम यह भी निकला कि

गवैयों और कथावाचकों की पहले कर्कश मालूम देने वाली आवाज अब कुत्ते के भौंकने की तुलना में कुछ मधुर लगने लगी और अंत में तो खुद नाना उनके तान-अलापों में दाद देने लगे।

अपनी मुक्ति का यों विपरीत परिणाम होता देखकर हमने कुत्ते को हटवा दिया और शत्रुदल पर बाहर के बजाय भीतर से आक्रमण करने का निश्चय किया। इसके लिए पासियों को पैसे देकर पहले तो हमने पांच-सात बिच्छू पकड़वाकर मंगवाए। फिर रात को सोने से पहले उन्हें कमरे में ऐसी चालाकी से बिखेर दिया कि उनके डंक का प्रसाद सब मेहमानों को मिल सके। पहले बिच्छू की नियुक्ति ऐसे स्थान पर की गई कि ज्योतिषी महाराज को वृश्चिक राशि का स्थान ढूंढने का परिश्रम न करना पड़े और वृश्चिक खुद उनके राशिस्थान में पहुंच जाए। दूसरे की योजना इस ढंग से हुई कि गवैये महाराज को वृश्चिकदंश का लहरा आकर उनके कंठ में से शोकरस का आज तक किसी ने न सुना हुआ आलाप निकलने लगे। आगंतुकों में से एक पुरोहित महोदय ने एक रोज आधासीसी से व्याकुल नाना को मनोनिग्रह के द्वारा पीड़ा को वश में रखने का बहुमूल्य उपदेश दिया था। अतः तीसरे बिच्छू को उनके तकिये के नीचे स्थानापन्न किया गया। हमें देखना था कि पुरोहितजी महाराज वृश्चिकदंश की वेदना का योगबल या आध्यात्मिक शक्ति द्वारा मुकाबला किस प्रकार करते हैं। इस प्रकार बिच्छुओं की मौके के स्थानों पर व्यूहरचना करके उनकी करामात की मेहमानों पर होने वाली प्रतिक्रिया का निरीक्षण करने के लिए हम तीनों ने भी एक कोने में बिस्तर जमा लिए।

बत्तियां बुझकर उंधेरा होते ही बिच्छुओं ने अपना काम शुरू कर दिया। परंतु यहां भी हमारा भाग्य आड़ा आया। कोनों में छिपने की अपनी जन्मजात आदत के कारण कहो या अपरिचित पाहुनों की अपेक्षा अपने ही नगर के लोगों की तरफदारी करने के इरादे से कहो, सारे बिच्छुओं ने डंक पैने कर-करके हम पर ही आक्रमण किया। शीघ्र ही हमारी ऐसी हालत हो उठी कि जीवनभर नहीं भूलेंगे। हम तीनों वेदना से चीखने लगे पर पराया माल खाकर सुखनिद्रा में लीन पाहुनों पर इसका कोई असर नहीं हुआ। एक-दूसरे से स्पर्धा करने वाले उनके खर्राटों के आरोह-अवरोह को भेदकर उनकी नींद तोड़ने में हमारी चीखों को काफी समय लगा। एक बार जगार हो जाने पर उन्होंने चीखने-चिल्लाने

और धमाचौकड़ी का जो आलम मचाया उसे देखकर तो ऐसा लगने लगा कि इससे तो वे सोये हुए ही अच्छे थे। पुरोहित महोदय नाना को मनोबल द्वारा वेदनानिग्रह करने का उपदेश फिर एक बार देने लगे। ज्योतिषीजी कुंडलियां बना-बना कर उस समय गृहस्वामी को वृश्चिकदंश होने का अनिवार्य योग था यह सिद्ध करने लगे। कथावाचक महोदय 'जा समय के बीच में नारदजी महाराज मृत्युलोक में आते भये' आदि प्रस्तावना से आरंभ करके किसी पौराणिक वृश्चिक-दंशलीला का वर्णन किसी जनमेजय नामक राजा को सुनाने लगे और बाकी के लोग चिड़िया चुग जाने के बाद खेत की रखवाली करने वाले अक्लमंदों की तरह संजीदगी के उपदेश दे-दे कर गड़बड़ी और कोलाहल में महत्वपूर्ण योगदान देने लगे।

इस प्रकार हमारी दूसरी युक्ति भी नाकामयाब हो जाने पर इन मुफ्तखोरों से पिंड छुड़ाने के लिऐ हमने एक नायाब तरकीब की योजना की। एक रोज हमने नाना के किसी निकट के संबंधी की मृत्यु हो जाने की झूठी अफवाह फैला दी। बात बिलकुल बेसिरपैर की थी क्योंकि नाना का ऐसा कोई संबंधी था ही नहीं और होता भी तो नाना को उसके अस्तित्व और मृत्यु का ज्ञान एक साथ होने के कारण उन्हें उसकी मृत्यु से विशेष शोक होने का कोई कारण नहीं था। परंतु इस समाचार से नाना और उनके परिवार को अशौच का जो नाटक करना पड़ेगा उससे इन पेटुओं का उच्चाटन हो जाएगा ऐसा हमें प्रबल विश्वास था। कुछ देर तक तो हम इस आशा के मनोराज्य में यथेच्छ विचरण करते रहे और नाना के अतिथिशून्य गृह के बड़े मनोरम स्वप्न देखने लगे। परंतु मनोरथों की उड़ान हमेशा सत्य से विपरीत दिशा में ही होती है इसका हमें तुरंत अनुभव हुआ। बंडू नाना पर पड़ने वाले इस अकल्पित संकट को देख कर कूच कर जाने के बजाए पाहुनों ने इस आपत्काल में जिजमान को अकेला न छोड़ने का निश्चय किया।

शीघ्र ही उन बारह बटोहियों ने नाना के घर की पूरी व्यवस्था अपने हाथों में ले ली। इस समय तक पाहुनों की घुसपैठ रसोईघर और कोठार में नहीं हुई थी। परंतु अब नाना की पत्नी भी कृत्रिम सूतक में शामिल होने के कारण उन्हें सारे दरवाजे खुले मिल गये और चौके-चूल्हे पर भी उनका अधिकार हो गया। अब क्या पूछना था। कोठार की प्रत्येक अलमारी, डिब्बे, गड़ुए, बोरे और इमर्तबान में क्या-क्या रखा हुआ है इसकी उन्होंने बारीकी से तलाशी ली

और उनका बोझ हलका करने पर कमर कसी। कुछ तो नाना के दुख को हल्का करने के हेतु से और कुछ अपना हाथ जगन्नाथ वाली उक्ति को चरितार्थ करने के लिए उन्होंने रोज पंचपकवान्नों की ज्योनार शुरू की। नाना के तो हाथ के तोते उड़ गए। पर कर क्या सकते थे! इतने बल्लवाचार्यों द्वारा इतनी मेहनत से तैयार किए हुए व्यंजनों में से एक भी आसानी से उनके गले के नीचे नहीं उतरता था। भोजन के प्रति उनकी ऐसी अरुचि देखकर पाहुनों की सहानुभूति और भी जागृत हुई और नाना को खुश करने के इरादे से उन्होंने कोठार के घी, गुड़, शक्कर, सूजी-मैदा, काजू-किशमिश, पिस्ते-बादाम, लौंग-इलायची और केशर आदि वस्तुओं का बहुलोपयोग शुरू किया। किस्सा कोताह, यारों ने साल भर की सामग्री दस दिन में चाट कर साफ कर दी। दस दिनों तक बेचारे नाना को यह सारी लूट-खसोट खुली आंखों से देखनी पड़ी। कई बार तो इस अपरिमित हानि को देख कर उनकी आंखें डबडबा आती थीं। ऐसा समय मिस्री-बादाम या काजू-किशमिश से तोबड़ा भरते हुए पुरोहितजी या शास्त्रीजी उनको सांत्वना देते; "जिजमान, इस तरह शोक करने से कैसे काम चलेगा? दुनिया आनी-जानी है और शरीरमात्र नाशवान हैं। फिर तुम्हारी इस अकाल हानि से तुम्हें अकेले को ही दुख हुआ हो, यह बात भी नहीं। इसमें हम सब तुम्हारे साथ हैं। पिछले सप्ताह भर से हमें भी रोटी अच्छी नही लगती।" फिर रोटी पर से उनकी वासना किस हद तक उठ गई है यह सिद्ध करने के लिए वे फिर मुट्ठी भर मिस्री-बादाम का फंका लगाते और पेट पर हाथ फेरते हुए नये जोम से नाना को ब्रह्मज्ञान का उपदेश देने लगते।

दस दिन का छद्मसूतक पूरा हो जाने और नाना का शोक कालक्रम से कुछ कम हो जाने के बाद ही इन महाभागों ने अपनी सुविधानुसार एक-एक करके प्रयाण किया। उनसे पिंड छुड़ाने के लिए नाना ने उन्हें मुंहमांगी दक्षिणा बिना हीलोहुज्जत के दे दी। उनके जाते ही उन्होंने नगरनिवासियों की एक सभा आयोजित करके याचकों की आचारसंहिता निश्चित करने के लिए कुछ प्रस्ताव पारित करवा लिये। तब से हमारे नगर में इस बला का पक्का बंदोबस्त हो गया है। हर गृहस्वामी ने इन नियमों की छपी हुई तालिका अपने दीवानखाने में टंगवा ली है। जो याचक इन नियमों के विरुद्ध बर्ताव करता है उसके खिलाफ नियमानुसार कड़ी कार्रवाई की जाती है। इसमें शहर के समस्त नागरिकों का

सहयोग होने के कारण नियमों का पालन बड़ी आसानी से हो जाता है। पाठकों और अन्य शहरों के निवासियों के मार्गदर्शन के लिए वे प्रस्ताव यहां दोहराये जाते हैं :—

1. कोई भी नागरिक यथासंभव अपने यहां याचकों को ठहरने न दे। यदि निवास की व्यवस्था करना अनिवार्य हो, तो रहने के लिए चार आने, भोजन के लिए आठ आने, और स्नानादि की व्यवस्था करने वाले नौकरों के लिए चार आने, यों एक रुपये रोज का शुल्क याचक की दैनिक प्राप्ति में से काट लिया जाए। इस आशय का लिखित अनुबंध याचक से पहले ही करवा लेना चाहिए।

2. याचक द्वारा किसी का सिफारिशी पत्र लाया जाने पर, या उसके द्वारा जिद्द करने का प्रयत्न होने पर उसे एक कौड़ी भी न दी जाए। "मैं अमुक के यहां ठहरा हूं" या "फलां ने मुझे इतनी दक्षिणा दी है" यह कहना परोक्ष सिफारिश या दबाव डालने का प्रयत्न माना जाए।

3. यजमान राजीखुशी से दे उतनी रकम से ही याचक को संतोष मानना चाहिए। जरा भी चींचपड़ करने पर या मुंह फैलाने पर दी हुई दक्षिणा भी वापस ले ली जाए।

4. कोई भी याचक यजमान का पांच मिनट से अधिक समय न ले। इससे अधिक समय लेने पर प्रति पांच मिनट के लिए एक आना के हिसाब से जुरमाना काट लिया जाए।

5. एक बार में एक से अधिक याचक एक साथ पहुंचने पर दूसरे को पहले से आधी और तीसरे को चौथाई दक्षिणा दी जाए। याचकों की संख्या तीन से अधिक होने पर बाकी के याचकों को हाथ हिलाते हुए लौटा दिया जाए।

6. एक ही याचक एक ही यजमान के यहां साल भर में एक से अधिक बार आएगा तो उसे कुछ नहीं मिलेगा। इतना ही नहीं, पुनरागमन प्रमाणित हो जाने पर उसे नगर के अन्य लोगों से प्राप्त दक्षिणा भी लौटानी पड़ेगी।

7. किसी याचक के धरना देकर प्राणत्याग करने पर उसकी अंतिम क्रिया का खर्च चंदा उगाह कर किया जाए। किसी भी हालत में अंत्येष्टि का खर्च जिसके द्वार पर धरना दिया गया हो उसके ऊपर न पड़ने दिया जाए। मृतक की कोई समाधि आदि न बनवायी जाए बल्कि उसकी चिता के इर्दगिर्द खड़े होकर उसको

धिक्कार देने के लिए नागरिकों को सदा तत्पर रहना चाहिए। मृतक के परिवार के सदस्यों की किसी प्रकार से सहायता न की जाए।

हम विश्वास दिलाते हैं कि इन प्रस्तावों पर अमल करने से गृहस्वामियों की रक्षा और याचकों का नियमन हो सकेगा।

17. बुढ़ापे के फायदे

इस विचित्र संसार का कुछ ऐसा नियम है कि प्रथम दर्शन में त्याज्य लगने वाली प्रत्येक वस्तु में, कुछ विचार करके देखने पर, कुछ न कुछ उपयोगी अंश अवश्य दिखाई देता है। जहर जैसी कड़वी औषधियों से असाध्य रोगों का उपचार होता है। अत्यंत गंदी चीजों से उत्तम खाद तैयार होती है। लाखों रुपयों की संपत्ति नष्ट करके सैकड़ों की जान लेने वाली आग के द्वारा दूषित वातावरण शुद्ध होता है। और तो और, उन्माद, पागलपन या मृत्यु जैसी भयावह मानी जाने वाली आपत्तियां भी सांसारिक दुखों से छुटकारा दिला देने का कल्याण कारी काम करती हैं।

इसके विपरीत, बाह्य दृष्टि से मोहक दिखाई देने वाली वस्तुओं में ऐसी कोई नहीं मिलेगी जिसमें कोई त्रुटि न हो या जिसके साथ कोई अनिष्ट जुड़ा हुआ न हो। शारीरिक सौंदर्य देखने वालों के मन में विकार उत्पन्न करता है। कीर्तिमान् पुरुषों के मन को स्वप्न में भी शांति नहीं मिलती। श्रीमान् मनुष्यों को संपत्तिरक्षा की चिंता रात-दिन सताती रहती है और शक्तिमान् लोगों के हाथों तरह-तरह के दुराचार और अन्याय होने की संभावना रहती है।

प्रकृति ने सुखदुख और भलेबुरे का बंटवारा ऐसी निष्पक्ष दृष्टि से किया है कि किसी को शिकायत करने का विशेष कारण नहीं। भीषण दारिद्रय की छाया में जीने वाले मनुष्य को माना कि दोपहर के भोजन का भी निश्चय नहीं रहता, पर साथ ही उसे बदहजमी होने की भी कोई संभावना नहीं। लंगड़े को दौड़ने की स्पर्धा में पिछड़ जाने का भय नहीं होता। अंधा यदि सुरूपदर्शन के आनंद से वंचित रह जाता है तो भयावह कुरूपता के दर्शन से भी उसकी रक्षा हो जाती है। बहरा यदि सुस्वर आलापों को नहीं सुन सकता तो बेसुरी तानारीरी से भी उसे नजात

मिल जाती है। निर्धन मनुष्य को सुख नहीं मिलता तो धनवानों को नींद नहीं आती। दरिद्रों को रोटी नसीब नहीं होती तो श्रीमानों को खाई हुई रोटी हजम नहीं होती। सब मिलाकर, इस समदुखवितरण के चलते चैन की नींद शायद किसी को नसीब नहीं होती।

ऐसा होने पर भी संसार में सदा सौंदर्य, यौवन, सामर्थ्य आदि स्थितियों की ही प्रशंसा होती है और कुरूपता, बुढ़ापा, दौर्बल्य आदि स्थितियों की उपेक्षा या अवहेलना। इनका वर्णन करने के लिए न तो किसी भाट-चारण को जोश आता है, न किसी कवि की लेखनी कुलबुलाती है। इसका कारण शायद यही हो सकता है कि कविजन अकसर कुरूप, बूढ़े और असहाय होते हैं। प्राप्त वस्तु से अप्राप्त वस्तु का मोह कहीं प्रबल होता है। इसलिए मसिजीवियों का झुकाव अपने अभावात्मक गुणों की महत्ता का वर्णन करने की अपेक्षा दूसरों के भावात्मक गुणों की स्तुति करने की ओर ही अधिक रहता है। इसे उनकी प्राकृतिक विनयशीलता के सिवा और क्या कहा जा सकता है ?

हमारे परिचित एक डेढ़ सौ वर्ष की आयु वाले भिक्षुक ब्राह्मण की अभी हाल ही में मृत्यु हो गई। उसका जन्म नानासाहब पेशवा के जमाने में हुआ था। यमराज को इतने दिन भुलावे में रखने वाले इस अकिंचन विप्र ने एक क्षेत्र में बेशक अद्वितीय योग्यता हासिल की थी। उस क्षेत्र को बुढ़ापा कहा जाता है। इस भूतल पर ऐसी मूर्तिमान और संपूर्ण जरठता के दर्शन और कहीं होना मुश्किल था। उसे अपना समकालीन मानने का भाग्य और किसी को नसीब नहीं हुआ। फिर भी वह सदा असंतुष्ट रहता था। पूछने पर मालूम हुआ कि उसके इस अद्वितीय और प्रतिक्षण बढ़ते रहने वाले गुण की किसी के द्वारा प्रशंसा न होना ही उसकी खिन्नता का एकमात्र कारण था। उसे इस बात से सख्त शिकायत थी कि विश्वासराव, माधवराव आदि अल्पायु वाले पुरुषों के नाम अजरामर हो गए जब कि उसके जैसे दीर्घजीवी पुरुष का नाम अमर तो क्या लोगों की जबान पर भी न चढ़ सका। इस मानसिक खेद से उसकी कमर सदा के लिए झुक गई थी, चेहरा फीका पड़ गया था और पूरी देह पर झुर्रियां पड़ गई थीं। आखिर इसी चिंता में उसका अंत हो गया। बुढ़ापे को श्रद्धांजलि समर्पित करने वाला यह लेख उसकी कलपती हुई आत्मा को शांति प्रदान करने के लिए ही लिखा जा रहा है। इसका प्रकाशन उसकी बरसी के रोज हो ऐसी व्यवस्था भी की गई है।

बुढ़ापे का पहला बड़ा फायदा यह है कि दांत मांजने के झंझट से हमेशा के लिए छुट्टी मिल जाती है और उपले की राख या दंतमंजन का खर्च बच जाता है। दांत वाले लोग राख के लिए सैकड़ों उपलों को अग्नये स्वाहा करते रहते हैं या मंजन की सैकड़ों डिब्बियां साफ करते रहते हैं। बूढ़े लोग दयाभाव से उपलों को हाथ भी नहीं लगाते। उपले उनके इस ऋण को कुछ ही दिनों में चुका देते हैं। दूसरा फायदा यह होता है कि बुढ़ापे में दाढ़ दुखने की संभावना बिलकुल नहीं रहती और दांतों से खून भी नहीं बहता। इससे दवा-दारू का काफी खर्च बच जाता है। ठोकर लगकर गिरने से दांत टूटने का भय नहीं रहता और प्रबल से प्रबल शत्रु भी दांत तोड़ देने की धमकी नहीं दे सकता। कमर झुक जाने के कारण कम ऊंचाई वाले दरवाजों से गुजरते समय सिर टकराने का अंदेशा नहीं रहता और जमीन पर गिरी हुई चीज उठाने के लिए अलग से झुकने की आवश्यकता नहीं पड़ती। गुस्सा आने पर माथे पर अतिरिक्त बल नहीं पड़ते और असहमति व्यक्त करने के लिए गर्दन हिलाने की कोशिश नहीं करनी पड़ती। सिर गंजा हो जाने की वजह से हजामत के खर्च और झंझट से सदा के लिए मुक्ति मिल जाती है। जोड़ों में दर्द होने के कारण बूढ़े लोग अकसर घर से बाहर नहीं निकलते। इससे उनके गाड़ी या तांगे के नीचे कुचले जाने का डर नहीं रहता और रात को नींद न आने के कारण घर में चोरी होने का खतरा नहीं रहता। शरीर में विशेष खून न होने के कारण खटमल दूर रहते हैं और बाहर को निकल आने वाली ठोड़ी और गाल की हड्डियों से घबरा कर मच्छर भी तंग नहीं करते।

एक बार एक काने आदमी ने किसी दो आंखों वाले से कहा था कि, "तू तो मेरी एक ही आंख देख सकता है जबकि मुझे तेरी दोनों आंखें दिखाई देती हैं।" इस न्याय के अनुसार कोई वृद्ध भी किसी युवक से कह सकता है कि "बच्चा! तुझे तो सिर्फ गलितम् तुण्डम् पलितम् मुण्डम् वाली यह हड्डियों की ठठरी ही दिखाई देती है जबकि मुझे तेरा सुदृढ़ और मांसल शरीर, सुंदर तेजस्वी चेहरा, और काले घुंघराले बाल भी दिखाई देते हैं। अब तू ही बता, तू अधिक सुखी है या मैं?"

आंखों में अंधापा, कानों में बहरापन और बुद्धि पर विस्मृति का कोहरा छा जाने के बाद तो बूढ़ों को बहुत अधिक लाभ होता है। गलितगात्र वृद्ध आदमी निर्धन हो तो उसके लेनहार और धनवान हो तो उसके निर्धन रिश्तेदार यदि उसे रास्ते में मिल जाएं, तो वह उन्हें पहचानेगा या उनकी मांगें उसे सुनाई देंगी,

इसका कोई भरोसा नहीं रहता। हां, कोई कर्जदार या धनी संबंधी रास्ते में मिल जाए, तो यह नियम लागू नहीं होता। जवान स्त्रियों का चेहरा देखते समय या उनकी बातें सुनते समय तो बूढ़े अपनी पांचों ज्ञानेंद्रियों को जानबूझकर शिथिल कर देते हैं ताकि अपना मुंह उनके मुंह के अधिक से अधिक पास ले जाया जा सके। ऐसे प्रसंगों पर तो कभी-कभी उनकी स्मरणशक्ति भी साफ धोखा दे जाती है। लड़के के लिए वधू देखने को जाने वाले जरठ बाप अपने आगमन का हेतु भूलकर खुद ही लड़की को सनाथ करते देखे गए हैं। वृद्धावस्था में विस्मरण की गिरफ्त वाकई बड़ी जबरदस्त होती है।

बुढ़ापे में स्मृति के शैथिल्य के कारण अगले रोज पढ़ी हुई बातें अकसर दूसरे दिन तक याद नहीं रहतीं। इससे यह लाभ होता है कि एक ही पुस्तक को बार-बार पढ़ने पर भी हर बार नया आनंद प्राप्त होता है। इससे नई-नई पुस्तकें खरीदने के खर्च और तरद्दुद दोनों से बचाव हो जाता है। एक वृद्ध को हमने साल भर तक एक ही लतीफा एक से शब्दों में रोज दोहराते हुए सुना है। नित्य दोहराने की वजह से वह उन्हें जबानी याद हो गया था। फिर भी, बात पुरानी है और कई बार कही जा चुकी है, यह उनके कभी ध्यान में नहीं आया। कई बूढ़े सालों तक अपनी एक ही उम्र बताते पाये जाते हैं। इसका कारण भी यही है कि बीते हुए काल की उन्हें विस्मृति हो जाती है। इन महाभागों को जिस प्रकार काल का विस्मरण हो जाता है उसी प्रकार काल भी कभी-कभी उन्हें बिलकुल भूल जाता है।

वृद्धावस्था के कारण मनुष्य की नैतिकता पर पड़ने वाला प्रभाव भी विचारणीय है। वृद्धावस्था में किसी को धनजोबन का घमंड हुआ हो, या हाथ की छड़ी का किसी वृद्ध ने किसी को मारने के लिए उपयोग किया हो ऐसी बात कभी सुनाई नहीं देती। वृद्ध कभी किसी को दांतों से काटते हुए या परस्त्री को घूरते हुए पकड़े नहीं जाते। अपने सौंदर्य या सामर्थ्य का अभिमान भी उन्हें शायद ही कभी होता हो। जवान लड़कियां उन्हें 'बाबा' या 'दादा' कह कर पुकारती हैं तब वे बड़ी नम्रता से स्वीकार करते हैं कि वे इन सम्मानसूचक संबोधनों के योग्य नहीं। बची हुई जिंदगी देशसेवा या अन्य किसी शुभ कार्य में बिताने का संकल्प करने में उन्हें विशेष कठिनाई नहीं पड़ती और अकसर वे उसे पूरा भी कर दिखाते हैं। हमारे परिचित एक अस्सी वर्ष के जरठ ने आमरण देशसेवा का व्रत लिया

था जिसे उन्होंने मृत्यु के दिन तक यानी लगातार दो महीने तक निभाया था। ऐसी कठोर प्रतिज्ञा वेझिझक कर बैठने वाले महापुरुषों को कालेपानी या फांसी की सजा नगण्य मालूम दे यह स्वाभाविक है।

पैंतालीस की उम्र पार कर चुकने वाले मुजरिमों को कोड़े मारने की सजा कानूनन नहीं दी जा सकती। इसका कारण भी उनकी मृत्यु-विषयक लापरवाही ही होनी चाहिए। ऐसे लोगों को कड़ी सजा देकर सरकार को भी क्या मिलेगा? उम्र के वोझ से दवी हुई किसी बुजुर्ग की कृश देह पर वेत्र के वार किये जाने पर वह कहीं टें वोल जाए, तो इससे उसके हाथों वह अपराध फिर से न होने देने का कानूनी उद्देश्य तो सिद्ध हो जाएगा। पर उसे देखकर दूसरे सबक सीखें और उस अपराध से परावृत्त हों, कानून का यह दूसरा प्रमुख उद्देश्य शायद कभी पूरा नहीं होगा। कारण कि इस हालत में एक तो उसकी मृत्यु का दायित्व उसके अपराध की जघन्यता या उसे मिलने वाले दंड की कठोरता के हिस्से में जाने के बजाय उसकी बढ़ी हुई उम्र के मत्थे मढ़ा जाएगा और दूसरे यह कि चोरी-चकोरी जैसे साधारण अपराध के लिए भी किसी को मृत्युदंड मिलता देखकर अपराधियों की वृत्ति छोटे-मोटे अपराध करने के बजाय ऐसी कठोर सजा योग्य हत्या, सशस्त्र डकैती आदि वजनदार अपराध करने की ओर ही अधिक रहेगी।

कम उम्र के आदमी के मरने पर उत्तराधिकारियों को उसकी अंगूठी या कान की मुरकियों के सिवा अन्य कोई मूल्यवान् वस्तु प्राप्त होने की अधिक संभावना नहीं रहती। परंतु उम्रदराज लोग इस मामले में अधिक समझदार होते हैं। वे अपने वारिसों के लिए नकली दांतों की वत्तीसी, ऐनक, कान में लगाने का भोंपू, छड़ियां, खड़ांव आदि अनेक वहुमूल्य चीजें छोड़ जाते हैं। वारिस चाहें तो उनकी खिजाव की शीशी पर भी कब्जा कर सकते हैं। इसके विरोध में चूं भी नहीं करेंगे।

परंतु बुढ़ापे से होने वाला सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि जवान लड़कियां बूढ़ों से बड़ा वेतकल्लुफ और निष्कपट व्यवहार करती हैं। कुंदकली सी जो दंतपंक्ति युवकों को कभी छठे-छमाहे ही दिखाई पड़ती है, वह बूढ़ों के दर्शन मात्र से होंठों का आवरण हटा कर बिजली की तरह दमक जाती है। मनुष्य की आयु के दोनों छोरों, बाल्य और वार्धक्य, में तुतलाना, दंतहीनता, दुर्बलता, परवशता, चटोरापन

आदि बातें जिस प्रकार समान होती हैं उसी प्रकार युवतियों का विश्वास और स्नेह भी दोनों अवस्थाओं में समान रूप से प्राप्त होता है। हमारी अल्प मति के अनुसार बुढ़ापे का यही सबसे बड़ा फायदा है और इस एक लाभ पर बाकी के सारे फायदे निछावर हैं।

18. चित्रगुप्त का जमाखर्च

हम स्वप्न में जिन बातों का अनुभव करते हैं वे जागृतावस्था में अनुभव की हुई बातों से नितांत भिन्न होती हैं। एक ओर घर-बार न होने के कारण सड़क के किनारे पड़ा हुआ और केवल थकान के कारण निद्राधीन हो जाने वाला भिखारी स्वप्न में मन ही मन छककर छप्पन प्रकार के व्यंजनों का स्वाद चखता है और दूसरी ओर वास्तविक दुनिया का लखपती सपने में फटी हुई कमरी ओढ़कर दर-दर भीख मांगता फिरता है। घर में बच्चों की फौज रखने वाला कुटुंबवत्सल गृहस्थ स्वप्न में शरीर पर भभूत रमाये गंगा किनारे किसी पर्णकुटी में ध्यानस्थ हो कर बैठता है तो आजन्म ब्रह्मचारी स्वप्न में वैवाहिक सुख का अनुभव करता है। जागृतावस्था में कभी नियमित अयध्यन न करने वाला विद्यार्थी स्वप्न में परीक्षक बन कर परीक्षार्थियों को उत्तीर्ण करता है तो विद्यार्थी अवस्था से गुज़र कर चालीस-पचास वर्ष तक संसार-शकट हांकने वाले प्रौढ परीक्षक को अधूरी तैयारी के कारण परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने के भयानक स्वप्न दिखते हैं। स्वप्नसृष्टि के ये सारे चमत्कार उनका अनुभव होते समय इतने सटीक मालूम देते हैं कि उस समय यदि हमे कोई जगा दे, तो स्वप्न की इष्टानिष्टता के अनुसार हम इष्ट वस्तु छिन जाने का रोष या अनिष्ट आपत्ति में से मुक्ति पाने का आनंद अनुभव करते हैं। कभी-कभी तो नाटक में होने वाले अंतर्नाटक की तरह स्वप्न में अंतर्स्वप्न देखने का अनुभव भी होता है।

पिछली गणेशचतुर्थी के दिन दोपहर को भरपेट मोदक का भोजन और तांबूलसेवन करने के बाद मुझे रोज की आदत के अनुसार दो घड़ी लेटने की इच्छा हुई। दोपहर को सोने जैसे निवृत्तिपरक व्यापार को बाह्य उपकरणों की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। सिर के नीचे तकिया, बिछाने को चटाई और

ओढ़ने को दुलाई काफी हो जाती है। अतएव लेटते ही मेरी आंख लग गई और दिन दहाड़े मैं एक मनोहर स्वप्न देखने लगा।

मैंने देखा कि मूषक पर सवार गजानन महाराज की मूर्ति मेरे सामने खड़ी हुई कह रही है, "वत्स, आज तक मैंने बहुत से भक्त देखे, पर तुझसा एकनिष्ठ अनुचर कोई नहीं देखा। आज दोपहर को भोजन के समय तूने केवल मुझे प्रसन्न करने के लिए मोदकों पर जिन बेरहमी से हाथ साफ किया, उससे पेट फट कर तेरी मृत्यु हो सकती थी। तेरी इस निष्ठा से मैं प्रसन्न हुआ हूं। वर मांग···। बोल, क्या चाहता है ?"

इस प्रश्न के उत्तर में मैं नाटक के भरतवाक्य के जैसा 'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु' कोटि का कोई वर मांगने ही वाला था कि जागृतावस्था में कभी न होने वाली एक इच्छा मेरे मन में उत्पन्न हुई। मैंने कहा, "हे विघ्नहर्ता ! हे मंगलमूर्ति ! आज दोपहर के भोजन से जो तृप्ति हुई है उसके बाद अब कोई वासना मन में नहीं बची। परंतु उस भोजन के साथ आपने मेरी संभाव्य मृत्यु का जो संबंध जोड़ा, उसे सुन कर एक उत्सुकता मन में जगी है। मैं जानना चाहता हूं कि मृत्यु के बाद मनुष्य की क्या दशा होती है। आप तो विद्यादाता हैं। इस जिज्ञासा का शमन करने में आप सर्वथा समर्थ हैं।" यह सुनते ही कुछ सोच-विचार करके गणेश जी ने कहा, "ठीक है, वत्स ! तू मेरे मूषक पर आगे की ओर बैठ जा और आंखें बंद कर ले। क्षणार्थ में परलोक का रहस्य तेरे सामने उजागर हो जाएगा।" मूषक-वाहन की ओर शंकाकुल दृष्टि से देखते हुए मैंने कहा, "महाराज, इस दुर्बल मूषक पर बैठ कर परलोकयात्रा की, तो मैं वहां का प्रेक्षक होने के बजाय निवासी हो जाऊंगा ऐसी शंका मेरे मन को व्याकुल कर रही है।" इस पर गणेश जी ने कुछ रोष के साथ कहा, "अज्ञानी भक्त ! तूने ही तो एक बार मेरे इस दिव्य वाहन की अपार सामर्थ्य का वर्णन किया था। अब कसौटी के समय यों पीठ दिखाएगा, तो मिथ्यावादी सुधारकों को किस मुंह से जवाब दे सकेगा ?" मैंने कहा, "भगवन् ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य करता हूं। परंतु मुझे आंखें बंद करने के बजाय खुली रखकर बैठने की अनुमति प्रदान करें। आंखें खुली रहीं तो आसनभ्रष्ट होने की आशंका होते ही मैं संभलने का यत्न कर सकूंगा। अन्यथा आंखें हमेशा के लिए बंद हो जाएंगी। हे प्रभो ! आंखें खुली रखने से परलोक-दर्शन क्षणार्ध के बजाय कुछ देर से हुआ, तो भी कोई हर्ज नहीं।"

गणेशजी महाराज ने अपना विशाल गंडस्थल हिलाकर "तथास्तु" कहा और मुझे अपने चारों हाथों से उठाकर मूषक पर आसीन किया। बिल्ली द्वारा रास्ता काटा जाने का या अन्य कोई अपशकुन न होने के कारण परलोक की उस दिव्य राह में कोई विघ्न नहीं आया और गणेशवाहन अविराम गति से आगे बढ़ता रहा।

मार्ग में अनेक पगडंडियां परलोक के उस राजमार्ग से मिल रही थीं। उन पर से चल कर अनेक जीवात्मा मुख्य मार्ग के प्रवाह में शामिल हो रहे थे। उन आत्माओं की देह अंगुष्ठमात्र की थी और वेषभूषा जाति-देशानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की थी। उस भीड़ को देख कर दशहरे के दिन सोना लूटने के लिए जाने वाले जनसमूह का आभास हो रहा था। वास्तव में देखा जाए तो यह मृत्युलोक का सीमोल्लंघन ही था।

प्रत्येक नगर में दो-चार मनुष्य रोज मरते ही रहते हैं फिर भी मृतक का अंतिम संस्कार कितने ठाठ से किया जाता है! मरने वाला यदि हिंदू हो, तो अरथी, मटका, अबीर-गुलाल, धूप-चंदन, शंख ध्वनि इत्यादि और मुसलमान हो तो ताबूत, पुष्पमालाएं, इत्र-लोहबान, मधुर संगीत आदि अनेकविधि उपकरणों से मृतदेह को सजाया जाता है और अंत्ययात्रा की शोभा बढ़ाई जाती है। परंतु परलोक के पथ पर अमीर-गरीब, मालिक-नौकर, वृद्ध-युवा, गृहस्थ-संन्यासी आदि सारे भेद लुप्त हो जाते हैं। अतः सभी मृतों के जीवात्मा सादे लिबास में कंधे से कंधा भिड़ाये आगे बढ़ रहे थे। कुछ के अंतःकरण प्रियजनों या धनसंपत्ति में उलझे रह जाने के कारण वे सतृष्ण दृष्टि से पीछे मुड़-मुड़ कर देख रहे थे। उनमें से एक अपनी प्रियतमा से मिलने के लिए दूरदेश से समुद्रयात्रा कर के आते समय रास्ते में जहाज उलट जाने के कारण डूब कर मर गया था। अतः उसके चेहरे पर उसकी अतृप्त वासना साफ झलक रही थी। दूसरा एक जलते हुए मकान में से अपने छोटे बालक को बचाते समय आग में कूद कर जीवन खो बैठा था। उसके चेहरे पर इस बात का संतोष स्पष्ट झलक रहा था कि बच्चा सही-सलामत बच गया। आत्महत्या करने वाले जीव क्षणभर के लिए भी इधर-उधर न देखते हुए नाक की सीध में चले जा रहे थे। उनके लिए यही स्वाभाविक था। जीवन के सारे बंधनों को वे बड़ी निर्ममता से तोड़ चुके थे। किसी शोकाकुल पत्नी ने पति की मृत्यु के बाद तुरंत प्राण त्याग दिये थे। वह जोड़ा हाथ में हाथ डाले बड़े आनंद से झूमता हुआ जा रहा था। उनके चेहरों को देख कर किसी ने भी यही

कहा होता कि उनके लिए यह मरणोत्तर काल नहीं बल्कि नये जीवन का शुभारंभ है।

प्रत्येक पथिक की पीट पर एक-एक गठरी बंधी हुई थी। इस गठरिया में उनके जीवन भर के पाप-पुण्य का संचय था। सबकी गठरियां प्राय: एक से आकार की दिखाई दे रही थीं। इससे यही सिद्ध होता है कि मनुष्य के पाप-पुण्य का जोड़बाकी हो जाने पर संचित अवशिष्ट शायद एक सा ही बचता है। परंतु तब तक उस संचित का पृथक्करण न हो पाने के कारण उसमें पुण्य का अंश कितना, है और पाप का कितना यह बताना मुश्किल था। अधिकांश लोग यही मान कर चल रहे थे कि उनकी गठरी में पुण्य का अंश ही अधिक है। यद्यपि इतना पुण्य जीवन में कब, कहां और कैसे कमाया इसका आश्चर्य भी बहुतेरों के मुख पर झलक रहा था। लोग अपने सहयात्रियों से इसी की चर्चा करते हुए आगे बढ़ रहे थे।

स्वप्न में कभी-कभी असंभव बातें भी सत्य प्रतीत होती हैं। इसका भी मुझे अनुभव हुआ। मजमे में दो जीवात्माओं के चेहरे हूबहू बंडूनाना और पांडूतात्या के जैसे दिखाई दे रहे थे। उनकी मैत्री मृत्यु के बाद भी ज्यों की त्यों सलामत रही, यह देख कर मुझे बड़ा संतोष हुआ। वंडूनाना कह रहे थे, "तात्या, तुम्हारी और मेरी गठरियां दिखाई तो एक-सी दे रही हैं। इससे ऐसा लगता है कि हम दोनों की नियुक्ति शायद एक ही जगह होगी। चलो अच्छा हुआ कि हम आज तक एकनिष्ठ से धर्म के सनातन मार्ग पर चलते रहे। नास्तिक लोग चाहें तो इसे अंधश्रद्धा कह सकते हैं। पर जो श्रद्धा स्वर्ग तक पहुंचाती है, वह अंधी कैसे हो सकती है? हम लोगों ने कितनी श्रद्धा से प्रात:सायं संध्या की है; एकादशी का व्रत किया है; और महादेवजी पर न मालूम कितने लोटे पानी का अभिषेक किया है। होली के दिनों में अशोभन गालियां बकने से भी हम कभी नहीं चूके। पंचगव्य के तो आज तक न मालूम कितने घड़े हमारे पेट में उतर चुके होंगे। पूरे श्राद्धपक्ष में तर्पणादि कर के हमने पितरों को संतुष्ट रखा है। देवताओं को देवदासियां समर्पित करने की प्रथा का हमने सदा समर्थन किया है। अत्यंत शुद्ध आचरण वाले भंगी-चमार का स्पर्श होने पर भी सदा स्नान किया है और स्नान के बाद सूत के धागे का भी स्पर्श हो जाने पर कभी फिर से बिना नहाये भोजन नहीं किया। विधवा स्त्रियों का मुंडन करवा कर उन से धर्माचरण करवाने में तो हम सदा अग्रणी रहे हैं। ऐसा लगता है कि हमारी गठरियों का कम से कम आधा

पुण्यभार उन विधवाओं के केशकलाप से ही बना है।"

तात्या ने उत्तर दिया, "नाना, तुमसे कोई परदा नहीं है। यह सही है कि मैंने भी जीवन में ये सारी बातें की; किंतु तुम्हारे जैसे भक्तिभाव से नहीं। बाह्य रूप से बेशक मैंने भी सदा धर्म का आचरण किया है। खुद विधाता भी उसे देख कर धोखा खा गया होगा। पर वह आडंबर के सिवा कुछ नहीं था। फिर भी, संचित कर्म का फल मुझे स्वर्ग में मिलेगा ही। स्वर्ग का अमृत अपनी रबड़ी-मलाई से कम से कम हजार गुना मधुर तो होगा ही और वहां की अप्सराओं का संगीत भी अपनी चंद्राबाई के गाने से अधिक मधुर होगा। परंतु नाना ! वह प्याज की पकौड़ियां और लहसुन की चटनी मिलेगी या नहीं ? वरना मीठा खा-खा कर मुंह का जायका बिगड़ जाएगा। एक बार अमृत और अप्सराओं का नृत्य-संगीत न हुआ, तो भी मेरा काम चल जाएगा। पर करारी पकौड़ियां और चटपटी चटनी न मिली, तो वह स्वर्ग किस काम का ?"

इस प्रकार की बातें करते हुए दोनों मित्र चित्रगुप्त के कार्यालय तक जा पहुंचे। इस दफ्तर की दीवारें पत्थर के बजाय पाषाणहृदयी मनुष्यों के कलेजों की बनी हुई थीं जिन्हें परिश्रमी मनुष्यों के उद्योग के चूने से जोड़ा गया था। दफ्तर की दाहिनी ओर स्वर्ग एवम् बायीं ओर नरक के प्रदेश दृष्टिगोचर हो रहे थे। स्वर्ग की शोभा अत्यंत रमणीय दिखाई दे रही थी। वहां उज्ज्वल और शीतल प्रकाश में एक से एक सुंदर उच्चासनों की पंक्ति दिखाई दे रही थीं। उन पर लाखों पुण्यात्मा विरजामान थे। पूरा वातावरण सुस्वर संगीत और मधुर सुवास से भरा हुआ था।

मुझे आश्चर्य सागर में डुबकियां लगाते देख कर गणेशजी महाराज बोले, "वत्स, जिन जीवात्माओं का पुण्य संचय उनके पाप की मात्रा से अधिक होता है, उन्हीं को यहां स्थान मिलता है। जो जीवात्मा अपने कर्तव्य क्षेत्र के बाहर जा कर और खुद हानि सहन करके भी दूसरों का कल्याण करते हैं वे पुण्य का संपादन करते हैं और जो कर्तव्यमार्ग से चूक कर, बदले की भावना या अन्य किसी हीन भावना-वश होकर दूसरों का अमंगल करते हैं वे पाप के भागी होते हैं। जो केवल न्यूनतम कर्तव्य का पालन करते हैं, या जिनके परोपकार की जड़ में यश या संपत्ति की लालसा या अन्य कोई स्वार्थ भावना रहती है, या जो केवल अन्याय का प्रतिकार करने के निमित्त दूसरों की हानि करते हैं वे पुण्य या पाप दोनों में से एक का भी

संचय नहीं करते। न्यूनतम कर्तव्य के पालन मात्र से पुण्य संचय नहीं होता; सिर्फ सही रास्ते पर चलने से समाधान मिलता है।

"सौंदर्य का उत्कर्ष करने के लिए रात-दिन मेहनत करने वाले चित्रकार, संगीतकार, मूर्तिकार, शिल्पी, एवं कवि; सत्य के उत्कर्ष के लिए परिश्रम करने वाले आलोचक, ग्रंथकार, शास्त्रज्ञ एवं दार्शनिक और नीतिप्रसार के लिए अपना संपूर्ण जीवन समर्पित करने वाले धर्मप्रचारक, उपदेशक आदि मनुष्य भी उद्दिष्ट प्राप्ति के लिए किए जाने वाले निरपेक्ष और निरापद प्रयत्नों के बल पर पुण्य का संचय करते हैं। जो इन बातों का नाश करना चाहते हैं या जो इन प्रयत्नों के मार्ग में बाधाएं खड़ी करते हैं वे निस्संशय पाप के भागी होते हैं।

"कभी-कभी कोई काम करते समय मनुष्य यह समझ लेता है कि उसका वह कर्म केवल दूसरों के सुख के लिए या किसी उदात्त ध्येय की प्राप्ति के लिए हो रहा है। अकसर यह भ्रम के सिवा कुछ नहीं होता और उसके ये कर्म प्रायः स्वहित के लिए ही होते हैं। इस श्रेणी में आने वाले, कुछ स्वार्थ और कुछ परमार्थ से प्रेरित कर्म करने के बावजूद अपनी परहित की मात्रा के अनुपात में अधिक पुण्य अर्जित करते हैं। मनुष्य के हाथों पाप की अपेक्षा पुण्यकर्म थोड़ा भी अधिक हुआ हो, तो उसका स्वर्ग के आसन पर अधिकार हो जाता है। पुण्य की अधिकता नाममात्र की ही हो, तो आसन बहुत नीचा मिलता है। पर ज्यों-ज्यों पुण्य का अनुपात बढ़ता जाता है त्यों-त्यों आसन भी ऊंचा होता जाता है। जीवन भर सत्कार्य करते रहने पर भी जिनके हाथों कभी अनजाने में या मजबूरी से पापाचरण हो जाता है, उनके पाप-पुण्य का जमा खर्च होकर जो पुण्यराशि बाकी बचती है, उसके बल पर उन्हें स्वर्ग में उच्च आसन मिलता है। मृत्युलोक में अत्यंत हीन अवस्था में होने वाला प्राणी भी अपने सुकृत् के बल पर उच्च आसन का अधिकारी हो सकता है।

"हे भक्त-शिरोमणि, बुद्ध जैसे धर्म-संस्थापक, तुकाराम जैसे धर्म-सुधारक संत, आर्यभट्ट जैसे ज्तोतिषी, पाणिनी जैसे वैय्याकरण, कालिदास जैसे कवि, तानसेन जैसे गवैये, और संसार को आश्चर्यमुग्ध कर देने वाले अजंता-इल्लोरा के अज्ञात और अनाम चित्रकार-शिल्पकार,—तात्पर्य यह कि जिस किसी ने भी निरपेक्ष भाव से लोगों का कल्याण किया है, या किसी उदात्त तत्व का विकास किया है, वे सब तुझे यहां विराजमान दिखाई देंगे। यहां तुझे जाति भेद या धर्म भेद के

दर्शन नहीं होंगे। बुद्ध ईसा मसीह से, तुकाराम ल्यूथर से, कालिदास शेक्सपियर से और शिवाजी वॉशिंगटन से प्रेमालाप करते हुए दिखाई देंगे। स्वदेशरक्षा के लिए परस्पर-विरोधी पक्षों की ओर से लड़ने वाले और एक-दूसरे के हाथों मारे जाने वाले योद्धा यहां पर तुझे देशभक्ति की गाथा एक-स्वर से एक साथ गाते हुए दिखाई देंगे। जिन महात्माओं ने गुलामी की प्रथा बंद करवाने के लिए प्राणों की बाजी लगा दी थी, उन्हें यहां अत्यंत उच्च स्थान मिला हुआ दिखाई देगा। कुछ अत्युच्च आसनों को खाली देख कर तुझे आश्चर्य हो रहा होगा। दर असल इन स्थानों के अधिकारी स्वर्ग प्राप्ति होने के बाद भी, उसे ठुकरा कर, जब तक पृथ्वी तल पर एक भी प्राणी दुखी-दरिद्र रहता है तब तक वहीं रहने की अनुमति लेकर वापस चले गये हैं। वहां वे पृथ्वी के दुखों का भार हल्का करने का अविराम प्रयत्न कर रहे हैं। ये पुण्यात्मा यहां आने पर दीर्घ काल तक स्वर्गसुखों का उपभोग करके मानव जाति के उद्धार के लिए फिर पृथ्वी पर जन्म ले लेते हैं और अपना अवतार कार्य समाप्त हो जाने पर फिर यहां आकर निवास करते हैं। उनका यह क्रम अनेक युगों तक चलता रहेगा। दूसरी ओर नरक-निवासी जीवात्मा भी बार-बार जन्म लेकर अपने चरित्र को उत्तरोत्तर शुद्ध करने का प्रयत्न करते रहते हैं। संचित पुण्य के अनुपात में उन्हें उत्तरोत्तर कम कष्ट का स्थान मिलता है और अंत में उनका स्वर्ग में प्रवेश हो जाता है। इस प्रकार अपने पापों का उद्धार करके जब पूरी जीवसृष्टि स्वर्ग में प्रवेश पा जाएगी तब इन उच्च आसन के उपरोक्त अधिकारी संतोषपूर्वक अपना-अपना स्थान ग्रहण करेंगे और फिर पूरे ब्रह्मांड में दुख नाम की चीज कहीं दिखाई भी नहीं देगी।"

गणेशजी महाराज ने अपने वर्णन के अंत में जो नरक का उल्लेख किया उससे मेरे मन में उस प्रदेश को देखने की भी प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। चित्रगुप्त के कार्यालय की बांईं ओर ही वह अंधकारमय भयानक प्रदेश फैला हुआ था। भीतर से दुखविह्वल प्राणियों के आर्त्तनाद सुनाई दे रहे थे। चारों ओर घना अंधेरा छाया होने पर भी जीवात्माओं के यातना के कारण भीषण और दयनीय लगने वाले चेहरे साफ दिखाई दे रहे थे। वह दृश्य असह्य हो उठने पर मैं चटपट चित्रगुप्त के न्यायासन के पास वापस आ गया। उनके जमाखर्च के बहीखातों के कागज सज्जनों के धवल कृत्यों से बने हुए थे जिन्हें प्रणीजनों की प्रेमरज्जु से एकत्र कर बांधा गया था। उनकी दवात की स्याही दुर्जनों के कृष्णकृत्यों के

निचोड़ से तैयार की गयी थी। उनके तराजू की डंडी पापपुण्य की परवाह न करने वाले दृढ़निश्चयी मनुष्यों के भेजे की बनी हुई थी और वह पल्लों में रखे जाने वाले बांटों की अधिक परवाह न करते हुए निश्चल और निष्पक्ष भाव से अपना कार्य किये जा रही थी। तराजू के कांटे का निर्माण चंचल मनुष्यों के स्वभाव से हुआ था। अभी-अभी आए हुए अनेक जीवात्मा चित्रगुप्त के समक्ष अपने पापपुण्यों का विवरण देकर उनके निर्णयानुसार स्वर्ग या नरक की ओर जा रहे थे। किसी जंगली प्रदेश के राजा की अपने गुलामों पर अमानुष अत्याचार करने के कारण तुरंत नरक में रवानगी हुई। किसी धर्मोपदेशक को सुनीतीप्रचार के बदले भ्रष्टाचार फैलाने के अपराध में उसके पीछे-पीछे जाना पड़ा। उसके बाद प्रजा में त्राहि-त्राहि मचा देने वाले एक डाकू, झूठे दस्तावेज बना कर और जमा-खर्च में घपला करके असामियों को लूटने वाले एक महाजन, उसकी सहायता करने वाले एक अरजीनवीस, असहाय स्त्रियों के पतिव्रत्य को भ्रष्ट करके उनके जीवन की धज्जियां उड़ाने वाले एक कामांध नराधम, अपने वैद्यकीय ज्ञान का दुरुपयोग करने वाले एक नीमहकीम, रिश्वत ले-लेकर मोटे होने वाले एक न्यायाधीश, मुवक्किलों से रिश्वत दिलाने और उसमें का आधा हिस्सा बीच में ही हड़प जाने वाले एक वकील, झूठे मुकदमे दायर करके और मुलजिमों को यातना देकर उनसे जुर्म का इकबाल करवा लेने वाले एक दरोगा और ग्राहकों की आंखों में धूल झोंककर करोड़पति बन जाने वाले एक व्यापारी की भी उसी दिशा में रवानगी हुई।

इसके बाद बंडूनाना और पांडुतात्या की जोड़ी सामने आयी। पहले नाना का न्याय हुआ। इसमें अधिक समय नहीं लगा। उनकी गठरी खोल कर देखने पर बहुत बड़ी शुभ्रवर्णी पुण्यराशि और छोटी सी कृष्णवर्णी पापराशियों के दो स्पष्ट ढेर दिखाई दिए। उनके पापों की अपेक्षा पुण्य की मात्रा बहुत अधिक देखकर मुझे बहुत आनंद हुआ। फिर दोनों ढेरों में से एक-एक वस्तु उठाकर उस पर विचार किया गया। दयाभाव से प्रेरित होकर एक अतिशूद्र का मृत्यु से किया हुआ उद्धार, पंढरपुर के अनाथाश्रम को दिया हुआ दान आदि यश की भावना से की हुई बातों की गणना पुण्यकार्यों में होगी ऐसी उन्हें स्वप्न में भी आशा नहीं थी। इन सत्कार्यों के पीछे नाना की कुछ न कुछ स्वार्थभावना अवश्य थी। परंतु उनके हृदय की निश्छलता के कारण उन सब की गणना पुण्यकर्मों में हुई। इसके विपरीत

बहुत सी ऐसी बातें जिन्हें वे पुण्य मानकर चल रहे थे और जिनके सहारे वे इन दिनों बड़े रंगीन स्वप्न देखने लगे थे, पुण्य राशि में नहीं पाई गईं; बल्कि उनमें कुछ पाप के ढेर में दिखाई दीं। इस एक अपवाद को छोड़ कर बाकी की प्रायः सभी बातों में फैसला नाना के पक्ष में ही हुआ। उदाहरणार्थ एक बार स्नान के बाद सूत पर पांव पड़ जाने पर भी उन्होंने बिना फिर से नहाये भोजन कर लिया था। एक बार एकादशी के दिन चिकनी सुपारी खा ली थी। एक बार लघुशंका के समय धोती की लांग नहीं खोली थी। परंतु ये सारे महापातक चित्रगुप्त की असावधानी से कहो या और किसी कारण से कहो, उनके खाते की पापतालिका में दर्ज नहीं हुए थे। सब मिलाकर उनका केस बड़ा सीधा-सादा रहा और उन्हें लंबे समय के लिए स्वर्ग का अधिकारी घोषित कर दिया गया।

इस प्रकार बंडूनाना का स्वर्गप्रवेश पर अधिकार स्थापित हो जाने पर भी वे अपने अभिन्न मित्र पांडूतात्या के साथ ही जाने की आशा से उनका फैसला होने की राह देखते हुए वहीं खड़े रहे। परंतु तात्या की गठरिया के संचय को देखकर हम दोनों को बड़ी निराशा हुई। उनके कर्मों का पाप के बहुत बड़े काले ढेर और उसकी तुलना में अत्यंत छोटी दिखाई देने वाली पुण्यराशि में पृथक्करण हुआ। पुण्य का कुछ अंश शायद गठरिया में ही चिपका रह गया हो इस आशा से उन्होंने चादर को कई बार झटका, परंतु एक कण भी नहीं निकला। अंत में चित्रगुप्त ने कहा, "पामर जीवात्मा, तेरे जीवन का अधिकांश समय मौज उड़ाने में ही बीता है। दूसरों के सुख-दुख की ओर ध्यान देने की तुझे कभी फुर्सत ही नहीं मिली। और तो और कर्तव्यपालन में भी तूने कदम-कदम पर प्रमाद किया है; तो फिर कर्तव्य से आगे बढ़कर परोपकार या पुण्यसंचय करने वाले अन्य सत्कृत्य तेरे हाथों होने की संभावना ही नहीं थी।"

तात्या ने घबरा कर कहा, "ऐसा कैसे हो सकता है, महाराज ? आप शायद मेरे खाते में कुछ पुण्य को जमा करना भूल गए हैं। उदाहरणार्थ मैंने सत्यनारायण के प्रसाद और गणेशजी के मोदक की कभी अवहेलना नहीं की।"

"इसका कारण तेरा चटोरापन था। उनका जिक्र करते हुए भी तेरे मुंह में पानी भरा आ रहा है। उनकी गिनती सत्कर्मों में नहीं हो सकती।"

"कुछ रोज पहले मैंने कोटि-लिंगार्चन और शतचंडी यज्ञ करके ब्राह्मण-भोजन करवाया था। संतर्पण तो मैं जीवन में अनेक बार कर चुका हूं। क्या वह सब

भी बेकार गया ?" तात्या ने ब्रहस जारी रखी।

इस प्रकार की हुज्जत का जवाब देते हुए ही चित्रगुप्त के बाल सफेद हुए थे। अतः टस से मस न होते हुए उन्होंने दृढ़ता से कहा, "बिलकुल ! यह सारा खटकरम तूने अपनी और अपने जैसे अन्य कई मुस्टंडों की कुछ दिनों के लिए खाने-पीने की सुविधा करने के हेतु से किया था। अन्न के उन ढेरों में से किसी अनाथ या दरिद्र की झोली में कभी एक मुठ्ठी भी डाली थी क्या ?"

"गोरक्षा समिति के मंत्री के नाते मैंने गायों की सेवा में अमूल्य योगदान दिया। क्या वह भी निरर्थक गया ?" तात्या अब चिड़चिड़ा उठे थे।

"हां, वत्स ! चंदे की रकम हजम करके तुम लोगों ने सांड की तरह अपने शरीरों को पुष्ट किया। इससे एक अर्थ में गोरक्षा हुई ऐसा कहा जा सकता है। पर इससे तुम्हारी देह को कोई कष्ट नही हुआ। तेरे मन में यदि मूक प्राणियों के प्रति इतनी ही दया थी, तो दुर्गा-अष्टमी के यज्ञ में तूने बकरे का बलिदान क्यों दिया ? और प्रतिवर्ष दशहरे के दिन भैंसा काटने का समर्थन तू क्यों करता रहा ?"

"परंतु महाराज, ये तो शास्त्रविहित आज्ञाएं हैं। विधियों का पालन करने से मेरे हाथों अनर्थ कैसे हुआ ?" तात्या की इस दलील में काफी वजन था, पर चित्रगुप्त पर उसका कोई असर नहीं हुआ।

"इन कृत्यों से तेरे हाथों पाप नहीं हुआ, यह सही है। परंतु यश और द्रव्य की आशा से की गई गोरक्षा के द्वारा तेरे हाथों पुण्य का कार्य नहीं हुआ, यह भी उतना ही सही है।"

"हे राम ! तब तो फिर महाराज, मैंने उस चिद्घनानंद स्वामी को मंदिर बनवाने के लिए चंदा उगाहने में जो सहायता की थी, वह भी व्यर्थ ही गई होगी ?" तात्या ने अब वक्रोक्ति की शरण ली।

"वह कष्ट तूने एकत्रित चंदे में से चौथाई रकम दलाली के रूप में मिलने के लालच से किया था। इसके अलावा स्वामीजी की एक शिष्या के प्रति तेरी विकारदृष्टि भी थी, यह तू शायद भूल गया होगा; पर मैं नही भूला हूं।" साफगोई में चित्रगुप्त भी कम नहीं थे।

"अच्छा ! तो फिर मेरा वेदपठन और मंत्रोच्चारण ?" डूबते हुए तात्या अब तिनकों का सहारा लेने लगे।

"वह कोरा अर्थशून्य शब्दाडंबर था।"

"और पंचगव्य प्राशन ? महाराज ! कृपा करके देखिए कि उसमें की कुछ बूंदे भी मेरे खाते में जमा हैं या नहीं ? यहां खड़े-खड़े भी मुझे अपने खाते में जमा की ओर कुछ गंदगी दिखाई दे रही है। वह शायद गोबर-गोमूत्र ही है।"

"नहीं ! भय के कारण तुझे दृष्टिभ्रम हो गया है, वत्स ! तेरे पंचगव्य प्राशन की गणना न पुण्य में हुई है, न पाप में। वह कोरा ढोंग था।"

"महाराज ! गयाबीता, होली के दिनों में मचाया हुआ हुड़दंग तो मेरे खाते में जमा होगा ही।"

"उस पशुवृत्ति से हमें कोई सरोकार नहीं।"

"अरेरे ! तो फिर मैंने व्यर्थ ही इतनी उछल कूद की। क्या नसीबा है हमारा कि पंचगव्य की एकाध बूंद या हुड़दंग की एकाध गाली भी हमारे भाग्य में नहीं।"

यह संभाषण पूरा होते ही चित्रगुप्त के दूत तात्या को गरदनियां दे कर धकियाते हुए नरक लोक में ले गए। यह देख कर मेरे मन का उद्वेग असह्य हो उठा। मैंने गणेशजी से पूछा कि, "हे बुद्धिदाता ! हे विघ्नहर्ता ! पाप या पुण्य करने की बुद्धि मनुष्य को जब आप ही की ओर से मिलती है, तो उसके भले-बुरे कृत्यों के लिए उसे उत्तरदायी क्यों माना जाता है ? और उसके छोटे-मोटे प्रमादों की ऐसी कठोर सजा उसे क्यों दी जाती है ?"

सुधारकों के मुंह में शोभा देने वाले मेरे इस तर्क को सुनते ही गणेशजी ने क्रोधित होकर अपनी सूंड से मुझे एक जोरदार रहपट लगाया। इससे मेरी नींद खुल गई और देखता हूं, तो कैसा चमत्कार ! बंडूनाना पीठ पर चपत लगा-लगा कर मुझे जगा रहे थे और पांडूतात्या पास खड़े हुए अपनी कर्कश आवाज में कह रहे थे "आज कुंभकर्ण की नींद से सोये हो क्या ? ऐसा पेटूपन भी भला किस काम का ? इतना ठूंसपेट खाया ही क्यों ? आज सायंसंध्या या स्तोत्रपाठ वगैरह कुछ करना है या नहीं ?...मरने के बाद चित्रगुप्त के सामने किस मुंह से खड़े रहोगे ?...उठो अब,...आलसी कहीं के !"

19. लेखनकला के विभिन्न सोपान

"पूत के पांव पालने में ही दिखाई दे जाते हैं"—यह कहावत शब्दशः न सही, पर तात्पर्यार्थ से बिलकुल सच्ची मालूम देती है। बच्चों की शैशवकालीन आदतों में उनके भविष्य के आयुष्यक्रम के सूक्ष्म बीज छिपे रहते हैं इसमें कोई संदेह नहीं। शिवाजी महाराज का युद्धप्रेम और अन्याय के प्रति रोष बचपन में ही उजागर हो गया था, यह तो सभी जानते हैं। इस नियम को मानकर चलें तो यह कहने में भी बिलकुल अतिरंजना नहीं होगी कि शंकराचार्य, ज्ञानेश्वर, गेटे, पोप और मॅकॉले आदि प्रसिद्ध अल्पायु ग्रंथकारों ने ग्रंथरचना की शुरुआत अक्षरज्ञान के साथ-साथ ही की होगी।

महान ग्रंथकारों की भविष्य की रचनाओं के विषय में किसी को यदि पहले से ही जानकारी हो जाए तो उसका वर्णन बढ़ा रसमय, मनोरंजक और बोधप्रद हो सकता है। नवयुवक लेखक जब ग्रंथरचना का श्रीगणेश करता है तब लेखनकला विषयक उसकी धारणाएं काफी हद तक अस्पष्ट और गलत होती हैं। उसकी राय में ग्रंथ का विस्तार और पृष्ठसंख्या ही लेखनपटुत्व का एकमात्र लक्षण होता है। वाक्यों की योग्यता को वह उनकी अर्थ-व्यंजकता के हिसाब से नहीं बल्कि उनकी लंबाई से नापता है। वाक्यरचना व्याकरण की दृष्टि से चाहे अशुद्ध ही हो, पर जब तक ग्रंथ का वजन अधिक है तब तक युवा लेखकों का मन उसकी गुरुत्वाकर्षण शक्ति से आकर्षित होता रहता है और यही उसकी दृष्टि में श्रेष्ठता का एकमेव मानदंड होता है। शेक्सपियर ने तीस से भी अधिक नाटक लिखे थे और स्कॉट ने उतने ही उपन्यास। इस संख्यातत्व से उसे जितना आश्चर्य होता है उतना उन कृतियों की श्रेष्ठता और रचनासौंदर्य से नहीं। भगवान ने लंबी उम्र दी, तो अपने भेजे की टकसाल में से भी उतने ही ग्रंथ टनाटन टपकाने का संकल्प वह मन ही

मन करता रहता है। उस समय उसकी कल्पना में यह बात नहीं आती कि ग्रंथ में भी शरीर की तरह आत्मा का अस्तित्व होना आवश्यक है। ग्रंथरचयिताओं की बाल्यावस्था के इस कालखंड में ग्रंथ की श्रेष्ठता की परख केवल बाह्येंद्रियों द्वारा होने के कारण उसे लेखनकला का दृष्टिकाल कहा जा सकता है। इस काल में ग्रंथ की लंबाई, मोटाई और वजन के साथ-साथ उसकी छपाई, जिल्दसाजी और मूल्य की ओर भी नवलेखकों का मन आकर्षित होता है। साथ ही समय का अवयव भी बहुत प्रबल रहता है और आशुरचना को बहुत बड़ा गुण माना जाता है। 'हमने चार दिन में अमुक ग्रंथ लिख डाला'—आदि बातों से इस कालखंड में बड़ा गर्व महसूस होता है और उसे अपने आप में बहुत बड़ी उपलब्धि माना जाता है। अपना पेट फुलाकर बैल के जितना बना लेने का प्रयत्न करने वाले मेंढक की तरह उदीयमान लेखक को भी अपने इस चमत्कार को निसंशय और दृष्ट रूप में स्थापित करने के लिए ग्रंथ को शीघ्रातिशीघ्र छपवा डालने की जल्दी मचती है।

अल्हड़ उम्र के लेखकों को इस प्रकार की बचकानी हरकतें शायद शोभा दे जाएं, पर प्रौढ़ावस्था प्राप्त कर चुकने वाले स्वीकृत और स्थापित लेखकों द्वारा इस प्रकार के प्रयत्न होने पर वे हास्यास्पद लगते हैं। इन दिनों मासिक पत्रिकाओं के संपादक लेखकों को उनकी रचना की पंक्तियों या शब्दों की संख्या के हिसाब से पारिश्रमकि देने लगे हैं। इससे बड़े-बड़े ख्यातनाम लेखकों की रचनाओं में भी चर्वितचर्वण, सिद्धसाधन, पुनरुक्ति और निःसत्वता जैसे दोषों की बाढ़ आ गई है और अर्थगांभीर्य के दर्शन भूसे के ढेर में से यदाकदा हाथ लग जाने वाले अन्नकणों की तरह उत्तरोत्तर दुर्लभ होते जा रहे हैं। एक बार एक संपादक ने इस प्रकार लंबाई-चौड़ाई के हिसाब से पारिश्रमिक देने से पहले उन लेखों को हथौड़े से ठोक-पीटकर यथासंभव ठोस बना लेने का उपक्रम शुरू किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इससे उनमें फिर पहले की तरह कसाव, गठाव और अर्थगांभीर्य आ गया। यह प्रयोग अन्य संपादकों द्वारा भी किया जाना चाहिए।

इस कालखंड में अध्ययन और अवलोकन द्वारा प्राप्त ज्ञान की पूंजी अत्यंत सीमित होने पर भी सिखाऊ लेखकों को उसकी विपुलता का प्रदर्शन करने की बड़ी हौंस होती है। हाल ही में प्राप्त किये हुए संस्कृत या अंग्रेजी के ज्ञान की शेखी बघारने के लिए वह किसी अधूरे समझे हुए संस्कृत श्लोक का अप्रासंगिक

उद्धरण देगा या किसी अंग्रेजी कहावत के अनुवाद को अपने लेख के बीच में जड़ देगा। इस कालखंड के वर्णन तो बोरियत की सीमा लांघ जाने वाले होते हैं। किसी बाग का वर्णन करना हुआ तो देखे-अनदेखे समस्त वृक्ष, लता, पौधे आदि की पूरी सूची दी जाएगी और भोजनप्रसंग के वर्णन में व्यंजनों के छप्पन से भी अधिक प्रकारों का उल्लेख होगा। नायिका का रूपवर्णन करते समय सुभाषित-रत्न भांडागार की सारी उत्प्रेक्षाओं और चंद्रमुखी, मृगनयनी, गजगामिनी आदि सदियों की बासी उपमाओं की रीतिकाल के कवियों को भी शरमा देने वाली झड़ी लग जाएगी। इस काल में ज्ञान के अभाव की पूर्ति अकसर स्फूर्ति से कर ली जाती है। अपनी अपेक्षा अधिक प्रतिभासंपन्न लेखक या कवि की रचना सामने आने पर नाकभौंह सिकोड़ने की प्रक्रिया भी इन्हीं दिनों शुरू हो जाती है। विद्या और कविता का जिस प्रकार जन्मसिद्ध वैर होता है उसी प्रकार ज्ञान के साथ उदीयमान लेखकों की दुश्मनी भी जन्मजात होती है। वैर का अधिकरण समान होने के नाते शीघ्र ही नवलेखक और कविता के बीच गहरी दोस्ती जम जाती है। इधर ज्ञान के क्षेत्र में पराजित होकर कविता किसी-न-किसी आश्रय की तलाश में रहती है तो उधर जो और कुछ नहीं लिख सकता वह कम से कम कविता तो लिख ही सकता है, इस विचार से प्रेरित होकर नये लेखक कविता पर पिल पड़ते हैं। इस प्रक्रिया में वे अपने आप पर या अपनी रचना पर ज्ञान की छाया भी नहीं पड़ने देते, यह अलग से बताने की जरूरत नहीं।

इस कालखंड में मर्मज्ञता की भी अधिक गुंजाइश नहीं रहती। मर्मज्ञता विवेकपूर्ण चुनाव का ही दूसरा नाम है। बहुत से थोथे में से सार-सार की बातें ग्रहण कर लेना मार्मिकता का अनिवार्य लक्षण है। परंतु जहां बुनियादी ज्ञान का ही अभाव हो, वहां चुनाव का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इसलिए इस दौरान लेखकों की रचनाएं भले-बुरे तमाम शब्दों और विचारों को अपने भानमती के पिटारे में संजोये रखती हैं। इस अवस्था में रसादि मनोविकारों का आविष्कार करते समय जितना ध्यान उनकी उत्कटता की ओर दिया जाता है उतना उनकी स्वाभाविकता, प्रासंगिकता और प्रमाणबद्धता की ओर नहीं दिया जाता। रसाविर्भाव के समय पात्र अकसर क्षुल्लक कारणों को लेकर बड़ी उछलकूद मचाते हैं। चिउंटी मारने के लिए तोप चलाई जाती है और टके की चोरी के लिए फांसी की सजा सुनाई जाती है।

इस दौरान में लेखकों को दूसरों की अपेक्षा अपना ही महत्व अधिक दिखाई देता है। मेरे जैसे कमसिन लेखक ने इतना प्रचंड ग्रंथ लिख डाला इस एक चमत्कार के सामने उसे जीवन के अन्य सारे तथ्य तुच्छ मालूम देते हैं। ये उदीयमान लेखक अपने साहित्य में मौके-बेमौके अपनी आत्मकथा के आकर्षक प्रसंगों को भी उपयुक्त अतिरंजना के साथ जोड़ते रहते हैं और संसार के कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपने ऊटपटांग अनुभवों को पाठकों के गले मढ़ते रहते हैं। इसी प्रकार "हमारी राय में इसका यह अर्थ होता है···" अथवा "हर समझदार आदमी यह कबूल करेगा कि···" इत्यादि अहंकारदर्शक शब्दों का प्रयोग करने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं होता। थोड़ी-बहुत शंका की गुंजाइश होने पर इन्हीं शब्दों में थोड़ा सा हेरफेर करके वही बात "हमारी अल्प बुद्धि के अनुसार"—आदि शब्दों से आरंभ करके कही जा सकती है। इस हालत में उन्हें आत्मगौरव के साथ-साथ नम्रता और शालीनता का श्रेय भी मिल जाता है। प्राचीन कवि या नाटककार सूत्रधार के मुख से अपनी मनमानी प्रशंसा करवा लेते थे। कवि द्वारा निर्मित सूत्रधार अपने जन्मदाता का पितृऋण इस प्रकार की गौरवगाथा से चुका दे तो इसमें उन्हें आपत्ति की कोई बात नजर नहीं आती थी।

बाल्यावस्था के इस आरंभिक कालखंड के बाद के समय को शुद्धता का काल कहा जा सकता है। इस दौरान में लेखक वाक्यों को व्याकरण की दृष्टि से अधिकाधिक शुद्ध और काव्यशास्त्र की दृष्टि से अधिकाधिक सुंदर बनाने का प्रयत्न करता है। पद्य में मात्रादोष या प्रतिभंग नहीं होने देता। इस काल में व्याकरण, छंदशास्त्र और कोश, यही उसके मार्गदर्शक होते हैं।

यहां पहुंच कर लेखक अपने आपको साहित्यकार कहलाना पसंद करता है और पराये मतों का ढोल पीटने में उसे लाज आने लगती है। पहले दूसरों के नाम की आड़ में चाहे जो कपोल कल्पित विचार जड़ देने में जिस प्रकार उसे संकोच नहीं होता था उसी प्रकार अब अपने नामसे दूसरों के विचारों को खपा देने में उसे रत्ती भर झिझक नहीं होती। कुछ ग्रंथकार तो इस सोपान तक पहुंचते-पहुंचते अरस्तू-शेक्सपियर या कालिदास-भवभूति के विचारों पर भी बड़ी ढिठाई से अपना नाम चस्पां कर देते हैं। यह चोरी पकड़ी जाने पर 'दो भिन्नकालीन लेखकों को एक सी कल्पना सूझने में अनहोनी कुछ भी नहीं है'—आदि तर्कों द्वारा अपनी कल्पना शक्ति का प्रतिपादन करने के लिए वे सदा तत्पर रहते हैं। पूर्वकालीन साहित्य-

मनीषियों ने ही उसके ग्रंथों में से विचारों की चोरी की है यह दावा करने की धृष्टता वे नहीं करते इसे उनका सौजन्य ही कहना होगा। इसके बाद इन ग्रंथकारों के ज्ञान और विचारशक्ति का क्रमशः विकास होकर वे यदा-कदा स्वतंत्र विचार भी प्रकट करने लगते हैं। परंतु अब भी मार्मिकता और तारतम्य का उतना विकास न हो पाने के कारण विश्वमान्य विचारकों के मतों के साथ अपनी अपरिपक्व राय को कंधे से कंधा मिलाकर खड़ी करने की हिमाकत उनके हाथों अकसर होती रहती है।

इस दौरान लेखकों के मन में विवेचनाशक्ति के प्रति जो नया-नया सम्मान उत्पन्न होता है उसका आविर्भाव अकसर दो रूपों में होता है। एक आलोचनात्मक लेखों द्वारा परमत का खंडन करके, दूसरे, स्वतंत्र कृतियों द्वारा अपने मत की स्थापना करके। इस कालखंड में भी मानसिक परिपक्वता मौलिक रचना के लिए पर्याप्त न होने के कारण अधिकांश लेखक पहले मार्ग का ही अनुसरण करते हैं। कल्पकता और विवेकबुद्धि का अन्य लेखकों में नितांत अभाव है यह सिद्ध करके वह अपने इन अभावों पर या तो परदा डाल देते हैं या उनका समर्थन हुआ मानते हैं। इसके अलावा आलोचको को अपने लिए उत्तम पुरुष सर्वनाम के बहुवचन का प्रयोग करने की छूट होने के कारण और दूसरों को भरपूर उपदेश देने का अधिकार होने के कारण अधिकांश लेखकों को यही मार्ग अधिक आकर्षक लगता है। कुछ ग्रंथकार स्वतंत्र लेखन में सफलता न मिलने के कारण इस मार्ग को स्वीकार करते हैं और पूर्वाश्रम में आलोचकों द्वारा उन पर जो उपहास और अपशब्दों की वर्षा हुई थी उसका अर्क निचोड़ कर उसे सूद समेत अपने प्रतिस्पर्धियों पर छिड़क देते हैं। अपनी विध्वंसक और कटु आलोचनाओं को अपने असली नाम से न छपवाने की सावधानी भी वे बरतते हैं जिससे उनके नाम के लत्ते खींचे जाने की संभावना नहीं रहती। इन उदीयमान आलोचकों में जो अधिक धूर्त होते हैं वे निंदाग्नि की वर्षा के बीच-बीच में एकाध शीतल स्तुतिकरण का भी छिड़काव कर देते हैं। इससे निंदा को यथार्थता की प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है और आलोचक को निष्पक्ष होने का श्रेय मिल जाता है।

जो हौसले वाले ग्रंथकार इस राजमार्ग को छोड़ कर स्वतंत्र ग्रंथ रचना के कठिन मार्ग का अवलंबन करते हैं उनका ध्येय भी आरंभ में तो बुभुक्षित पाठकों

के सामने चटपटी उपमाओं, रूमानी कल्पनाओं और विवादास्पद विचारों की पत्तल परोसना ही होता है। ये सब बातें प्रासंगिक हैं या नहीं या उनमें सत्य का अंश कितना है आदि बातों की उन्हें इस समय विशेष परवाह नहीं रहती। उन्हें किसी असंभाव्य या परस्पर-विरोधी अर्थों की व्यंजक बनाने पर तो उनके आनंद की सीमा नहीं रहती।

इस काल की दूसरी विशेषता यह होती है कि लेखक की अब तक की आत्मकेंद्रित अहंमन्यता के कारण अंतर्मुखी होने वाली उसकी वृत्ति अब धीरे-धीरे बहिर्मुख होने लगती है और उसमें पाठकों को खुश करने का भाव झलकने लगता है। ग्रंथकार और रसिक पाठक का अब तक का स्वामी-सेवक का रिश्ता अब उलटा हो जाता है। इन दिनों उसकी काव्यालंकारशास्त्र में भी गति हो जाती है। आरंभ में जो दारोमदार शब्दालंकार पर रहता था वह अब अर्थालंकारों पर आ पड़ता है और लेखन में अनेक नये शब्दप्रयोग होने लगते हैं। संक्षेप में कहें तो अब सुंदर अर्थ को सुंदर भाषा में व्यक्त करने के लिए उसका मन छटपटाने लगता है और इसी को वह अपने कर्तव्य की परमावधि मान लेता है।

जिन लेखकों को लेखनकला के बल पर पाठकों का मनोरंजन करना नहीं आता वे लोग और जो उत्तम प्रकार से ऐसा कर सकते हैं वे भी कभी-कभी इस जनरंजन-कार्य को विषय के निरूपण द्वारा न करते हुए पाठकों के अहम् को पोषित करके करते हैं। पाठक जिस वर्ग या जाति के हों उसकी प्रशंसा करके; उस वर्ग के विचारों और निहित स्वार्थों का समर्थन करके; एवम् उनके लिए 'सुधी', 'सुज्ञ' आदि विशेषणों का प्रयोग करने से यह साध्य आसानी से प्राप्त हो जाता है। पाठकों को लेख में अपने ही मतों का प्रतिबिंब दिखाई देने लगता है जो क्रमशः उनकी प्रसन्नता का मूल कारण बन बैठता है। 'अन्य देशों की तुलना में अपना देश श्रेष्ठ है'; 'वर्तमान की अपेक्षा हमारा अतीत कहीं अधिक गौरवमय था' आदि सुहाने मतों का प्रतिपादन उनकी कुंठाओं और पूर्वग्रहों को धक्का पहुंचाए बिना उनकी आत्मगौरव विषयक उच्च धारणाओं का पोषण करता है। पाठक लेखकों की तारीफ करके इस ऋण को चुका देते हैं। इससे "अहो रूपम् अहो ध्वनि" का एक दुष्टचक्र अवश्य उत्पन्न हो जाता है, पर लेखक और पाठक दोनों खुश रहते हैं और किसी को किसी से शिकायत की गुंजाइश नहीं रहती।

इसके बाद के लेखनकला के अंतिम कालखंड को सत्यान्वेषण काल कहा जा सकता है। इस दौरान में ग्रंथकार की ओर से भाषा या विचारों के लालित्य और सौष्ठव की उपेक्षा होती हो, सो बात नहीं; परंतु अब उसकी नजर सौंदर्य के साथ सत्य को भी उतना ही महत्व देने लगती है। सत्य का सौंदर्यमय आविष्करण और सौंदर्य की सत्यनिष्ठ निष्पत्ति उसके प्रधान कर्तव्य हो उठते हैं और इन दोनों तत्वों के मणिकांचनयोग से उसकी कृतियों को चिरस्थायित्व प्राप्त होता है। इस कसौटी पर खरे उतरने के कारण ही कालीदास, शेक्सपियर, गेटे, मोलियर, सर्वान्टीज और शेख सादी जैसे विभिन्न देशीय साहित्य-मनीषी वाङ्मयोपासना के सर्वोच्च सोपान पर विराजमान हुए हैं। परिपक्वता प्राप्त करने को उत्सुक किसी भी लेखक का आद्य कर्तव्य हो जाता है कि उन्हें गुरुस्थान पर मान कर उनके आदर्शों का यथासंभव अनुसरण करे।

प्रत्येक प्रसिद्ध ग्रंथकार के लेखन कौशल के विकास में उपरोक्त अवस्थात्रयी के दर्शन होते हैं। प्रथम अवस्था में ग्रंथकार की दृष्टि सत्य या सौंदर्य, दोनों में से एक की भी ओर न होकर केवल विस्तार की ओर रहती है और वह अपनी इस गुरुता में ही मगन रहता है। दूसरी अवस्था में एक साधन के रूप में सौंदर्य का उपयोग होकर रसिक-मनरंजन प्रधान उद्देश्य हो जाता है। सत्य से वियुक्त रहने के कारण सौंदर्यबोध की स्वस्थ दृष्टि अब भी पनप नहीं पाती। तीसरी अवस्था में पहुंच कर कहीं चित्तवृत्ति सौंदर्य के साथ सत्य की ओर भी झुकती है। "सत्यम् ब्रूयात् प्रियम् ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्" वाली उक्ति नीतिशास्त्र की अपेक्षा साहित्यशास्त्र में ही अधिक चरितार्थ होती है। इन तीन अवस्थाओं को लेखनकला का शैशव, तारुण्य और परिणतावस्था कहा जा सकता है या तामस, राजस और सात्विक आदि उत्क्रांतिवाचक क्रम भी उन्हें दिए जा सकते हैं। प्रत्येक प्रसिद्ध लेखक को अपनी सामर्थ्यानुसार कम या अधिक समय तक इन तीनों अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। किसी को परिणतावस्था बहुत शीघ्र प्राप्त हो जाती है जबकि कुछ आखिर तक पूर्वावस्थाओं में ही भटकते रहते हैं। कुछ ग्रंथकार भाषा के संबंध में प्रथमावस्था में, पर विचारों के क्षेत्र में परिणतावस्था में पाए जाते हैं जबकि कुछ के संबंध में यह क्रम उलटा दिखाई देता है। यह भेद व्यक्ति विशेष की नैसर्गिक शक्तियों में अंतर होने के कारण दिखाई देता है।

इन तीनों कालखंडों के बाद की भी एक अवस्था है। परंतु उसे लेखक के देहावसान काल के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता। उस काल का संबंध इस लेख से नहीं बल्कि विधाता के लेख के साथ होने के कारण यहां उसकी चर्चा करने का प्रयोजन नहीं। एक बार परिणतावस्था प्राप्त कर लेने के बाद ग्रंथकार के शरीर पर काल की सत्ता भले ही चल जाए, उसके यश पर नहीं चल सकती। यह सिद्धांत आज तक अबाधित रूप से चला आ रहा है।

20. हमारे घरेलू खेल

केवल दिलबहलाव की खातिर या किसी नैमित्तिक कारण से की जाने वाली छोटी-मोटी बातें भी कभी-कभी करने वाले के सिर पर सवार होकर उसके भावी चरित्र की नियामक बन बैठती हैं, यह अनुभवसिद्ध बात है। औषधि के बहाने से किया गया मद्यपान कालांतर में व्यसन बन जाता है, महज मजाक के तौर पर की जाने वाली किसी की नकल जीवन भर की ख़सलत बन बैठती है; केवल मन-बहलाव के लिए किए हुए अंगविक्षेप लकड़ियों तक पीछा नहीं छोड़ते और क्षणिक मनोरंजन के तौर पर देखे हुए नाटक की अभिनेत्री प्रेक्षक की अर्धांगिनी बनकर जीवन भर के लिए उस पर अधिकार जमा बैठती है। दिलबहलाव के लिए खेले जाने वाले खेलों में भी अकसर यही खतरा रहता है। आरंभ में अवकाश के समय खेले जाने वाले खेल समय बीतते खिलाड़ी की गर्दन दबोचकर उस पर एकछत्र शासन स्थापित कर लेते हैं। शीघ्र ही खिलाड़ी खुद खेल बन जाता है और जीवन के महत्वपूर्ण कर्तव्यों को बिसार कर अपना सारा समय उन्हीं की गुलामी में बिताने लगता है। इस प्रकार खेलों की धुन में डूबे हुए लोग वैसे बड़े योग्य और कार्यक्षम होते हुए भी, व्यसन के कारण अकर्मण्य और निठल्ले साबित होते हैं। ड्योढ़ी पर सचमुच के हाथी घोड़े बांधने की क्षमता रखने वाले वीर पुरुष शतरंज के नशे में डूब कर लकड़ी की चतुरंग सेना नचाने में ही कृतार्थता अनुभव करने लगते हैं और सचमुच के राजा-रानियों को उंगली के इशारे पर नचा संकने की योग्यता रखने वाले धुरंधर ताश के बेगम-बादशाहों की जोड़ियां लगाने में ही जीवन की सार्थकता मान बैठते हैं।

मेरा क्रिकेट खेलने का उत्साह कुछ ही दिनों में ठंडा क्यों पड़ गया, इसका वर्णन पहले किया जा चुका है। उसके कुछ वर्ष बाद मुझे अपना हस्तकौशल

टेनिस के क्षेत्र में आजमाने की इच्छा हुई और मैं नियमित रूप से टेनिस कोर्ट जाने लगा। अनुभवी लोगों का कहना है कि किसी भी कला में पारंगत होना हो, तो उस क्षेत्र के विख्यात लोगों से संबंध रखना चाहिए और खेल हमेशा अपने सवाये के साथ खेलना चाहिए। इस सिद्धांत का अनुयायी होने के कारण मैंने केवल कुशल खिलाड़ियों के साथ खेलने की परिपाटी रखी। परंतु यह प्रथा दो-एक महीने तक चलती रहने पर भी मेरे खेल में प्रगति का कोई लक्षण दिखाई नहीं दिया। इसके बहुत से कारण थे। पहले तो यह कि प्रतिस्पर्धी द्वारा पीटी हुई गेंद मेरी ओर इतनी तेजी से आती थी कि वह अकसर मुझे क्षेत्र के बाहर जाने के बाद दिखाई देती। इक्का-दुक्का गेंद कभी पहले दिखाई दे जाती तो उसकी रफ्तार देखकर मुझे उसे हाथ लगाने की हिम्मत नहीं होती थी। पूर्वानुभव का स्मरण ताजा था और गेंद को पीटने की धुन में कहीं उसके द्वारा मेरी ही कपाल-क्रिया न हो जाए, यह दहशत मन में बुरी तरह समा गयी थी। मह माना कि टेनिस की गेंद क्रिकेट की गेंद की तुलना में बहुत नर्म होती है। पर मेरी देह की मुलायमियत को देखते हुए वह वज्र से कम कठोर नहीं थी। मनुष्य-जन्म कोई बार-बार तो मिलता नहीं; और शरीर बनाने की धुन में उसे गंवा बैठने की मेरी कतई मरजी नहीं थी। इसलिए सामने से आने वाली गेंद से मैं विशेष छेड़छाड़ करने की कोशिश नहीं करता था। कोई गेंद यदि हाथ धोकर ही पीछे पड़ जाती, तो मैं उसके रास्ते से हटकर उसे सभ्यतापूर्वक आगे बढ़ जाने देता। गेंद रास्ते से हट जाने का भी मौका न दे, तब तो मजबूरी से उसका रैकिट से मुकाबला करना ही पड़ता था। ऐसे प्रसंगों पर भी स्थिति अकसर यह होती थी कि मैं कहीं तो रैकिट कहीं, तो गेंद कहीं। गेंद का निशाना मेरे निशाने से कहीं अधिक अचूक होता था। गेंद ने मेरी दिशा में मेल गाड़ी की रफ्तार से आकर शरीर का कोई न कोई अंग कुछ दिनों के लिए निकम्मा न कर दिया हो, ऐसा शायद ही कोई दिन बीतता हो। रैकिट के बजाय शरीर से खेलने का नियम होता तो मुझे विश्वास है कि एक भी गेंद मेरे चंगुल से (या मेरी देहयष्टि गेंद के चंगुल से) न छूटी होती। पर ऐसा कोई नियम न होने के कारण खेलते समय श्रमपरिहारार्थ शरीर की चंपी भी होती रहती थी। गेंद मेरे शरीर पर प्रहार करती तब देखने वाले निर्लज्जता से खिखियाने लगते थे। इससे मेरी खिसियाहट और भी भड़क उठती थी।

आखिर लोगों को मुफ्त में तमाशा दिखाने के बजाय मैंने अपनी जोड़ के खिलाड़ियों के साथ खेलने का निश्चय किया। जिसके चेहरे पर से मक्खी भी नहीं उड़ती थी ऐसे एक निरुपद्रवी खिलाड़ी को चुनकर मैंने जीवन के क्रीड़ापर्व में नया अध्याय शुरू किया। अब तो पासा पलट गया। प्रतिस्पर्धी की गेंद मेरी ओर बड़े इत-मीनान से आने लगी और उसे पीटने का पैंतरा जमाने के लिए मुझे पर्याप्त समय मिलने लगा। महत्व की बात तो यह थी कि अब प्रत्येक गेंद से रॅकिट का स्पर्श होने लगा था। यह देखकर मेरे आनंद की सीमा न रही। अब यह बात अलग है कि मेरी लौटाई हुई हर गेंद प्रतिस्पर्धी के क्षेत्र में ही गिरे इसकी कोई गारंटी नहीं थी। कभी वह बीच की जाली में ही अटक जाती तो कभी तेजी से चकर-घिन्नी खा कर मेरे पांवों के इर्दगिर्द ही मंडराती रहती। कभी वह रेस के घोड़े की तरह विरोधी के क्षेत्र की सीमाएं पार करके दूर जा गिरती तो कभी ऊपर आकाश में विहार करके मेरी चांद पर आ टपकती। सौ में से पचास बार वह क्षेत्र के बाजुओं से समांतर रेखा में प्रयाण करने के बजाय टेढ़ी-तिरछी दिशाओं में दौड़ती। मैं भी सोचता कि जगदीश्वर की कृपा से जब हमारे संचार के लिए इस विशाल धरती की दसों दिशाएं खुली हैं, तो उस बेचारी गेंद पर ही अपने आपको क्षेत्र की सीमाओं में मर्यादित रखने की बंदिश क्यों लगायी जाए! कभी-कभी तो उसकी यात्रा की दिशा क्षेत्र से नब्बे अंश का कोण बनाकर होती। ऐसे समय मेरे मन में विचार आता कि किसी यांत्रिक चमत्कार द्वारा पूरे क्षेत्र को गेंद की दिशा में घुमाया जा सके तो कितना अच्छा हो! पर विज्ञान की कितनी ही प्रगति क्यों न हो जाए, वह हमारे मन की कल्पनाओं के साथ थोड़े ही दौड़ लगा सकता है। परिणामस्वरूप, गेंद के स्वैर संचार को वीतराग वृत्ति से देखते रहने के अलावा कोई चारा नहीं था। मन में एक ही बात का संतोष था कि चलो, पहले जहां गेंद और रॅकिट की मुलाकात दिनों तक नहीं होती थी, वहां अब दिन में कई बार होने लगी है।

हमारी स्वामीभक्त गेंद ने खेल के क्षेत्र की सीमाओं के बीच जहां सौम्यता का बर्ताव रखा था वहां इर्दगिर्द के इलाके में उसने कहर मचा रखा था। मेरे द्वारा पीटी हुई एक गेंद ने किसी प्रेक्षक की पगड़ी उछाल दी थी तो दूसरी ने किसी की ऐनक फोड़ दी; और तीसरी तो ऊपर उछल कर, आश्चर्य से मुंह बाए तमाशा देखने वाले किसी प्रेक्षक के मुंह में ऐसी फिट बैठ गयी कि उसे शल्यक्रिया

द्वारा बाहर निकलवाना पड़ा। किसी प्रेक्षक ने मुंह में एक दांत सलामत होने के बहाने नकली बत्तीसी नहीं बनवायी थी। हमारी एक गेंद ने उसके एकाकी दांत को स्थानभ्रष्ट करके उसे इस उलझन से मुक्ति दिला दी। इस प्रकार किसी की बत्तीसी, किसी की कनपटी, किसी की पगड़ी तो किसी की पसली को स्थान-भ्रष्ट करते हुए गेंद स्वैरसंचार करने लगी। शीघ्र ही हमारे टेनिस कोर्ट के इर्द-गिर्द मील भर के दायरे में लोगों का फड़कना भी मुश्किल हो गया। माताएं शरारती बच्चों को हमारी गेंद का डर दिखाने लगीं और पानी न पीने वाले घोड़ों के सवार अपने अड़ियल चौपायों से "पानी में क्या तुझे टेनिस की गेंद दिखाई दे रही है, जो तुझे खा जाएगी?"—जैसे इतिहासप्रसिद्ध प्रश्न पूछने लगे।

इस प्रकार हमारे खेल की वजह से इर्दगिर्द की पंचकोशी के निवासियों को तो पर्याप्त व्यायाम मिलने लगा; पर हमें उससे विशेष लाभ नहीं हुआ। खेलते समय न तो कभी हाथ-पांव की विशेष हरकत हुई, न कभी पसीने की एक बूंद गिरी। शीघ्र ही मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि खेलने की अपेक्षा प्रेक्षक बनकर बेंच पर बैठने से ही अधिक व्यायाम मिलता है। कुशल खिलाड़ी द्वारा लगाए गए हर फटके के साथ प्रेक्षकों को गर्दन भी दाएं-बाएं घुमानी पड़ती है। इससे ग्रीवा का एक-एक मनका चुस्त हो जाता है। मैंने तुरंत इस पर अमल किया और टेनिस खेलने के बजाय अच्छे खिलाड़ियों का खेल देखना शुरू किया। शीघ्र ही मेरी इमर्तबाननुमा गर्दन सुराहीदार हो उठी और तीन ठुड्डियों में से दो गायब होकर एक ही बची। इस परिवर्तन को देखकर एक मित्र ने टिप्पणी की: "क्या बात है भाई! पहले तो तुम शतरंज के हाथी जैसे दिखाई देते थे; अब ऊंट जैसे कैसे हो गए?"

बस, उनका यह फिकरा ही हमारे पतन का कारण बन गया। किसी क्षुद्र बात को लेकर किसी व्यक्ति या प्रजा के भविष्य की पूरी दिशा बदल गयी हो, इसके अनेक उदाहरण इतिहास में मिलते हैं। कहते हैं कि मिस्र की एक रानी की नाक आवश्यकता से अधिक सीधी होने के कारण भूमध्य सागर के इर्दगिर्द के प्रदेश का समूचा इतिहास बदल गया था। कुछ इसी प्रकार का परिवर्तन हमारे जीवन में इस ऊंटघोड़े के जुमले ने कर दिया। शतरंज का खेल आखिर है किस चिड़िया का नाम यह जानने की इच्छा तभी से मेरे मन में जगी। मैं तुरंत बाजार गया और डेढ़-दो रुपये में हाथी-घोड़े, ऊंट-प्यादे और राजा-वजीर की सेना मय उनके

रणक्षेत्र के खरीद लाया। इस सेना के पड़ाव में तंबू-खेमे या रसद-पानी का कोई खर्च था ही नहीं। अत: मैंने नियमित रूप से बंडूनाना के साथ खेलना शुरू कर दिया। खेल समाप्त होने पर हाथी की सूंड वजीर की कमर से लपेट कर और ऊंट की गरदन राजा के गले में डाल कर उन्हें बिसात में ही लपेट कर रखा जा सकता था। इस पर भी किसी मोहरे ने शिकायत की हो, ऐसा कभी नहीं हुआ। एक बार तो भोजन की पंगत में अगरबत्तियां जलाने के लिए अगरदान कम पड़ जाने पर मैंने मोहरों के सिर पर एक-एक छेद बना दिया और उसमें अगरबत्तियां खोंस दीं। फिर भी किसी मुहरे को कोई आपत्ति नहीं हुई। इतना ही नहीं, हाथी ने अपनी सूंड या ऊंट ने अपनी गरदन लंबी करके भोजन की सामग्री पार करने का भी कोई प्रयत्न नहीं किया। खेल के दौरान काले और सफेद मुहरे एक-दूसरे को जानी दुश्मन मानकर बर्ताव करते हैं। परंतु खेल समाप्त होने के बाद वे एक-दूसरे के साथ इतने मिलजुल कर रहते हैं कि उनकी शांतिप्रियता से महाभारत के योद्धा भी सबक सीख सकते थे।

हाथी सीधा चलता है और ऊंट टेढ़ा। एक चाल में वे कितने भी घर चल सकते हैं जबकि घोड़ा सिर्फ ढाई घर चलता है। विभिन्न मुहरों की चाल के ये नियम आरंभ में तो मुझे दैवगति या ग्रहगति के नियमों से भी अधिक जटिल मालूम देते थे; परंतु कुछ दिन के परिचय के बाद वे याद हो गए। बाद में तो यहां तक नौबत आई कि सचमुच का ऊंट यदि कहीं सीधा चलता हुआ दिखाई देता तो उसके इस स्वधर्मत्याग के प्रति मुझे बड़ा क्रोध आता था और हाड़मांस का हाथी कहीं गलती से भी टेढ़ा चलता हुआ दिखाई देता तो उसके इस वाममार्गी बर्ताव का मैं जोरदार निषेध करता। एक बार किसी गली में से जाते समय मुझे सामने से एक ऊंट आता हुआ दिखाई दिया। मैंने सोचा कि यह तो अपने स्वभावधर्म के अनुसार टेढ़ा ही जाएगा। इसलिए मैं रास्ते से हटा नहीं। मेरी इस गफलत के लिए मुझे देहांत प्रायश्चित मिलते-मिलते बचा। किसी तरह जान बचाकर एक ओर हुआ तो पीछे से एक हाथी आता हुआ दिखाई दिया। अब जान की खैर नहीं यह सोचकर मैं पास की एक गली में घुस गया। इससे हाथी के चंगुल से तो बच गया परंतु सच्चा बचाव तो ऊंट की लात से हुआ क्योंकि हटते समय उसकी टांग मेरे ऊपर पड़ने ही वाली ही थी। गर्दन डेढ़ मंजिल की ऊंचाई पर होने के कारण ऊंट को यह सब कुछ मालूम भी नहीं पड़ा।

ऊंट-हाथियों को उंगली के इशारे पर नचाने वाले एक मुझ जैसे खिलाड़ी पर उन्हीं की राक्षसी टांगों के नीचे कुचले जाने का प्रसंग आए, इसे गर्दिश के चक्कर के सिवा और क्या कहा जा सकता है ?…चलो !…ईश्वरेच्छा बलीयसी।

शीघ्र ही खेल का हम पर इस हद तक खब्त सवार हो गया कि रोजमर्रा के काम करते समय भी उसकी याद सताने लगी और शतरंज के मोहरे सामने न होने पर बड़ा अजीब-अजीब सा लगने लगा। भोजन के समय तो इस कमी को मैंने मोहरों का उपयोग अगरदान के रूप में कर के पूरा कर लिया था। अब दफ्तर जाते समय भी कागजों पर पेपरवेट रखने के बहाने दो-चार हाथी जेब में डाल कर ले जाने लगा। इतना ही नहीं, सोते समय भी हाथी की सूंड या ऊंट की गरदन पर सिर टिकाये बिना मुझे नींद ही नहीं आती थी। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। यह तो अपना-अपना लगाव है। 'इंद्रोक्लीज और शेर' की कहानी जिन्होंने पढ़ी होगी उनकी समझ में मेरी बात तुरंत आ जाएगी। एक दिन तो दुर्घटना होते-होते बची। उस रोज काफी रात बीते एक चूहा मेरे एक ऊंट और दो हाथियों को घसीट कर बिल में लिए जा रहा था। वह तो अच्छा हुआ कि मेरी नजर पड़ गई। मैंने वहीं से लेटे-लेटे ही उस पर घोड़ा फेंक कर मारा। वरना वह पाजी मेरे बचे हुए ऊंट-हाथियों को भी खींच कर ले जाता। उस दिन से ऊंट या हाथी का तकिया बना कर सोने की आदत मुझे छोड़ देनी पड़ी।

धीरे-धीरे शतरंज के खेल ने हम पर इस हद तक कब्जा जमा लिया कि हमें खाने पीने की भी सुधबुध न रही। शाम के खाने को रात के बारह-बारह, दो-दो बजने लगे। कभी-कभी तो अगले रोज का शाम का खाना दूसरे दिन सुबह नौ-दस बजे तक खाया जाता। ऐसे मौकों पर मैं पत्नी को सुनाता, "देर से खाना खाने की तुम रोज शिकायत करती हो न ? अब आज जरा घड़ी देख लो। अभी दस भी नहीं बजे।" इस प्रकार सुबह दस बजे का भोजन शाम को आठ बजे और शाम के आठ बजे का खाना दूसरे दिन सुबह दस बजे होने लगा। श्रीमतीजी ने भी इससे संतोष मानकर शिकायत करना छोड़ दिया।

खेल में एक बार मग्न हो जाने पर इर्द-गिर्द की दुनिया तो डूबी हुई ही समझिये। एक बार खेलते समय मैंने सुंघनी की चुटकी को कतरी हुई सुपारी समझकर मुंह में डाल लिया और सुपारी के बुरादे को नास समझकर नाक में चढ़ा लिया। दूसरी बार मैंने ऊंट को बीड़ी समझकर होंठों पर जमाया और दियासलाई

से उसकी लंबी गरदन को सुलगाकर घंटों तक कश खींचता रहा। पांडूतात्या ने एक बार सुपारी समझकर पूरा हाथी मुंह में डाल लिया और वह दातों से चबाया नहीं गया तो सरौते से उसकी बारीक बुकनी करके फांक गए। परंतु इन सबसे ऊंचे प्रकार का करिश्मा तो बंडूनाना ने कर दिखाया। एक बार हम दोनों खेल रहे थे। पीने के पानी का गिलास पास ही रखा था। उन्हें कोई जरूरी पत्र लिखना था इसलिए दवात भी पास में ही रखी हुई थी। सारा ध्यान खेल में ही लगा होने के कारण चिट्ठी उन्होंने पानी के गिलास में कलम डुबो-डुबोकर लिखी और झट से लिफाफा बंद करके डाक में छुड़वा दी। इसके बाद प्यास लगी तो दवात को मुंह से लगाकर पानी के स्थान पर गटागट स्याही पी गए। इसका उन के शरीर पर ऐसा विलक्षण परिणाम हुआ कि कुछ ही दिनों में उनके सफेद बाल काले हो गए और शरीर से पसीना भी काला निकलने लगा। सुबह सफेद कुरता पहनकर दफ्तर जाते तो शाम को लौटते वक्त कुरता काले आलपाका सा दिखाई देने लगता।

हमारे व्यसन को इस प्रकार मर्यादा से बाहर बढ़ा हुआ देखकर हमारे संबंधियों को बड़ी चिंता हुई। सर्वानुमत से ऐसा निश्चय हुआ कि इस व्यसन को छुड़वाने के लिए हमें कोई दूसरी आदत लगायी जाए। उन दिनों कुछ ऐसी धारणा प्रचलित थी कि एक व्यसन से छुटकारा पाने के लिए कोई दूसरी आदत डालना अनिवार्य है। पांडूतात्या के संबंध में इस नियम की सचाई भी एक बार प्रमाणित हो चुकी थी। उन्हें किसी जमाने में बीड़ी पीने का बेहद शौक था। परंतु गांजा पीने की आदत डाली जाने के बाद बीड़ी का व्यसन बिलकुल छूट गया था। अतः मित्रों ने चौसर का शौक लगाने का निश्चय किया। आरंभ में तो पासों के दांव में पौ बारह और नौ दो ग्यारह, छह तीन दो और पांच्चार नौ आदि संख्याशास्त्र के जटिल नियमों का बोलबाला देखकर शतरंज का शौक दूर होना तो दरकिनार, हाथी दांत के काली बूंदों वाले सफेद पासों को देख-देखकर हमें शतरंज की याद और भी अधिक सताने लगी। परंतु इस पर उपाय के रूप में पासों के स्थान पर कौड़ियों की योजना की गई और हमारी गाड़ी धड़ल्ले से चौपड़ के राजमार्ग पर चल निकली।

शीघ्र ही गोटियां, बिसात, पारा भरी हुई कौड़ियां, आदि सामग्री एकत्र करके हमें चौपड़ की विधिवत् दीक्षा दी गई।। चौपड़ के खेल में जब तक दस या

पच्चीस का दांव न पड़े, तब तक के सारे दांव गणेशजी को नैवेद्य के रूप में अर्पित करने की प्रथा है। संकट के समय स्वर्ग के देवता भक्त की रक्षा के लिए दौड़े आते हैं इस बात का जितना परिचय चौसर के खेल से मिलता है उतना शायद अन्यत्र नहीं। आज तक विविध देशों के खिलाड़ियों द्वारा देवता को अर्पण किए हुए इन आरंभिक दांवों का जोड़ लगाया जाए तो संख्या बेशक करोड़ों में पहुंच जाएगी। इन भक्तों में सभी स्वार्थपरायण होते हैं और आरंभ के मजबूरन देने पड़ने वाले दांवों के अतिरिक्त देवता को कुछ नहीं देते, यह मानने का कोई कारण नहीं। मुझे जब-जब लगातार तीन बार दस या पचीस का दांव पड़ता तब मैं बड़े भक्तिभाव से इनमें से एक दांव देवता को समर्पित करने का प्रस्ताव रखता। पर कलियुग के लोग इतने नास्तिक हो गये हैं कि अन्य खिलाड़ी मुझे ऐसा करने न देते। और असूया से तीनों दांवों को जला हुआ या खारिज घोषित कर देते।

अन्य खेलों की तरह चौसर में भी मेरे हाथ को यश कम ही मिला। मेरा दांव लगता ही न हो, सो बात नहीं। बात सिर्फ इतनी थी कि जब जिस दांव की जरूरत होती, तब वह कभी नहीं पड़ता था। गोटों को बिसात पर बिठाने के लिए और उनकी प्रगति साधने के लिए आरंभ में पचीस, छत्तीस आदि भारी दांवों की जरूरत पड़ती है। उस समय मेरे दो या तीन पड़ते। इसके बाद हमारी गोटें जब पक जातीं और उन्हें घर में जाने के लिए दो-चार ही की जरूरत होती, या विपक्षियों की पकी हुई गोटों को मारने के लिए दो या तीन की आवश्यकता होती तब मेरे हाथों दस या पचीस की आतिशबाजी शुरू हो जाती। संतोष की बात सिर्फ इतनी थी कि इतनी मेहनत से खड़ी हुई बुर्जियां टूट न पड़ें इसलिए बीच-बीच में कभी-कभी छह या बारह का सहारा मिल जाता था।

मनचाहा दांव पड़ने के लिए मैंने तरह-तरह के टोने-टोटके भी आजमाये। दस की आवश्यकता होने पर सड़क पर जाकर हाथों में मिट्टी मल आता। पचीस का दांव चाहिए तब मुट्ठी में कोड़ियों को जमाकर धीरे से छोड़ता। दो या तीन की आवश्यकता होने पर उन्हें दोनों हाथों से खनखनाकर दूर तक फेंकता। तीन या चार की जरूरत पड़ने पर कौड़ियां फेंकते समय हथेली को उनके नीचे से धीरे से सरका लेता। परंतु ये सारी तरकीबें अकसर नाकामयाब रहतीं। मन में साधा हुआ दांव कभी पड़ता न हो, सो बात भी नहीं। घर गिनने में मुझसे भूल हुई हो, तब अदबदाकर वांछित दांव पड़ता। परंतु शीघ्र ही आवश्यकता से एक कम

या एक अधिक प्रमाणित होकर मेरे ऊपर आई हुई खुशी से पागल होने की आपत्ति टल जाती।

दांव लाने में मेरी ऐसी स्वतंत्र वृत्ति देखकर अन्य खिलाड़ी मुझे अपना साथी बनाने में पहले प्रच्छन्न रूप से और बाद में खुल्लमखुल्ला कतराने लगे। होमर का जन्मस्थान होने का गौरव प्राप्त करने के लिए यूनान के शहरों में जिस प्रकार आपसी युद्ध होते रहते थे उसी प्रकार मुझे अपना साथी बनाना टालने के लिए हमारी मित्रमंडली में वादविवाद होने लगे। एक बार तो इस बात को लेकर इतना जोरदार झगड़ा हुआ कि हमारा पक्ष अपनी पकी हुई गोटियां और विरोधी पक्ष अपनी सोयी हुई गोटियां एक-दूसरे पर फेंकने लगा। विपक्षियों की एक गोट बावली होकर मार्ग में मिलने वाली हर गोट का संहार करती हुई भूत की तरह उल्टे पांवों संचार कर रही थी। उसे हाथ में लेने वाले खिलाड़ी के मन पर तो तुरंत पिशाच सवार हो गया। उसे शांत करने के काम में दो या तीन के स्वल्प चढ़ावे के कारण रूठे हुए गणेशजी भी कोई सहायता करने को तैयार नहीं हुए। मेरे कारण होने वाले इस अनर्थ को देखकर मैंने जीवन मैं फिर कभी कौड़ियों को हाथ भी न लगाने की प्रतिज्ञा की। खेल के अलावा अन्य किसी काम के लिए कौड़ियां हाथ में लेनी पड़ें तो इस प्रतिज्ञा का भंग नहीं होगा, यह यहीं पर स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

इसके बाद हमने ताश खेलना शुरू करके राजा-रानियों की जोड़ियां जमाने में मन लगाया। शीघ्र ही मालूम दिया कि जितना वैविध्य ताश के खेलों में है उतना अन्य किसी खेल में उसके उपकरणों की विविधता के बावजूद भी नहीं। कभी-कभी पत्तों का गत्ता खुरदुरा और रुक्ष होने पर भी वे एक-दूसरे के सहवास से दूर होना नहीं चाहते जबकि कभी-कभी अत्यंत स्निग्ध और चिकने होने पर भी वे एक-दूसरे के साथ रहना नहीं चाहते और बर्फ पर फिसलने वाले आदमी की तरह हाथ लगाते ही फिसलने लगते हैं। कुछ की पीठ पर की नक्काशी सादी और सफाईदार होती है जबकि कुछ का पृष्ठभाग कोड़ों से पिटी हुई पीठ पर उठने वाले निशानों की तरह बेतरतीब और ऊबड़-खाबड़ होता है। कुछ ताशों की किनारी सुनहरी होती है तो कुछ की सादी सफेद। कुछ की पीठ पर की चित्रकारी इतनी सुंदर होती है कि उन्हें चलना आवश्यक होने पर भी उन्हें फेंकने को जी नहीं चाहता जबकि कुछ के चित्र इतने बदसूरत होते हैं कि उन्हें हाथ में

रखना अच्छा नहीं लगता और खेल की दृष्टि से हानिप्रद होने पर भी उन्हें फेंक दिया जाता है। तस्वीर वाले पत्तों में स्त्री-पुरुषों के मुंह तो दो-दो होते हैं पर पांवों का पता नहीं लगता। इन बिना पांवों के दुमुंहे पत्तों को देखकर पहले तो मुझे डर लगता था। उनकी वेशभूषा भी बहुत विचित्र होती। कुछ का पहनावा महाराष्ट्री तो कुछ का मद्रासी। कुछ मलयाली जैसे तो बाकी मुसलमान या साहबों की जाति के दिखाई देते हैं। पुराणमताभिमानी बंडूनाना तो इन विधर्मी लोगों के चित्रों को डरते-डरते ही हाथ में लेते थे और खेल समाप्त होने पर अभ्यंग स्नान करते थे। इस हालत में किसी विधर्मी बेगम का हिंदू राजा द्वारा अपहरण या हिंदू रानी का परधर्मीय बादशाह द्वारा उड़ाया जाना तो उन्हें अकबर के जमाने में होने वाले अंतर्जातीय विवाहों के जैसा निंदनीय लगता था। नाना के इन सिद्धांतों से विपक्षियों को बहुत फायदा होता था; क्योंकि ऐसा भ्रष्टाचार होता देखने की अपेक्षा वे बाजी हार जाना अधिक पसंद करते थे और असवर्ण राजा-रानी की जोड़ी हाथ में आने पर उनमें से एक को वे आवश्यकता न होने पर भी फेंक देते थे।

इस अनेकविध बाह्य वैचित्र्य के साथ ताश के खेलों का वैविध्य जुड़ने पर तो मन उलझन से भर उठता है। कुछ खेलों में ताश की चार जोड़ियां आवश्यक होती हैं जबकि कुछ में एक से ही काम चल जाता है और कई खेल तो बीस-पचीस पत्तों की सहायता से भी खेले जा सकते हैं। कुछ खेलों में पूरी गड्डी पहले से बंट जाती है जबकि कुछ में आधी गड्डी बांटकर बाकी को बीच में रख दिया जाता है और हर दांव में एक-एक ताश उठाया जाता है। कुछ खेलों में दांयें से बांयें और कुछ में बांयीं ओर से दाहिनी तरफ ताश बंटते हैं। यह सब बातें ध्यान में रखने के लिए काफी अभ्यास की जरूरत पड़ती है। कभी-कभी मेरे मन में विचार आता कि चलो, बांयें हाथ से या पांवों से ताश बांटने का कोई खेल नहीं है, यही गनीमत है। पर कुछ और कहा नहीं जा सकता। कुछ खेलों में शायद यह प्रथा भी शुरू हो जाए। पत्तों के मूल्य या उच्च-नीच भाव में भी अंतर होता है। नहले का स्थान अकसर दहले के नीचे होता है। पर कुछ खेलों में वह इक्के को छोड़कर बाकी सब पत्तों से श्रेष्ठ माना जाता है। बड़े-बड़े मुछंदर बादशाह उसे कोरनिश करते हैं और पर्दानशीन बेगमें उसे मुजरा करती हैं। कुछ खेलों में तुरुप बोलकर किसी एक रंग का महत्व बढ़ा दिया जाता है जबकि कहीं चातुर्वर्ण्य को एक

समान माना जाता है। कुछ खेलों में राजा-रानी जैसे भारी पत्ते आना श्रेस्यकर होता है जबकि कुछ में दुक्की-तिक्की जैसे नगण्य दलितों का होना इष्ट माना जाता है। कुछ खेलों में अधिक वजन के पत्तों द्वारा कम कीमत के पत्तों को जीता जा सकता है जबकि कुछ में अलग-अलग मूल्य के पत्ते जमा कर गुणसंख्या बढ़ाने को महत्व दिया जाता है। कुछ खेलों में हाथ में पत्तों की संख्या कम होना श्रेयस्कर होता है तो कुछ में अधिक-से-अधिक होने पर विजयप्राप्ति होती है। कुछ खेल पत्तों को सामने खुले रखकर खेले जाते हैं तो कुछ में हाथ के पत्तों को अधिक से अधिक गुप्त रखने का महत्व है। कुछ खेलों में एक बार में एक ही ताश चला या उठाया जाता है जबकि कुछ में कई पत्ते एक साथ उठाए या फेंके जा सकते हैं। कुछ खेलों में खिलाड़ियों की जोड़ियां बनती हैं जबकि कुछ में हर खिलाड़ी एकाकी होता है। कुछ में सब खिलाड़ी आखिर तक बने रहते हैं जबकि कुछ में वे एक-एक करके कटते जाते हैं और आखिरी बचने वाले की जीत या हार होती है। एक हाथ चल देने पर कुछ खेलों में चले हुए पत्ते भी उच्छिष्टवत् निर्माल्य हो जाते हैं जबकि कुछ में फेंके हुए पत्ते भी घूरे पर पड़े हुए रत्न की तरह कीमती होते हैं। कई खेलों में एक दांव का दूसरे दांव से कोई संबंध नहीं होता जबकि कुछ में एक दांव का नफा-नुकसान पूर्वसंचित पाप-पुण्य की तरह बाद के दांवों में जुड़ता-घटता रहता है।

ताश के खेलों के प्रकार तो अक्षरशः अनगिनत हैं। कोटपीस और छकड़ी, गुलामचोर और लद्दू, ब्रिज और बिज़िक—कहां तक गिनाया जाय। कोटपीस में एक गधाकोट भी होता है। आरंभ में मेरा खयाल था कि इसमें हारने वालों पर गधे का चमड़ा चढ़ाया जाता होगा। बाद में मालूम हुआ कि उन्हें सिर्फ गधे की पदवी मिलती है। मैंने कई बार हारने वालों के कानों का बड़ी बारीकी से निरीक्षण किया। पर दांव पूरा हो जाने पर भी किसी के कान बढ़े हुए मालूम नहीं दिए। हां, दांव पूरा होने पर सबके सामुदायिक अट्टहास्य में अलबत्ता बहुत से गधों के एक साथ रेंकने का आभास हुआ। तब कहीं मुझे मालूम हुआ कि गधाकोट के सच्चे अर्थ का संबंध गधों की चमड़ी या पदवी के साथ न होकर उनके समुदाय के साथ है।

हारने का जन्मजात वरदान मिला होने का कलंक धो डालने की नीयत से इस खेल में विजय प्राप्त करने की मैंने जी-जान से कोशिश की। भारी

पत्ते पहचानना सरल हो इसलिए मैंने उनकी पीठ पर तरह-तरह के निशान बनाए और खेल में मेरे साझीदार होने वाले पांडूतात्या को उन्हें रटा दिया। परंतु तात्या की मंदबुद्धि के कारण हमें इससे अधिक लाभ नहीं हुआ। शास्त्राज्ञा के अनुसार राजा खेती की उपज के छठे भाग का अधिकारी होता है। अतः मैंने बड़ी चतुराई से चारों बादशाहों की पीठ पर छह का अंक बनाया। रानी उसकी अर्धांगिनी होने के कारण उसकी पीठ पर तीन का अंक लिखा गया। पर उलटा-सीधा हो जाने पर इन 3 और 6 के अंकों में बड़ी गड़बड़ी होने लगी। परिणाम यह निकला कि मेरे हाथ में रानी होने पर भी तात्या राजा के भरोसे हलका पत्ता चलते और उस पर मेरी रानी पड़ते ही विपक्षी खिलाड़ी राजा डालकर उसका अपहरण कर लेता। दहले की पीठ पर मैंने ऊपर से नीचे तक और इक्के के पीछे नीचे से ऊपर तक एक लकीर खींच दी थी। परंतु ऊपर-नीचे का यह मौलिक भेद भी जड़बुद्धि तात्या की समझ में नहीं आया। पत्ता चलने में वे हिमालय जैसी गलतियां करने लगे। ऊपर से यह तर्क अलग कि लकीर चाहे ऊपर से नीचे खींची जाए, चाहे नीचे से ऊपर, दिखाई एक-सी ही देती है ! हार कर यह निशान बनाने की तरकीब भी हमें छोड़ देनी पड़ी और अब सारा दारोमदार चेहरे के हावभाव और मुखमुद्राओं द्वारा इशारे करने पर ही रखा।

यह तरकीब आरंभ में तो बड़ी आसान लगी और कामयाब रही। जीभ बाहर निकाली तो लाल पान; सिर खुजलाने के लिए बालों पर हाथ फेरा तो हुकम; आंख कानी की तो चिड़ी और चुटकी बजाई तो ईंट। मूछों पर ताव दिया तो राजा और नाक की बांयीं ओर उंगली लगायी तो रानी, आदि बुनियादी संकेत हमने निश्चित कर लिए। परंतु इनसे भी विशेष लाभ नहीं हुआ। तात्या के बाल सफेद हो चुके थे; अतः उनके द्वारा बालों पर हाथ फेरा जाने पर भी उससे मुझे काले पान का बोध होने में कठिनाई होने लगी। एक बार मेरा साझीदार एकाक्ष था। इस बेचारे को हमारी यह सांकेतिक भाषा मालूम नहीं थी। फिर भी मैं उसके मुंह की ओर देखकर लगातार चिड़ी के पत्ते चलता रहा। पांडूतात्या एक बार बालाजी की यात्रा में केश विसर्जन करके लौटे। उसके बाद दो महीने तक खूंटियां चुभने के कारण उन्होंने मूछों पर ताव देने का नाम भी नहीं लिया और उनके हाथ में चारों बादशाह होने पर भी मुझे उसकी सूचना मिलनी बंद हो गई। इस हालत में अच्छे पत्ते होने पर भी हम हारने लगे।

संसार के व्यवहार में क्या और खेल में क्या, बेईमानी पर कमर कस लेने से यश की आशा कम ही रहती है।

ताश खेलना शुरू करने से पहले मुझे जिन लोगों का व्यसन था, वे तो सब एक-एक करके छूट गए; पर यह शौक कभी भी मन से उतर सकेगा इसकी आज तक कोई भी संभावना दिखाई नहीं देती। ताश पीसने की तो कुछ ऐसी आदत पड़ गयी है कि खाली बैठे हुए हाथ ताश की गड्डी फेंटने का अभ्यास करते रहते हैं। एक बार तो मैं नींद में चिल्ला उठा था कि 'यह देखो गूलामचोर' !' मेरे इन उद्गारों को सुनकर चोरी करने के लिए आया हुआ चोर रुपयों की थैली वहीं डालकर भाग गया। ताश के खेल से मुझे जीवनभर में कोई लाभ हुआ हो, इसका यह एकमेव उदाहरण है। एक बार मैंने नींद से ऐलान किया कि 'रानी के साथ हमारी जोड़ी रही।' यह सुनकर दूसरे दिन अर्धांगिनी मायके जाने पर उतारू हो गई थी।

इन सब कारणों से अब तो डर लगने लगा है कि इस जिंदगी में तो ताश का शौक छूटता नहीं और मरते दम तक पत्ते हाथ में रहेंगे। शायद जीवनरूपी तमाशे का अंतिम अंक भी ताश खेलते-खेलते ही समाप्त हो। स्वर्गसुख की कल्पना में अमृतपान, अप्सराओं का नृत्य-संगीत, पारिजात की मोहक सुगंध आदि परंपरागत बातें ही प्रधान होती हैं। परंतु मुझे तो अब ऐसा लगने लगा है कि स्वर्ग में यदि ताश का खेल न हुआ, तो शीघ्र ही वहां से मन ऊब जाएगा। इसके विपरीत, ताश के पत्ते और अहोरात्र खेलने वाले खिलाड़ी मिल गए तो अन्य सुखों की कभी याद भी नहीं आएगी। पांडूतात्या के मतानुसार प्याज की पकौड़ियों और लहसुन की चटनी के बिना स्वर्ग सुख फीका रहेगा। इसके विरुद्ध किसी को भला क्या शिकायत हो सकती है। पर मैं ताश के खेल को ही प्राधान्य दूंगा। यह तो अपने-अपने खयाल और अपनी-अपनी पसंद की बात है।

सुख की स्वस्थ कल्पना होने वाले हर सामाजिक मनुष्य में ताश का शौक पाया जाता है। इसलिए यह आशंका करने का कोई कारण ही नहीं है कि स्वर्ग में ताश का शौक प्रचलित न हो। अब यह अलग बात है कि गधाकोट को वहां ऐरावत कोट कहते हों; रानियों के लिए रंभा, उर्वशी, मेनका, तिलोत्तमा जैसे अप्सराओं के नाम हों, और राजाओं की गणना चित्ररथ, अश्वपाल आदि गंधर्वों में होती हो। हो सकता कि ब्रिज को वहां सेतु कहलाते हों और छकड़ी को

षट्पदी। सरपंच (Umpire) का काम इंद्र करते हों और गुणक (Marker) का कार्य बृहस्पति के जिम्मे हो। यह कुछ भी हो, स्वर्ग का विकास और बिना झंझट के अहोरात्र ताश का खेल पाने का अवकाश, ये दो बातें मेरे मन में इतनी अभिन्न और एकरूप हो उठी हैं कि उन्हें अलग मानना इस जन्म में तो मेरे लिए संभव नहीं है।

21. यांत्रिक चमत्कार

विचारशील मनुष्य यदि संसार के व्यवहार की ओर दृष्टिपात करे, तो उसे दिखाई देगा कि प्रतिवर्ष, प्रतिदिन, बल्कि प्रतिक्षण प्रकृति और विज्ञान के बीच एक विराट युद्ध चल रहा है जिसमें विज्ञान प्रकृति के एक-एक क्षेत्र को धीमी पर निश्चित गति से पादाक्रांत करता जा रहा है। ऊसर जमीन को अनेक प्रकार की रासायनिक खादों द्वारा उपजाऊ बनाया जा रहा है और वर्षा न होने वाले क्षेत्रों में बादलों पर रासायनिक द्रव्यों के फव्वारे मारकर कृतिम वृष्टि की जा रही है। और तो और, कल्पनाप्रवण वनस्पति-वैज्ञानिकों ने विविध प्रकार के बीजसंकर और कलम के प्रयोगों द्वारा अनेकविध नये और रंगबिरंगे फूलों और फलों को भी जन्म दिया है।

प्राकृतिक जगत् में होने वाले इन परिवर्तनों का प्रतिबिंब मनुष्य सृष्टि में भी दिखाई देने लगा है। कुरूप स्त्रियों की बदसूरती को छिपाने के लिए और सुंदर स्त्रियों के लावण्य को निखारने के लिए आज नाना प्रकार के सौंदर्य-प्रसाधन उपलब्ध हैं। प्रकृति द्वारा किसी को वृद्ध करार दिया जाने पर भी कलफ और नकली दांतों की बत्तीसी की सहायता से तारुण्य का भ्रम उत्पन्न किया जा सकता है। चंद्रसूर्य के अस्त हो जाने पर भी उनके तेज से स्पर्धा करने वाली गैस या बिजली की बत्तियां रात भर जलाई जा सकती हैं। हजारों मन माल को पीठ पर लादे रेलगाड़ियां वायु-वेग से संचार करती रहती हैं और हजारों मनुष्यों को अपनी सुखद गोद में बिठा कर मोटरगाड़ियां पटरियों की सहायता के बिना उतने ही वेग से देश के कोने-कोने में घूमती रहती हैं। एक तरफ तारयंत्र की सहायता से पृथ्वी के एक सिरे के समाचार पलक झपकते दूसरे छोर तक पहुंच जाते हैं तो दूसरी ओर बेतार के यंत्र द्वारा उससे भी कम समय में दुनिया

भर के संदेश घर बैठ प्राप्त हो सकते हैं। इन साधनों द्वारा मनुष्य की आवाज जहां दूर-दूर तक पहुंचती है, वहां ध्वनियंत्र की सहायता से उसे चिरकाल के लिए मुद्रित भी किया जा सकता है। फोटोग्राफी और सिनेमा की फिल्मों द्वारा मनुष्य के स्वरूप और कृति को भी ज्यों का त्यों अंकित किया जा सकता है और उसे दूर-दूर के प्रदेशों में दिखाने वाले यंत्रों का भी शीघ्र ही आविष्कार होने वाला है। यंत्रों की सहायता से एक ओर जहां लाखों योजन दूर के ग्रह नक्षेत्रों का निकटता से निरीक्षण किया जा सकता है वहां दूसरी ओर वस्तु के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु परमाणुओं को अलग-अलग देखा जा सकता है। यंत्रों ने मनुष्य के लिए समुद्र के उदर में या सतह पर जलचरों की तरह विचरना और हवा में पक्षियों की तरह उड़ना भी सुगम कर दिया है। तात्पर्य यह कि अब तक केवल परमेश्वर के लिए प्रयुक्त 'मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयाते गिरिम्' आदि सामर्थ्यपरक प्रशस्तियों का प्रयोग यांत्रिक चमत्कारों के संदर्भ में भी किया जा सकता है। फर्क सिर्फ इतना है कि परमेश्वर अपने चमत्कारों का उपयोग केवल मनुष्य के कल्याण के लिए करता है जबकि इन यांत्रिक शक्तियों का उपयोग मनुष्यजाति की भलाई या हानि, दोनों क्षेत्रों में किया जाने लगा है। क्षण भर में सैकड़ों के प्राण ले लेने वाली बंदूकें और अपनी एक जम्हाई के साथ हजारों के शरीरों को छिन्न विच्छिन्न कर देने वाली तोपें भी मनुष्य की वैज्ञानिक बुद्धि का ही परिणाम हैं और इस नाते वे पानी के जहाजों और रेलगाड़ियों की सगी बहनें सिद्ध होती हैं। एक वर्ग की बहनें मनुष्य को इस धरती के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में पहुंचाती हैं तो उनकी दूसरे वर्ग की सहोदराएं उसे इस दुनिया से दूसरी दुनिया में पहुंचाने में सहायक होती हैं। उनका यह आपसी भेद लक्ष्मी और अवलक्ष्मी इन सगी बहनों के बीच के अंतर से मिलता-जुलता है।

सजीव प्राणियों की अपेक्षा यंत्रों में सिर्फ सामर्थ्य ही अधिक हो यह बात नहीं। एक बार उनके अवयवों और रचना-सिद्धांतों का सूक्ष्म ज्ञान हो जाने पर उनका अचूक और सक्षम रूप से लगातार उपयोग किया जा सकता है। इसके विपरीत, मनुष्य या अन्य सजीव प्राणियों से काम लेना हो, तो वह बहुत अधिक हद तक उनकी इच्छा-अनिच्छा और पसंद-नापसंद पर निर्भर करता है। साथ ही ईमानदारी का तत्व भी उपेक्षणीय नहीं। मालगाड़ी में गल्ले के हजारों बोरे भरे जाते हैं; पर रेल के डिब्बे द्वारा उनमें से एक के भी हजम किए जाने की कोई

मिसाल नहीं मिलती। पर नौकर को भेजकर बाजार से दर्जन भर आम मंगवाए जाएं, तो दो-तीन गायब हुए बिना नहीं रहेंगे। ग्रामोफोन को एक बार चाभी घुमाकर शुरू कर दिया जाए, तो गाना या भाषण पूरा होने से पहले वह शायद ही रुकेगा। पर किसी गवैये को गाने के लिए कहें तो घंटों तक पहले उसके तानपूरे का और बाद में उसके गले का स्वर के साथ मेल ही नहीं बैठेगा। इसी प्रकार बोलने वाली मशीन की सुई हटा देते ही वह तुरंत शांत हो जाएगी; परंतु श्रीमतीजी यदि एक बार बोलना शुरू कर दें, तो उन्हें चुप कर सकने वाली करामात की ईजाद प्रकृति ने अभी तक नहीं की। किसी महत्वपूर्ण अभिनेता-अभिनेत्री के रूठ बैठने पर नाटक स्थगित करने के प्रसंग तो आये दिन होते रहते हैं। कभी यह रुकावट उनकी अनिच्छा के कारण खड़ी होती है तो कभी बाल की खाल निकालने की उनकी बेजा हरकतों के कारण। इसी प्रकार बोलने के लिए खड़ा होने वाला वक्ता अकसर यह भूल जाता है कि श्रोताओं के समय और सहनशक्ति की भी कोई सीमा होती है और उसके बाद अन्य लोगों के भाषण भी होने वाले हैं। इन सब प्रसंगों पर यंत्रों की श्रेष्ठता का अनुभव बड़ी उत्कटता से होता है।

अड़ियलपन के क्षेत्र में जब मनुष्यों की यह हालत है, तो जानवरों की तो बात ही मत पूछिये। एक बार मुझे पास के किसी शहर में जाना था। मोटर या अन्य कोई सवारी रखने की तो मेरी हैसियत नहीं है और रेल वहां जाती नहीं थी। एक आदमी के लिए पूरी बैलगाड़ी जुतवाने में भी कोई तुक नहीं थी। अतः मैंने एक घोड़ा किराये पर मंगवा लिया और उस पर बैठकर प्रयाण किया। मैं शहसवार होने का दावा नहीं करता; पर घुड़सवारी में बिलकुल ही अनाड़ी हूं, ऐसी बात भी नहीं। घोड़ा सीधा हो, मंद गति से नाक की सीध में चलता रहे, और सड़क ऊबड़-खाबड़ न हो, तो कोई शर्त बद कर यह नहीं कह सकता कि मैं नीचे गिर जाऊंगा। लेकिन उस रोज जो जानवर मेरे भाग्य में बदा था, वह तो तीन लोक से न्यारा था। कुछ दूर तक तो उसने ऐसी सधी हुई चाल रखी कि मुझे विश्वास हो गया कि ऊंघते हुए बैठा रहा तो भी गंतव्य स्थान पर पहुंच जाऊंगा। इस विचार से शरीर में कुछ स्फूर्ति आई और उसी आवेश में घोड़े को यह दिखाने के लिए कि उसका सवार बिलकुल ही गावदी नहीं है, मैंने हाथ में की छड़ी उसकी पीठ से छुआ भर दी। बस, अब तो कहर हो गया। छड़ी घुमाते ही उस

पाजी जानवर ने जो छलांग लगाई उससे वैसे तो मैं धराशायी हो गया होता, पर सौभाग्य से उसकी लगाम मेरे हाथ में आ गई और उसे पकड़कर मैंने जैसे-तैसे आसन जमाये रखा। पर अब उस भाड़े के टट्टू पर मुझे बिलकुल विश्वास न रहा। कब वह मुझे गिराकर मेरे ऊपर सवार हो जाएगा, इसका कोई भरोसा नहीं था। मैंने दो-एक बार इधर-उधर ताका कि मेरी इस फजीहत को कोई देख तो नहीं रहा; और इसकी खातिरजमा होते ही घोड़े को काबू में लाने के दांव-पेंच सोचने लगा। छड़ी का दोबारा प्रयोग करके उसकी सहनशीलता की परीक्षा करने का इरादा तो बिलकुल नहीं था क्योंकि इसके परिणाम को एक बार भुगत चुका था।

अब उस दुष्ट ने मेरी शहसवारी की कसौटी करने के बजाय उलटे पांवों एक-एक डग पीछे हटना शुरू कर दिया था। उसके इस पलायनवाद को देखकर मेरा उत्साह दुगुना हो उठा; पर केवल उत्साह से संसार में किसी का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। मेरे निश्चय मात्र से उसकी यह अवगति थोड़े ही रुकने वाली थी। आखिर उस पर अपनी धाक जमाने का प्रयत्न करने के बजाय मैंने 'बनिया मूंछ नीची' के सिद्धांतानुसार खुद ही झुक जाने का निश्चय किया। मानसिक रूप से न झुकता तो शारीरिक स्तर पर धराशायी होने का खतरा प्रबल था। अतः इस संकट से बचने के लिए मैंने देवताओं को भी प्रिय लगने वाले उपाय का अवलंबन किया। घोड़े को उच्चैःश्रवा, श्यामकण, पंचकल्याण आदि संस्कृत और चेतक, मोती, शेरू आदि प्राकृत नामाभिधानों से संबोधित करके खुश करने की कोशिश की। परंतु इनमें से एक भी मधुर शब्द उसके लंबे कानों में प्रवेश नहीं कर सका। बड़ी समस्या खड़ी हो गई कि अब क्या किया जाए। इस प्रकार उलटी गति से घर वापस पहुंच जाने में भी कोई तुक नहीं थी। फिर इस बात का भी क्या भरोसा था कि वह बेमुरव्वत और अड़ियल जानवर वहां पहुंचकर रुक ही जाएगा। उसकी मर्जी हुई तो वह दो-चार गांव पीछे जाकर रुकेगा या लहर आई तो मेरा जुलूस निकालता हुआ पृथ्वी-प्रदीक्षणा पर रवाना हो जाएगा। अब मुझे सचमुच ही डर लगने लगा। इस प्रकार की उलटी यात्रा खतरों से खाली नहीं होती। हमारे कस्बे के चौराहे पर जो बड़ा कुआं है, न तो उसे देख पाने की दिव्यदृष्टि उस अड़ियल प्राणी की पूंछ में थी, न उससे कतरा कर निकल जाने की बुद्धि उसकी उलटी खोपड़ी में। कुआं रास्ते में आ रहा है या नहीं इसकी मैं

पीछे देखकर खातिरजमा भी नहीं कर सकता था क्योंकि गर्दन मोड़कर देखते ही घोड़े पर से पकड़ ढीली हो जाती और इस हालत में मेरे स्थानभ्रष्ट हो जाने की संभावना ही नहीं, पूरा निश्चय था। आखिर उलटे पांव घर वापस पहुंचने की अपेक्षा उसी गति से इच्छित स्थान पर पहुंचना अधिक श्रेयस्कर मानकर मैंने बड़ी चालाकी से घोड़े का मुंह घर की दिशा में मोड़ दिया। उस मंदबुद्धि की समझ में मेरी यह युक्ति नहीं आई और उसने अड़ियलपन से पीछे हटना जारी रखा। राम-राम करके कई घंटों में मैं गंतव्य स्थान पर पहुंचा। उस दिन से किसी सजीव पशु के चंगुल में प्राणों को फंसाने के बजाय सड़क कूटने के स्टीम रोलर में यात्रा करना मैं बेहतर मानने लगा हूं। चाहने पर इंजन भी पीछे की ओर उलटा चल सकता है यह माना; पर कम से कम उसका नियंत्रण तो अपने हाथों में रहता है।

पंच-महाभूतों का नियंत्रण करने में केवल पंचेंद्रियों द्वारा होने वाले काम ही यंत्रों की सहायता से हो सकते हैं ऐसी बात भी नहीं। कुछ यंत्र तो बुद्धिजन्य काम भी कर सकते हैं। जोड़ और हिसाब लगाने वाली मशीनें बड़ी दूकानों में सबने देखी होंगी। सही बटे के चक्कर में पड़कर हिसाब की गलती मनुष्य कर सकता है, ये मशीनें नहीं।

कुछ दिनों बाद कविता लिखने की भी मशीन मिलने लग जाए, तो बड़ी बहार हो। एक बक्से में एक तरफ से कोश के सारे शब्द डाल दिए जाएं और फिर शृंगार, करुणादि विभिन्न रसों पर सुई रख कर छंदानुसार हैंडिल घुमाते ही टपाटप कविता टपकने लगे। इसमें सिर्फ एक बात का ध्यान रखना पड़ेगा। मशीन में शब्दरूपी कच्चा माल भरते समय कमल और चंद्र, प्रणय और विरह, पुष्प और लता, कोयल और चकोर, अमृत और अधरामृत आदि संस्कृत की ललित-मधुर पदावली एवम् दिल और दुनिया, जुल्म और जमाना, मय और मुहब्बत, शमा और परवाना आदि अरबी-फारसी के दिलकश शब्दों की रसद कुछ अधिक मात्रा में डालनी पड़ेगी। एक और सावधानी बरतनी होगी। व्यवहार के साधारण शब्दों का कविता के संदर्भ में लोकप्रचलित अर्थ नहीं होता बल्कि जो आशय कवि को अभिप्रेत हो, वही होता है। इसका स्पष्टीकरण करने वाली टिप्पणियां तैयार कविता में स्थान-स्थान पर जोड़नी पड़ेंगी। इतनी योजना कर देने के बाद फिर कविता की ओर देखने की भी जरूरत नहीं पड़ेगी। आलोचक अपनी-अपनी

क्षमतानुसार अर्थ उसमें से निकालते रहेंगे और सर फोड़ते रहेंगे।

मस्तिष्क में उठने वाले विचार एक बार शब्दों द्वारा कागज पर व्यक्त हो जाएं तो उनकी हजारों प्रतियां छाप देने वाले यंत्र आज भी विद्यमान हैं। इस हालत में यंत्रकला के लिए यह बड़ी लज्जास्पद बात है कि यंत्र का पट्टा मनुष्य के सिर से लपेट कर हैंडिल घुमाते ही उसके उस समय के विचारों और मनोविकारों के अनुरूप शब्द कागज पर छाप देने वाली मशीन की ईजाद अबतक नहीं हुई। इसी प्रकार मनुष्य की आवाज को सैकड़ों गुना बढ़ा देने वाले लाउड-स्पीकरों का अस्तित्व वर्षों से होने पर भी उसके मन में उठने वाले विचारों को शब्द रूप देकर उन्हें हजारों लोगों को सीधे सुना देने वाला कोई भोंपू अब तक तैयार नहीं हुआ। पर यह भी यंत्रकला के लिए चुनौती वाली बात नहीं है।

यंत्रों ने हमारी बड़ी-बड़ी अड़चनें दूर कर दी हैं। इसमें कोई संदर्भ नहीं; परंतु छोटी-मोटी असुविधाओं की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। यंत्रों का मुख्य काम होता है वृथा परिश्रम से मनुष्य को बचाना। अब तक दूर की यात्रा और मनों वजन की भारी चीजें ढोने के क्षेत्र में श्रम का परिहार हो चुका है। परंतु भोजन के बाद टहलना, छोटे बच्चों को गोद में उठाना आदि छोटी-मोटी बातों में पड़ने वाले श्रम की ओर किसी का ध्यान नहीं गया और न उससे बचने के लिए किसी यंत्र का आविष्कार हुआ। दूर की यात्रा तो सामान्य मनुष्य वर्ष में एकाध बार ही करता है। परंतु भोजनोपरांत टहलने की आवश्यकता दिन में दो बार पड़ती है। इसी प्रकार टनों वजन ढोने का प्रसंग साधारण मनुष्य के जीवन में शायद ही कभी आता हो; जबकि बच्चे को गोद में उठाने का काम दिन में कई बार करना पड़ता है। ये बातें दिखती तो हैं छोटी और क्षुद्र; पर उनमें खर्च होने वाली शक्ति का जोड़ लगाया जाए तो वे भयावह हो उठती हैं। उदाहरण के तौर पर रोज सुबह उठकर करनी पड़ने वाली दांत माजने की कवायद को ही ले लीजिए। दांत साफ करने की मशीन के अभाव में न मालूम कितनों के दांत सड़ रहे होंगे। होंठों को खुला रखकर दांतों पर मंजन लगा हुआ ब्रश फेरने का यंत्र उपलब्ध होते ही सड़े हुए दांत दंतकथा का विषय हो जाएंगे। इसी प्रकार जम्हाई आते समय मुंह को हथेली से ढांपना, डकार लेते समय मुंह को एक तरफ फेरना और छींकते समय नाक के मालमसाले का सामने बैठे हुए लोगों पर अभिषेक न करते हुए नाक और मुंह को रूमाल से ढक लेना आदि

कई छोटी-मोटी क्रियाएं ऐसी हैं जिनपर अमल न करने से मनुष्य पर व्यवहार मूढ़ता ता बदतहजीबी का आरोप लग सकता है। इन सब कामों में सुबह से शाम तक मनुष्य की बहुत शक्ति नष्ट होती है। अब जरा सोचिए कि इनमें की प्रत्येक क्रिया के लिए यदि उपयुक्त यंत्र का आविष्कार हो जाए, तो हमें कितना आराम रहेगा और औरों की कितनी परेशानी बच जाएगी।

इसी प्रकार हमारे धार्मिक अनुष्ठानों में सव्यापसव्य, वैश्वदेव आदि विशुद्ध यांत्रिक स्वरूप की जो विधियां हैं उन्हें तो यंत्रों की सहायता से करना ही उचित रहेगा। मंत्रोच्चारण क़ा ढोंग सच्चा मालूम देने के लिए यह आवश्यक है कि होंठों की हलचल होती रहे। बगल में एक यंत्र दबा कर उसके तार होंठों से जोड़ देने पर यह काम आसानी से हो सकता है। दावत-ज्योनारों में प्रत्येक निमंत्रित की पत्तल के सामने खड़े होकर रोनी सूरत पर कृत्रिम मुस्कान लाकर उनसे अधिक खाने का आग्रह मेजमान को करना ही पड़ता है। बिना कहे ही ठूंसपेट भकोसने वाले बकासुरों से अधिक खाने का आग्रह करना विशुद्ध यांत्रिक रस्म के सिवा और क्या है? इसलिए ऐसे प्रसंगों पर चेहरे पर नकली मुस्कराहट लाकर तकल्लुफ के शब्द दोहराने वाला यंत्र बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार हम जब कभी कार्यवश किसी दूसरे शहर में जाते हैं, तो वहां के परिचित-संबंधी रास्ते में मिलने पर दांत निपोरते हुए बड़ी आस्था से पूछते हैं कि 'कहां ठहरे हो?' यह महज एक औपचारिक प्रश्न होता है जिसका प्रधान हेतु आप जहां ठहरे हो, उस पूरे मुहल्ले को टालने का होता है। आप प्रतिप्रश्न करते हैं, 'घर पर कब मिलोगे?' इसके उत्तर में वे आपको नितांत असुविधाजनक होने वाला कोई अनिश्चित समय बता देते हैं। इसके पीछे यह योजना होती है कि उस समय वे निश्चित रूप से कहीं घूमने निकल जाएंगे और घर पर नहीं मिलेंगे। इन प्रश्नोत्तरों के समय उनके चेहरे पर आपको निमंत्रित करने की नकली आतुरता और आपको टाल देने के असली संतोष के जो भाव झलकते हैं उन्हें व्यक्त करने के लिए भी उपरोक्त यांत्रिक उपकरण बड़ा प्रभावी सिद्ध हो सकता है। हमारे यहां गमी के मौकों पर किराये पर रोने वाली और छाती पीटने वाली स्त्रियां बुलाई जाती हैं। उनके विसूरने और मातम मनाने के नाटक में भी यह यंत्र अमूल्य सहायता पहुंचा सकता है।

परंतु इन सबसे अधिक आवश्यकता है पैदल चलने के यंत्र की। बस, मशीन

की रकाबों में पांव रख दीजिए और वे अपने-आप आगे-पीछे होने लगें ! दायें-बायें मोड़ने की कल इस यंत्र में लगाना परमावश्यक है। वरना वह अपने संचालक के प्राणों की परवाह किए बिना बेधड़क किसी कूएं-खाई की दिशा में चलता चला जाएगा। इसी प्रकार उसके धारक को उसे बंद करने की कला भी अवगत होनी चाहिए। अन्यथा एक बार घर से निकलने पर पूरी पृथ्वी-प्रदक्षिणा के बाद ही वापस घर पहुंचा जा सकेगा। घर बैठे व्यायाम करने की अनेक मशीनें तो आज भी उपलब्ध हैं। परंतु उनमें से एक भी घर के घर में एक जगह खड़े-खड़े या लेटे-लेटे चलने के लिए उपयोगी नहीं होती।

व्यायाम के लिए साफ और खुली हवा अनिवार्य मानी जाती है। इसका आयोजन तो और भी आसानी से हो सकता है। भीतर की ओर खुलने वाले अंतर्मुख परदे (Valves) लगी हुई दो नलियां स्वच्छ और खुली हवा के प्रदेश से लगाकर घर में छोड़नी चाहिए और बहिर्मुख परदे वाली दो नलियां घर से लगाकर बाहर के गंदे और घुटन भरे भागों में छोड़ देना चाहिए। सांस लेते समय पहली नलियों को और छोड़ते समय दूसरी जोड़ी को नाक के छेदों के सामने रख लिया कि छुट्टी। इसमें आरंभ में कुछ अभ्यास की आवश्यकता पड़ेगी और श्वासक्रिया प्रणायाम की तरह नियमित अंतर से करनी पड़ेगी। सांस खींचते और छोड़ते समय नलियों को निरंतर बदलते रहना भी नितांत आवश्यक होगा। अन्यथा साफ और ताजी हवा के बदले गंदी और घुटी हुई हवा पल्ले पड़ेगी। इन बुनियादी मशीनों का आविष्कार हो जाने के बाद उत्क्रांति के नियमानुसार कुछ ऐसे यंत्र भी बनाए जा सकते हैं जिनके माध्यम से व्यायाम एक व्यक्ति करे, तो अन्नपचन दूसरे का हो; ताजी हवा का सेवन कोई करे, तो उससे रक्तशुद्धि किसी दूसरे की हो। इन यंत्रों के उपलब्ध हो जाने पर मनुष्य की स्वार्थबुद्धि का लोप होकर मानवजाति का बड़ा कल्याण हो सकता है। अफसोस सिर्फ इस बात का है कि हमारे जीवनकाल में इस प्रकार के प्रगतिशील यंत्रों की ईजाद होना असंभव ही मालूम देता है।

इन सब छोटे-मोटे यंत्रों के अलावा एक और यंत्र, जिसका आविष्कार होना आजकल परमावश्यक हो गया है, वह है रसोई बनाने की मशीन। आजकल रसोइयों के दिमाग सातवें आसमान पर चढ़ गये हैं। दस-दस बारह-बारह रुपये तनख्वाह देने पर भी रसोइये मिलते नहीं हैं और उनके चोचले और नखरे अलग से सहन करने

पड़ते हैं उनकी शर्तों के सामने तो सिविल-सर्विस की नियमावलि भी कुछ नहीं। पानी नहीं भरेंगे, थालियां नहीं लगाएंगे, परोसेंगे नहीं,चौका नहीं धोएंगे, चाय नहीं बनाएंगे, (पर दोनों समय पियेंगे जरूर) ; बुधवार और शनिवार की रात को नाटक देखने जाएंगे इसलिए उन दिनों शाम का खाना छह बजने से पहले समाप्त हो जाना चाहिए; पिछली रात के जागरण की थकान उतारने के लिए गुरुवार और रविवार को दोपहर की नागा रहेगी ; नाई, धोबी आदि का खर्च आपको देना होगा ; घी कम खर्च करने की कोई खटखट नहीं सुनेंगे इत्यादि प्राथमिक शर्तों पर छुटकारा हो जाए तो अपने आपको भाग्यवान समझना चाहिए क्योंकि हर साल इन शर्तों में नये-नये प्रस्ताव जुड़ते जा रहे हैं। बारह रुपये वेतन लेकर दिन भर लोट लगाने वाले इन सीनाजोरों ने अब तक मालिक से पांव दबवाने की शर्त नहीं रखी यही बड़े भाग्य की बात है। ये सारी शर्तें, मुंहमांगी तनख्वाह और ऊपर का सारा खर्च कबूल कर लेने से ही गृहस्वामी का छुटकारा हो जाता हो, सो बात भी नहीं। यहां से तो मालिक की दुर्दशा का आरंभ मात्र होता है। बल्लभाचार्यजी के झक्की स्वभाव का अनुभव तो इसके बाद ही होता है। किसी दिन चावल कंजी की तरह लिबलिबे हो जाएंगे तो किसी दिन कंकड़ियों की तरह कटकटे रह जाएंगे। भात कभी कच्चा रह जाएगा तो कभी नीचे से भगौना जल जाएगा। सब्जी दोपहर को नमक के मारे जहर हो गई होगी तो शाम को बिलकुल अलोनी रह जाएगी। फुलके कभी कच्चे रहकर पेचिश उत्पन्न करेंगे तो कभी जलकर कोयला हो जाएंगे। कोयले के ये कण दांतों में अटके रहकर कुल्ला करते समय दांतों की सफाई में सहायक हों, इससे अधिक उनका कोई उपयोग नहीं। कभी चाय नमकीन हो जाएगी तो दाल मीठी होगी और कभी सब्जी में केशर पड़ी होगी तो खीर में हींग। इस प्रकार पाक साहित्य के अनेकविध वैचित्र्य के साथ वल्लभाचार्य महाराज की कल्पनाओं का मेल होकर जो देवदुर्लभ पदार्थ तैयार होंगे उनमें छौंक के तौर पर मकड़ी के जाले, मक्खियां, तिलचट्टे और यदाकदा छिपकलियों का भी प्रयोग हो सकता है। इन सबके साथ रसोइया महाराज के मुंह से टपकने वाली तमाखूमिश्रित लार का योग होकर जिस अलौकिक रसायन की निष्पत्ति होगी वह स्वानुभव के बिना समझ में आने वाली बात नहीं।

यह तो हुई भोजन के पदार्थों की बात ! रसोइया महाराज जो मुकटानामक

रेशमी गमछा लपेटते हैं, वह भी उनकी अब तक की परिपाटी को शोभा देने वाला होता है। उसने कई गर्मियों का पसीना और कई बरसातों का कीचड़ पचाया हुआ होता है। रूमाल के अभाव में घी-तेल और मिर्च-मसाले के हाथ भी उसी से पोंछे जाते हैं। रसोइयाजी को जुकाम हो रहा हो तो नाक भी उसी में सिनकने का समस्त बल्लभकुल का रिवाज होने के कारण और पान-चूना-तमाखू के साथ उसका घनिष्ठ संबंध होने के कारण उसमें शारीरिक द्रव्यों की अनेकविध गंधों के साथ तेली-तमोली की दुकानों की समस्त गंधों का जो दुग्धशर्करा योग होता है उसका जोड़ अन्यत्र नहीं मिल सकता। अपनी नरकयात्रा टालने के हेतु से रसोइयाजी द्वारा धारण किया जाने वाला यह पीतांबर नामक मटमैला मलिनांबर दूसरों को जीतेजी नरकवास का अनुभव करा देता है। यह वस्त्रविशेष प्राय: बहुत झिरझिरा और छोटा होता है यह गृहस्वामी के लिए बड़ी हितकर बात है। वह कहीं लंबाचौड़ा होता तो उसे धारण करने वाले के हाथ का भोजन करने वाले हर आदमी को हैजा हुए बिना न रहता।

उपरोक्त गुणविशेष गमछे को कमर से लपेट कर उपयुक्त पदार्थों को परोसने के लिए बल्लभाचार्यजी महाराज की सवारी गांजे से लाल हुई आंखें तरेरते हुए सामने आती है तब कहीं गृहस्वामी को इतना वेतन कबूल करने के बाद प्राप्त होने वाली सेवा का साक्षात्कार होता है। रही-सही कसर वे परोसते समय पूरी कर देते हैं। भोजन परोसने को वे गृहस्वामी की कई पीढ़ियों पर किया जाने वाला एहसान समझाते हैं। कोई चीज दोबारा मांगी जाए, तो दाल की कटोरी में अचार और खीर के कटोरे में चटनी परोसी जाएगी। शक्कर मांगिए तो नमक का आग्रह होगा और रबड़ी मांगने पर करेले की सब्जी का गुणगान किया जाएगा। कभी-कभी मिष्ठान्न व्यंजन परोसना वे आखिर तक भूल जाते हैं तो कभी रसेदार सब्जी परोसते समय चौकड़ा उनके हाथ से फिसल जाता है। इस स्थिति में भोजन की सामग्री का आस्वाद खाने वाले की जीभ को छोड़कर बाकी सारे अंगों को ही नहीं बल्कि धोती-कुरते को भी मिल जाता है। कभी-कभी परोसते समय पैर फिसल जाने के कारण पाकशास्त्रीजी की बड़े जतन से कमाई हुई काया किसी भाग्यवान मेहमान की गोद में विराजमान हो सकती है। अब आप समझ गये होंगे कि इन सारी परेशानियों से बचने के लिए रसोई बनाने और परोसने के यंत्र की इज़ाद कितनी आवश्यक हो उठी है। वैज्ञानिक बुद्धि

वाले कल्पनाप्रवण नौजवानों के मार्गदर्शन के लिए उसके संभाव्य कार्यक्षेत्र की रूपरेखा यहां संक्षेप में दी जाती है :—

सबसे पहले तो परचूनिया, पंसारी, तेली, कुंजड़े आदि की दूकानों से लगाकर रसोईघर तक विभिन्न प्रकार की नलियां लगवानी चाहिए। इस व्यवस्था में व्यापारी लोग माल उधार देने के लिए तैयार नहीं होंगे। अतः बहिर्मुख परदे वाली एक छोटी नलीका गृहस्वामी के कोट की जेब से लगाकर व्यापारियों की दूकानों तक लगनी चाहिए। बटन दबाते ही एक ओर दूकानों से कच्ची सामग्री पटापट नलियों में डलने लगेगी और दूसरी ओर आपकी जेब का रुपया व्यापारियों के गल्ले में पड़ता रहेगा। नलियों की रचना इस प्रकार हो कि इन लंबी सुरंगों से यात्रा करके घर पहुंचने तक सारी सामग्री रसोई के लिए उपयुक्त स्वरूप प्राप्त करले। उदाहरणार्थ चावलों की छड़ाई और गेहूं की पिसाई नलियों में ही हो जानी चाहिये। दाल-चावल के कंकड़ भी वहीं बिन जाने चाहिए। सब्जियां छिलकर और कटकर तैयार हो जानी चाहिए। इसी प्रकार मसाले भी वहीं पिस जाएं और उनका योग अनुपात में मिश्रण भी नलियों में ही हो जाए। यह सारी सामग्री रसोईघर में पहुंचते ही पंपों की सहायता से विभिन्न बर्तनों में जा गिरे ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये। इसके बाद आवश्यकतानुसार विभिन्न पदार्थों का मथना, मसलना, तलना, छौंकना, भूनना आदि प्रक्रियाएं आरंभ हों। परंतु ये सारे उपस्कार मनुष्य की सहायता के बिना हो सकें ऐसी व्यवस्था होना अत्यंत आवश्यक है। तात्पर्य यह कि बटन दबाते ही जेब का भार कुछ हलका होकर संपूर्ण रसोई परोसे हुए थाल के रूप में तैयार हो जानी चाहिए। अन्यथा इस सारे खटाटोप का कोई मतलब नहीं रहेगा। यंत्र की नलियां खाने वाले के मुंह तक पहुंचाई जा सकें तब तो बड़ी बहार हो। परोसने का सारा झंझट ही बच जाए। बिस्तर पर पड़े-पड़े तैयार व्यंजन मुंह में पड़ने लगें और खाने वाले के लिए पेट पर से धोती की पकड़ ढीली करने के अलावा और कोई काम ही न बचे। यह आखिरी सुविधा अभी कुछ समय के लिए उपलब्ध न भी हो, तो फिलहाल उसके बिना भी काम चल सकता है।

इस अत्यंत उपयुक्त पर जटिल यंत्र के विभिन्न अंगों की और भी अधिक ब्योरेवार जानकारी पाठकों को दी जा सकती थी। परंतु एक तो हमारे विज्ञान ने अभी उतनी प्रगति नहीं की है इस कारण से और दूसरे मुझे एक मित्र से मिलने

जाने की जल्दी है इसलिए इस निबंध को अब शीघ्र ही समाप्त करना होगा।

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार के यंत्रों से लोगों की वैयक्तिक स्तर पर कितनी सुविधा हो सकती है। सामुदायिक क्षेत्र में उपयोग किया जाने पर इन यंत्रों से और भी अधिक लाभ हो सकता है। कुछ संभावनाओं पर गौर कीजिए :—

विभिन्न धर्मों के प्रार्थनास्थानों में परमेश्वर की प्रार्थना आंखें मूंदकर ही की जाती है। इन प्रसंगों पर आंखें बंद करने के लिए, और मुंदी आंखों से नींद आ जाने पर उन्हें खोलने के लिए एक बिजली का यंत्र व्यासपीठ पर रखकर उसके तार सारे भाविक भक्तों की बगल में जोड़ दिए जाएं, तो आंखें मूंदने-खोलने की और हाथ जोड़ने की कवायद सुचारु रूप से होती रहेगी। कुछ परम श्रद्धालु भक्तों की आंख लग जाने पर उनके खर्राटे द्वारा दूसरों की एकाग्रता का भंग भी नहीं होगा। तिब्बत में जिस प्रकार के प्रार्थनाचक्र पाए जाते हैं उसी प्रकार के रामनाम के और वेद मंत्र के चक्रों का अपने यहां भी प्रचार होना आवश्यक है। हर मंदिर में ऐसे चक्र स्थापित हो जाएं तो उनके घुमाते ही भक्तों को सैकड़ों बार के स्मरण कीर्तन का पुण्य एक साथ मिल जाया करेगा। अठारह आरियों वाला एक चक्र बनवाकर उसकी प्रत्येक नोक पर गीता का एक-एक अध्याय लटका दिया जाए, तो चक्र को एक एक फेरा घुमाते ही समूची गीता के परायण का पुण्य मिल जाएगा। यही व्यवस्था रामायण और श्रीमद् भागवत् के संबंध में भी हो सकती है। कथाकारों के मुख से भगवान का नाम या ईश्वर वंदना वाचक शब्द निकलते ही श्रोताओं द्वारा हाथ जोड़े जाकर उन्हें मस्तक से लगाने की प्रथा है। यह क्रिया भी यंत्रों द्वारा हो सकती है। कल्पना कीजिए, स्त्रियों के द्वारा यह सामूहिक वंदना होने पर उनकी चूड़ियों की झनकार कितनी श्रुतिमधुर होगी ! इसी प्रकार श्रावणी के समय की जाने वाली मार्जन, न्यास, सव्यापसव्य, पंचपात्र-आचमनी की खनखनाहट आदि यांत्रिक कवायद तो यंत्रों की सहायता से ही होनी चाहिए।

नाटक देखते समय उत्कट नाट्यपूर्ण प्रसंगों पर कलाकारों को प्रोत्साहन देने के लिए प्रेक्षक गण हथेली पर हथेली धरे, तालियां बजाने के लिए सदा तत्पर रहते हैं। परंतु कभी-कभी उनकी रसिक बुद्धि कुंठित होने के कारण वे उचित समय पर तालियां बजाना भूल जाते हैं तो कभी नाटक की ओर पर्याप्त ध्यान न

होने के कारण वे बेमौके तालियां बजाने लगते हैं। इससे नाटक में रंग जमने के बजाय रसभंग होने की ही संभावना रहती है। प्रेक्षकों की हथेलियों पर बिजली के तार जोड़ कर उनका नियंत्रक-यंत्र किसी रसिक दर्शक के हाथ में दे दिया जाए तो यह दिक्कत दूर हो सकती है और जिस प्रकार परदे के पीछे वाले सूत्रधार के मार्गदर्शन में नट-नटियों का काम सुव्यवस्थित रूप से चलता है उसी प्रकार परदे के आगे वाले सूत्रधार के नियंत्रण में प्रेक्षकों का कर्त्तव्य भी बिना परेशानी के पूरा होता रहेगा। इससे आगे की परिवर्धित योजना यह भी हो सकती है कि हथेलियों की तरह यंत्र के तार प्रेक्षकों के होंठों से भी जोड़ दिए जाएं (यह होंठों पर तार अटकाने की क्रिया बिल्ली के गले में घंटी बांधने की समस्या की तरह मुश्किल हो सकती है। स्त्री प्रेक्षकों के संदर्भ में यह रसमय उपक्रम और भी कठिन हो सकता है परंतु किसी भी नये वैज्ञानिक आविष्कार के आरंभ-काल में ऐसी छोटी-मोटी अड़चनें आती ही हैं)। इस योजना से फायदा यह होगा कि प्रशंसात्मक 'वंस मोर' (Once more), और निंदात्मक 'नो मोर' (No more) के नारों की' चाभी भी किसी सुधी रसिक के हाथ में सौंपी जा सकेगी। आजकल इस मामले में बड़ी गड़बड़ी चल रही है। किसी गीत के सुंदर ढंग से गाए जाने पर प्रेक्षकों की ओर से उसे फिर से गवाने की फरमाइश होती है। परंतु कुछ घमंडी कलाकार इस विनती की अपेक्षा करके चुप रह जाते हैं। इसके विपरीत कुछ मोटी चमड़ी वाले कलाकार प्रेक्षकों की ओर से प्रोत्साहन न मिलने पर भी एक ही गीत को घोट-घोटकर दो-दो तीन-तीन वार सुनाते रहते हैं। इन दोनों आपत्तियों से बचने के लिए कलाकारों के होंठों के खुलने-बंद होने का नियंत्रण भी जानकार रसिकों के हाथ में होना आवश्यक है।

अंत में इस प्रकार के यंत्रों की उपयुक्तता के एक और क्षेत्र पर भी लगे हाथों विचार कर लिया जाए। बड़े-बड़े सभा-सम्मेलनों में किसी प्रस्ताव के अनुकूल या प्रतिकूल मत प्रदर्शित करने के लिए हाथ ऊपर उठाने की प्रथा होती है। हाथ कब उठाना है और कब नहीं इसका निर्णय अधिकांश सभासद पहले से ही कर चुके होते हैं। परंतु कुछ सदस्यों का इस विवादास्पद विषय के साथ दुआसलाम का भी संबंध नहीं होता और लोकतांत्रिक प्रणाली किस चिड़िया का नाम है, इसकी भी उन्हें जानकारी नहीं होती। फलतः जब हाथ उठाना चाहिए तब उनका हाथ फालिज के मरीज के अंगों की तरह निश्चेष्ट हो जाता है और जब नहीं उठना चाहिए तब

सरकस के जमूरे की तह उछल-उछलकर बार-बार ऊपर उठता रहता है और मतों की गणना हो जाने के बाद भी नीचे नहीं होता। इस श्रेणी के बुद्धिमान सभासदों के हाथों को समयानुसार ऊपर-नीचे करने की व्यवस्था यंत्रों की सहायता से हो सके, तो सबको बड़ी सुविधा रहेगी।

सारांश यह कि हमें अनेक बार बहुत-सी बातें बड़े परिश्रम से या बड़ी अनिच्छा से करनी पड़ती हैं। उन्हें करने के यंत्रों की ईजाद हो जाने पर हमारे दुखों का क्षय और सुखों की वृद्धि होगी। समाज में से अव्यवस्था और अनुशासनहीनता का नाश होकर हर काम उचित समय पर होता रहेगा और इस विराट विश्व की घड़ी को सुचारु रूप से चलाने में उस जगन्नियंता जगदीश्वर की यथाशक्ति सहायता करने का श्रेय भी हमें प्राप्त हो सकेगा।

22. शब्दसाधना

कोई देश हमारे अपने देश से जितना ही दूर होता है, उतनी ही उसके विषय में हमारी कल्पनाएं अस्पष्ट होती हैं। अधिकांश देशों का हमारा ज्ञान भूगोल की पुस्तकों में दा हुई अधूरी जानकारी और नक्शों पर आधारित होता है। इसी कारण से उन देशों के बीच के अंतर का हमें सही-सही अंदाज नहीं लगता। भूगोल की पुस्तकों में छपे हुए नक्शे तो अत्यंत भ्रामक होते हैं। इंग्लैंड और अमरीका के बीच किसी भी मानचित्र में बालिश्त भर से अधिक दूरी नहीं होती। इसलिए इंग्लैंड जाने वाले मित्रों के जरिये लोग अमरीका में रहने वाले संबंधियों को संदेशा भेजने की बात सोचने लगते हैं। चीन और जापान तो नक्शे में एक-दूसरे के इतने करीब मालूम देते हैं कि एक देश के किनारे पर एक पांव रखा जाए, तो दूसरा पांव दूसरे देश के किनारे पर रखना संभव है। इसके अलावा विदेशों के संबंध में हमारी जानकारी कुछ मोटी-मोटी लोकप्रचलित बातों पर आधारित रहती है। हम उन्हीं बातों को बहुत अधिक महत्व दे बैठते हैं और उस देश के पूरे जीवन का समीकरण अपनी कल्पना के साथ बैठा लेते हैं। काश्मीर के संबंध में हमारी जानकारी अकसर इतनी ही होती है कि वहां दोशाले बहुत अच्छे मिलते हैं। बस, हम सोचने लगते हैं कि वहां के सभी लोग आठों प्रहर शाल ओढ़कर ही घूमते होंगे। उन दोशालों का रंग भी नक्शे में काश्मीर का जो रंग होता है उससे मिलता-जुलता होना चाहिए, यह कल्पना भी पिंड नहीं छोड़ती। फ्रांस के बोर्डो और ऑपोटो शहर अपनी बेहतरीन शराब के लिए मशहूर हैं। इस आधार पर हम तुरंत इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि वहां के सभी लोग, धर्मगुरुओं और स्त्रियों का भी अपवाद छोड़े बिना, रातदिन शराब के नशे में धुत्त रहते होंगे, लड़खड़ाते हुए चलते होंगे, और बात-बात में दंगा-फसाद कर बैठते होंगे।

किंवदंतियों का सहारा लेकर हमारी कल्पना जॉर्जिया प्रदेश में से सारी बदसूरत स्त्रियों को निर्वासित कर देती है और अफ्रीका में किसी के होंठ पतले हो ही नहीं सकते इस बात को पत्थर की लकीर मान कर चलती है।

विदेशियों के साथ पहली बार जब हमारा परिचय होता है, तब उन सबके चेहरे हमें एक से मालूम देते हैं। ये लोग एक-दूसरे को पहचानते कैसे होंगे, इसका हमें अचरज होने लगता है और हम सोचने लगते हैं कि ये लोग एक-दूसरे के संबंधियों या संपत्ति पर बड़े निस्संकोच भाव से हक जमा लेते होंगे। माता को अपने बच्चों को ढूंढने में और पति को अपनी पत्नी को पहचानने में बड़ी कठिनाई होती होगी। अलीबाबा और चालीस चोर की कहानी में सारे पड़ोसियों के घर पर एकसा निशान बना होने के कारण चोर जिस प्रकार अलीबाबा का घर पहचान नहीं सके थे उसी प्रकार इन लोगों की स्त्रियों को भी, शाम को पुरुष-समुदाय के घर लौटने पर, अपना पिता कौन, पुत्र कौन, और पति कौन, यह पहचानने में बड़ो कठिनाई होती होगी। सारे साहब लोग एक से गोरे होते हैं यही बात नहीं, बल्कि उनका नाक-नक्श और चेहरा-मोहरा भी एक-सा होता है। समस्त चीनी लोग एक-से पीले और एक-सी तिरछी आंखों वाले दिखाई देते हैं और तमाम नीग्रो लोग एक से काले होते हैं। इतना ही नहीं, उनके होंठ एक-से मोटे और बाल समान रूप से ऐंठे हुए होते हैं। भगवान श्रीकृष्ण अपनी सोलह हजार रानियों के महलों में एक ही समय एक साथ प्रकट होते थे इस पौराणिक कथा के मूल में एक जैसे दिखाई देने वाले इन विदेशियों का कुछ प्रभाव अवश्य होना चाहिए। गोरे, काले और पीले विदेशियों की आधी से अधिक शक्ति एक-दूसरे को पहचानने में ही खर्च हो जाती होगी, यह विचार हमारे मन में उनके प्रति बड़ी हमदर्दी उत्पन्न करता है।

परकीयों के बाह्य रूपरंग को लेकर हमें जिस प्रकार की उलझन होती है कुछ वैसी ही उनकी भाषा के संबंध में भी होती है। संस्कृत न जानने वालों को ऐसा लगता है कि गीर्वाण भाषा केवल सामासिक पदसमूहों से भरी हुई है जबकि अंग्रेजी से अपरिचित मष्नुय को गौरांग महाप्रभुओं की देवभाषा केवल संयुक्ताक्षरों से बनी हुई मालूम देती है। विदेशियों के साथ हमारा संपर्क ज्यों-ज्यों घनिष्ठ होता जाता है त्यों-त्यों उनके चेहरे के सूक्ष्म भेद हमारी समझ में आने लगते हैं और हम उन्हें अलग-अलग पहचानने लगते हैं। उसी प्रकार कोई भी नई भाषा

ज्यों-ज्यों अधिकाधिक हमारे कानों में पड़ती जाती है त्यों-त्यों हम यह समझने लगते हैं कि उसके सारे शब्द एक समान नहीं बल्कि एक-दूसरे से भिन्न और भिन्नार्थ भी हैं। इसके बाद का सोपान है कि दो या अधिक समानार्थी शब्दों में से किसका प्रयोग कहां करना चाहिए और एक ही शब्द के एकाधिक अर्थ होने पर किस परिस्थिति में कौन-सा अर्थ ग्राह्य मानना चाहिए यह हम मार्मिकता से समझने लगते हैं। शब्दों के ज्ञान के साथ-साथ हमें उस देश के लोगों और उनके रस्मोरिवाज की जानकारी भी होती रहती है और अंत में हम उस अवस्था पर पहुंच जाते हैं जहां प्रत्येक शब्द किसी ऐतिहासिक सत्य का उद्घाटन करता है और उसका औपपत्तिक विश्लेषण किए बिना हमें चैन नहीं पड़ता।

मैं बचपन में भाषा में इतिहास ढूंढने के बजाय इतिहास में भाषा ढूंढा करता था। गणित और अन्य विषयों की तरह इतिहास में भी मैं कुछ कमजोर ही था। इसलिए ऐतिहासिक स्थानों और नामों की, उनकी वंशावलियों की एवं महत्वपूर्ण घटनाओं के सन्-संवतों की मैंने कितनी खिचड़ी पकाई होगी इसका कोई हिसाब ही नहीं। दूसरे, उस उम्र में गालियां कुछ इस कदर जबान चढ़ी हुई थीं कि अन्य कोई बात ठीक तौर से मुंह से निकलती ही नहीं थी। निजामअली के बदले हजामअली, बाजीराव के बदले पाजीराव और मदनिका के स्थान पर यवनिका जैसी गलतियां तो कदम-कदम पर होती रहती थीं। शाहजी महाराज को एक बार मैंने छत्रपति शिवाजी के बजाय बादशाह अकबर के पितृपद पर आसीन कर दिया था और चौसा का युद्ध उनके हाथों लड़वा कर उनकी विजयिनी शमशेर द्वारा शहंशाह सिकंदर के छक्के छुड़वा दिये थे। टीपू सुलतान को मैंने उसकी इच्छा के विरुद्ध चांदबीबी की गोद में दत्तक बिठा दिया था और अंत में पूना के शनिवार वाडे से चाणक्य के हाथों उसकी हत्या करवा दी थी। बीजापुर के बहमनी राज्य की स्थापना ब्राह्मणों द्वारा हुई थी ऐसा सिद्ध करके पूना के पेशवाओं को उन्हीं ब्राह्मणों की संतान घोषित किया था।

ऐतिहासिक महत्व के सन-संवतों के संबंध में तो मेरा कयास कभी सही नहीं निकला। अंत में मैंने सन याद रखने की कोशिश ही छोड़ दी और मैं इस महत्वपूर्ण शिक्षाशास्त्रीय निष्कर्ष पर पहुंचा कि आज तक की सारी लड़ाइयां यदि दस-दस साल के अंतर से हुई होतीं तो विद्यार्थियों का नव्वे प्रतिशत परिश्रम बच जाता। इसी प्रकार इतिहास प्रसिद्ध पुरुषों ने यदि शताब्दी के आरंभ के वर्ष

में जन्म लेकर अंतिम वर्ष में मर जाने की परिपाटी चलाई होती तो वे खुद भी शत जीवी होते और बाद के युगों में उनकी जीवनगाथा पढ़ने वाले अनेक विद्यार्थियों की अकाल मृत्यु टालने का श्रेय भी उन्हें मिलता। यदि इस प्रकार की इच्छामृत्यु मुश्किल हो तो विद्यार्थियों की परेशानी कम करने के लिए कम से कम हर राष्ट्र को दस-दस वर्ष के बाद अपने तमाम प्रसिद्ध पुरुषों को सूली पर चढ़ा देना चाहिए। इस हालत में उनकी मृत्युतिथि को याद रखना उतना कठिन नहीं होगा। आजकल जीवन के हर क्षेत्र में जब दशमलव पद्धति अपनाई जा रही है, तो इस एक बात में ही अपवाद क्यों ? दशमान पद्धति के कट्टर पुरस्कर्ता फ्रांस देश को इस मामले में भी अगुआ होना चाहिए। समूचे इतिहास में शताब्दी से अंतिम वर्ष में मरने की दूरदर्शिता सिर्फ नाना फडनवीस ने ही दिखाई थी। उनकी कूटनीतिज्ञता जितनी इस एक समझदारी में दिखाई देती है, उतनी और किसी कपट-कारस्तानी में नहीं।

ऐतिहासिक नामों में मैं जो घपला करता था उसका मुख्य कारण यह था कि उन नामों से मिलते-जुलते शब्द बोलचाल की भाषा में भी पाए जाते हैं। इस बात से प्रेरणा लेकर मैंने भाषा का उपयोग नामों की खिचड़ी पकाने के लिए न करते हुए उन्हें याद रखने के लिए करने का निश्चय किया। यह तरकीब बहुत कामयाब रही। मेरे कुछ निष्कर्षों का मुलाहजा हो:— पानीपत के मैदान में अनेक लड़ाइयां हो चुकी हैं। उनमें पानी की तरह बहने वाले खून के कारण ही उस स्थान का नाम पानीपत पड़ा होगा। 1857 के स्वातंत्र्य-संग्राम के सेनापति तात्या टोपे ने टोपीवाले साहबों से युद्ध किया था; इसलिए उसका 'टोपे' नाम सार्थक है। इसी वजन पर मैं प्रत्येक ऐतिहासिक नाम का संबंध कभी स्वाभाविक रूप में तो कभी थोड़ी-बहुत खींचातानी करके किसी न किसी कथा के साथ जोड़ने लगा और इस सूत्र के सहारे उन्हें स्मृति की माला में गुंथने की कोशिश करने लगा। उसमें मुझे काफी हद तक सफलता मिली।

परंतु ज्यों-ज्यों मैं बड़ा होता गया त्यों-त्यों स्मरणशक्ति के बजाय विचारशक्ति की आवश्यकता अधिकाधिक पड़ने लगी और मैं प्रत्येक बात का कारण ढूंढने लगा। हमारे तीज-त्योहारों की चित्रविचित्र प्रथाओं में कितना गूढ़ार्थ भरा हुआ है; वैदिक मंत्रों के उच्चारण से कौन से लाभ होते हैं; पौराणिक कथाओं का उद्गम कहां से हुआ; हमारे रस्मोरिवाज इतनी सहस्राब्दियों तक अक्षुण्ण रूप से

टिक सके इसकी जड़ में कौन सी प्राणशक्ति काम कर रही है आदि बातों की मैं जांच-पड़ताल करने लगा। इन वादग्रस्त विषयों के समाधानपूर्ण निष्कर्ष निकाल लिए जाने पर मैंने अपना मोर्चा भाषा के इतिहास की तरफ मोड़ा। बाजार से एक कोश खरीद लाया और उसमें प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति ढूंढने लगा। श्रीमतीजी यदि 'खाना परोस दिया है' आदि घोषणाओं से मेरी एकाग्रता भंग करतीं तो मैं नाराज होने के बजाय उनके वाक्य के प्रत्येक शब्द की पूर्वपीठिका तलाश करने में मशगूल हो जाता। एक बार अपने पुत्र के लिए लड़की देखने के लिए जाना पड़ा। वहां भी समधियों के कुलगोत्र की पूछताछ करने के बजाय उनके नामों के कुलगोत्र की गवेषणा में डूबा रहा।

भाषाविज्ञान के इस अध्ययन से मुझे जिन दुर्लभ सत्यों की उपलब्धि हुई वे अन्य भाषाविदों को कहां तक मान्य होंगे यह तो मैं नहीं कह सकता क्योंकि विद्वानों से अधिक मत्सरी प्राणी इस भूतल पर ढूंढे नहीं मिलेगा। फिर भी जिज्ञासु पाठकों के लाभार्थ उनमें के कुछ प्रमुख निष्कर्ष यहां दिए जाते हैं :—

1. प्राणियों की उत्पत्ति वनस्पति सृष्टि से हुई है इसका हमारे पूर्वजों को ज्ञान होना चाहिए। यह बात 'अश्वत्थ' शब्द की व्युत्पत्ति से सिद्ध होती है। इस शब्द का अंतिम संयुक्ताक्षर निकाल देने पर 'अश्व' बचता है जो प्राणीविशेष का बोध है। इस 'अश्व' शब्द के पीछे भी गूढ़ इतिहास छिपा हुआ है। पहले शायद भूतल पर पालतू पशुओं में गाय भैंसों के अलावा सिर्फ दो ही प्राणी विद्यमान थे—कुत्ता और घोड़ा ! कुत्ते के लिए संस्कृत शब्द है 'श्व'। इससे दूसरे पशु का नामकरण करने की बात सरल हो गई। जो 'श्व' नहीं है, वह 'अश्व'। इन शब्दों से यह भी प्रमाणित होता है कि मनुष्यजाति का वह आदिकाल मृगया-प्रधान रहा होगा। मृगया में ये दोनों प्राणी अत्यंत सहायक होते होंगे। उस युग में इनका निर्माण करके प्रकृति ने मनुष्य पर बड़ी कृपा की।

2. मनुष्य की उत्क्रांति बंदरों से हुई है यह सिद्धांत कोई उन्नीसवीं शताब्दी की ईजाद नहीं है। प्राचीन काल में लोगों को इसकी जानकारी अवश्य थी। बंदर के लिए 'वानर' शब्द का प्रयोग इसका अकाट्य प्रमाण है। उसका आधाक्षर निकाल देने पर 'नर' शेष बचता है। 'वा' उपसर्ग संशय का बोधक है। आदिम मनुष्य का कद बंदर की तरह छोटा रहा होगा जिसके कारण बंदर को देखकर मनुष्य का भ्रम होता होगा। इसका एक और प्रमाण 'जनेऊ' और 'कुंतल' इन

दो शब्दों की व्युत्पत्ति से मिलता है । 'जनेऊ' का गर्भितार्थ है जानु तक पहुंचने वाला। (जानु=घुटना) । और कुंतल (वाल) का शब्दार्थ होता है : जमीन को छूने वाले। (कु=पृथ्वी) । जिसका जनेऊ घुटने तक पहुंचता हो और जिसके वाल धरती को छूते हों उसका कद बेशक बहुत छोटा होना चाहिए।

3. हमारी देवभाषा के प्राचीन बोलने वाले इंग्लैंड जैसे किसी अस्थिर जलवायु वाले प्रदेश के निवासी होने चाहिए। यह बात 'सुख' और 'दुख' इन शब्दों की व्युत्पत्ति से स्पष्ट हो जाती है। (ख=आकाश) आकाश के निरभ्र (सु+ख) होने पर उन्हें आनंद होना स्वाभाविक था। इसी प्रकार अभ्राच्छादित गगन (दु+ख) को देखकर उनका विचलित होना भी समझ में आता है।

4. शरीर के अवयव वाचक शब्द और उनसे साधित पदों द्वारा तत्कालीन सामाजिक स्थिति का अंदाज लगाया जा सकता है। उदाहरणार्थ उस जमाने में पगड़ी या तो पांवों पर बांधी जाती होगी या फिर बंधी हुई पगड़ी को योग्य आकार देने के लिए उसे पांवों तले रौंदने का रिवाज रहा होगा। (पग+पांव)। इसी प्रकार अंगूठी को अनामिका के बजाय अंगूठे में पहनने की प्रथा होगी। कम से कम इस शब्द के रूप से तो यही स्थापित होता है।

5. शब्दों का इतिहास कभी-कभी प्राचीन युग के व्यवसायों पर भी प्रकाश डालता है। उदाहणार्थ 'पय' शब्द को ही ले लीजिए। अत्यंत प्राचीन काल से इस शब्द के दो अर्थ प्रचलित रहे हैं: दूध और पानी। इन दोनों के बीच के अभेद्र को देख कर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस शब्द के रचनाकाल में देश में आभीर संस्कृति अत्यंत प्रबल रही होगी और ग्वालों का तत्कालीन राज्यसत्ता पर काफी प्रभाव रहा होगा। दूध में पानी मिलाने वालों को किसी प्रकार की सजा न मिले इसी कारण से दोनों के लिए एक ही शब्द की योजना हुई होगी। पय में पय मिलाना जुर्म कैसे हो सकता है? 'मृच्छकटिक' नाटक में एक ग्वाले के लड़के द्वारा राजा पालक का राज्य जीता जाने का उल्लेख है। उस लड़के (आर्यक) के राज्यकाल में ही इस द्विअर्थी शब्द की रचना हुई हो यह नितांत संभव है। इसी नाटक में बादलों को 'आर्द्रमहिषोदर तुल्य' कहकर उनकी तुलना भीगी हुई भैंस के उदर से की गई है। संस्कृत में मेघ के लिए 'पयोद' शब्द है और दूध देने वाली भैंस को भी 'पयोद' कहा जा सकता है। इस शब्दायोजना से फिर एक बार दूध और पानी का अभेद स्थापित होता है। दूध देने वाली भैंस

और पानी बरसाने वाले बादल के बीच उपमान-उपमेय संबंध स्थापित हो जाने पर दूध और पानी का समानधर्म अपने आप सिद्ध हो जाता है। हो सकता है कि इन शब्दों द्वारा गोपराजा के आश्रित कवि ने ग्वालों की बेईमानी पर छींटाकशी की हो। पर अधिक संभावना प्रथम निष्कर्ष के पक्ष में ही रहती है इसी प्रकार पटरानी के लिए सम्मानसूचक 'महिषी' शब्द का प्रयोग भी आभीर संस्कृति के उत्कर्ष के उसी कालखंड में हुआ होगा।

6. 'अंबर' शब्द आकाश और वस्त्र, दोनों अर्थों का वाचक है। इस शब्द का अद्भव रजक वंश के राजाओं के समय में हुआ होगा। इस शब्द को भी द्विअर्थी बनाने के पीछे उद्देश्य यही रहा होगा कि नील की अधिकता के कारण वस्त्र यदि आकाशवर्णीय हो जाए, तो किसी को शिकायत का कारण न रहे। इन सत्ताधीशों के राज्यकाल में हिमधवलता को शायद धुले हुए वस्त्रों का अनिवार्य गुण नहीं माना जाता था, और शुभ्रता के उचित उपमान रजत की खोज भी शायद तब तक नहीं हुई थी। यही कारण है कि सोना, लोहा, कांसा आदि धातुओं के कारीगरों के लिए जिस प्रकार क्रमशः सुनार, लोहार, कसेरा आदि व्यवसाय-सूचक संज्ञाएं दी गई हैं, उसी प्रकार चांदी का काम करने वालों के लिए कोई अलग नाम नहीं दिया गया।

7. 'वर्ण' के संस्कृत में दो अर्थ होते हैं। रंग और जाति। 'रक्त' शब्द के भी दो अर्थ हैं। लाल रंग और रुधिर। स्वाभाविक है कि लाल रंगकी पहली चीज जिस पर मनुष्य की नजर पड़ी हो, वह खून हो। अब 'वर्ण' के जातिवाचक अर्थ पर भी विचार कर लिया जाए। इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। प्राचीन काल में वेश्याओं के कोठे अकसर व्यापारियों की दूकानों के ऊपर हुआ करते थे। इसी कारण से, व्यापार करने वाले वणिकों के लिए संज्ञा बनी : 'वैश्य'।

8. कुछ फुटकर शब्द :—गहनों के लिए अलंकार शब्द अत्यंत उपयुक्त है। उस जमाने में भी लोगों को स्त्रियों के आभूषणप्रेम से काफी परेशानी रही होगी। इस हालत में गहनों का जिक्र छिड़ते ही उनके मुख से 'अलम्' (पर्याप्त, काफी है) की ध्वनि निकल पड़ना स्वाभाविक था।

उपनिषदों के साथ-साथ आरण्यक नामक ग्रंथों की रचना करने वाले महापंडित उस युग में तो अरण्य में रहने के कारण आरण्यक जाति के कहलाते होंगे या फिर उनके पोथों में भरा हुआ ज्ञान कोरा अरण्यरुदन प्रमाणित होने की वजह

से उन ग्रंथों का नाम अरण्यक पड़ा होगा।

9. लिंग और वचन :—पत्नी के लिए 'दाराः' इस पुल्लिंगी और सदा बहुवचन में प्रयुक्त होने वाले शब्द से यह ध्वनित होता है कि उस युग में पुरुष की अनेक स्त्रियां होती होंगी और वे पुरुषों की ही तरह ढीठ और झगड़ालू होती होंगी।

इसी प्रकार 'मित्र' शब्द का नपुंसकलिंगी प्रयोग यह सिद्ध करता है कि मित्र-पत्नी के साथ अन्य मित्रों का व्यवहार अंतःपुर के कंचुकी के समान होना चाहिए।

23. साहित्य परिषद् की तैयारी

पहले एक बार हमारे नगर में चोरों का सम्मेलन हुआ था जिसका वर्णन किया जा चुका है। उसके बाद बड़ौदा और अकोला में आयोजित साहित्य-सम्मेलन के बड़े हृदयंगम वर्णन अखबारों में पढ़ने में आए और तभी से साहित्य परिषद् जैसा कोई सम्मेलन अपने शहर में आयोजित करने की इच्छा मेरे मन में कुल-बुलाने लगी। कोई भी नया कार्य शुरू करने से पहले अपने अभिन्न मित्र बंडूनाना और पांडूतात्या से सलाह-मशवरा करने की मेरी पुरानी परिपाटी है। इसी लिए एक रोज मैंने दोनों को अपने घर बुलवा लिया और मन में घुटने वाली बात उनके सामने रखी। मेरा विचार इन दोनों को भी पसंद आया।

परंतु संन्यासी के विवाह की तैयारी जिस प्रकार उसकी चोटी उगाने से करनी पड़ती है उसी प्रकार साहित्य परिषद् की तैयारी हमें खुद ग्रंथकार बनकर करनी पड़ी। परिषद् की निमंत्रण-पत्रिका के नीचे सही करने वाले लोग खुद अनुभवी ग्रंथकार हों, यह नितांत आवश्यक था। इसी प्रकार साहित्यकारों का स्वागत करने वाली समिति के सदस्यों के लिए भी खुद साहित्यकार होना वांछनीय था। परिषद् के सामने आने वाले प्रस्तावों में कुछ स्थानीय लोगों द्वारा किए जाएं यह अत्यंत आवश्यक था, पर इसके लिए उनका भी साहित्यकार होना जरूरी था। साहित्यक्षेत्र में हमारे शहर का जो रुतबा था उसे देखते हुए यह समझने में हमें देर नहीं लगी कि यह महान उत्तरदायित्व अंततोगत्वा हम तीनों पर ही पड़ने वाला है। खुद ग्रंथ लिखकर साहित्यकार संज्ञा के पात्र बनने की सूचना से पांडू तात्या का हौसला कुछ पस्त होता हुआ दिखाई दिया। परंतु हम दोनों ने जब उनकी सहायता करने का वचन दिया तो वे तैयार हो गए। उनका आत्मविश्वास शीघ्र ही इस हद तक बढ़ गया कि उन्होंने हमसे किसी भी प्रकार

की सहायता लेने से इनकार कर दिया। हमारे तात्या वैसे बड़े जिंदादिल और खिलाड़ी वृत्ति के आदमी हैं। अपना-अपना ग्रंथ सबको एक महीने के भीतर छपवा लेना चाहिए यह निर्णय भी इसी बैठक में हो गया।

दूसरे ही दिन मैं एक संक्षिप्त और सरल अंग्रेजी उपन्यास खरीद लाया और एक मित्र की सहायता से उसका अनुवाद करना आरंभ कर दिया। अनुवाद का काम आठ दिन में पूरा हो गया। इसके बाद मित्र की सहायता की आवश्यकता न रही और मैंने उसे बड़ी सफाई से खिसका दिया। इसके बाद का सप्ताह मैंने मूल के अंग्रेजी नामों और रस्मोरिवाज के स्थान पर भारतीय नाम और रीतिरिवाज जड़ने में खर्च किया। इसमें वैसे तो कोई कठिनाई नहीं हुई; परंतु मूल उपन्यास में अंग्रेजी समाज में प्रचलित बॉलडांस, प्रेमविवाह, स्त्रीपुरुष का उन्मुक्त मिलन आदि सुधारवादी ढंग के प्रसंगों की भरमार होने के कारण अनुवाद में सब पात्रों को सुधारवादी ढांचे में ढालना पड़ा। इससे मेरा परिश्रम कम हो जाने के साथ-साथ सुधारकों की खिल्ली उड़ाने का मौका भी अनायास ही मिल गया। उदाहरणार्थ, दुराचारी पात्रों के दुष्कृत्यों का वर्णन करते समय मैं यह 'होता है सिर के बाल बढ़ाने का और स्त्रियों द्वारा जूड़ा बांधा जाने का परिणाम'—आदि टिप्पणियां जोड़ना नहीं भूला। परंतु इस तरकीब ने एक और दुविधा खड़ी कर दी। मूल उपन्यास सुखांत होने के कारण अंत में नायक-नायिका का विवाह होकर शेष जीवन उन्होंने सुख से व्यतीत किया—ऐसा वर्णन था। उसे अपनी भाषा में ज्यों का त्यों उतारने में मुझे बड़ा संकोच महसूस हुआ। आधुनिकता में आकंठ डूबे हुए सुधारकवृत्ति के जोड़े को अंत में सुखी होता दिखाना धर्म के साथ सरासर द्रोह था और उससे हमारे भारतीय समाज के रसातल में धंस जाने की पूरी संभावना थी। इसलिए मूलउपन्यासकार के अनुसार गिरजे में उनका विवाह होता दिखाकर और मधुयात्रा पर उनकी रवानगी करने के बाद मैंने उपन्यास का अंत इस प्रकार किया:—

"यह सुधारक युगल रेलगाड़ी से यात्रा कर रहा था। रेल जब एक पुल पर से गुजर रही थी तब पुल टूट गया और उनका डिब्बा इंजन के साथ नीचे नदी में गिरकर डूब गया। पीछे के डिब्बों के साथ उनके डिब्बे को जोड़ने वाली कड़ी टूट जाने के कारण और उसी समय दैवयोग से भूचाल के कारण दोनों के बीच एक बहुत बड़ी पहाड़ी खड़ी हो जाने के कारण बाकी के डिब्बे सुरक्षित बच गए।

बाद की जांच से मालूम हुआ कि इन डिब्बों में यात्रा करने वाले सभी मुसाफिर सनातन धर्माभिमानी थे जबकि डूब जाने वाले डिब्बे के सारे यात्री सुधारक थे। पाठकों को इस योगायोग से सबक सीखना चाहिए।"

उपन्यास प्रकाशित हो जाने पर मुझ पर कहीं साहित्यचौर्य का इलजाम न लगाया जाए इस हेतु मैंने बड़ी दूरअंदेशी के साथ प्रस्तावना में निम्नोक्त वाक्य जोड़ दिए—"यह उपन्यास नितांत मौलिक है और इसमें किसी अन्य पुस्तक की सहायता नहीं ली गई। तथापि इसका श्री…के…नामक प्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यास के साथ साम्य पाया जाए तो इससे आलोचकों को उछल-कूद मचाने की जरूरत नहीं। प्रस्तुत लेखक के लिए तो यह संकोच का नहीं बल्कि बड़े अभिमान का विषय है कि उसके विचार भाषाशैली किसी प्रसिद्ध आंग्ल उपन्यासकार के विचारों और शैली के साथ इतना मेल खाते हैं।" इस स्पष्टीकरण के बाद अनुवादकार्य में मेरी सहायता करने वाले उपरोक्त मित्र का आभार मानना भी मैं नहीं भूला।

इस प्रकार ग्रंथ तैयार हो जाने पर मैंने उसे छपवाने के लिए बंबई भेज दिया। प्रकाशक की सूचनानुसार बीच-बीच में कुछ चित्र और आरंभ में मेरा फोटो छापने की बात भी तय हुई। पर चित्रों के नीचे छापी जाने वाली इबारत में न मालूम कैसे कुछ गड़बड़ी हो गई। चित्रकार ने उन दो-चार वाक्यों को छोड़कर बाकी का उपन्यास तो पढ़ा नहीं था और लेखक के साथ उसका कई बातों में तात्विक मतभेद होना भी स्वाभाविक था। अतः तफसील की कई छोटी-मोटी गलतियां हो गईं। उदाहरणार्थ, एक स्थान पर नायिका द्वारा नायक का आलिंगन किया जाने का वर्णन था। इस प्रसंग का चित्र भी छपा था। परंतु नायक का नाम चित्रकार के ध्यान में न रहने के कारण चित्र में उक्त आलिंगन का लाभ खलनायक को मिल गया। एक स्थान पर खलनायक अंधेरी रात में नायिका के पिता के वसीयतनामे की चोरी करता है ऐसा वर्णन था। इस प्रसंग को चित्रित करने में तो चित्रकार के सामने अत्यंत खरी उलझन थी। अंधेरे में होने वाली चोरी को चित्र में कैसे दिखाया जाए? इसलिए उसने ब्यौरे में मामूली परिवर्तन करके चोरी के समय को मध्याह्न में बदल दिया और पूरे प्रसंग को दोपहर की चिलकती हुई धूप में साकार किया। वसीयतनामे की शर्तों को पढ़ने में पाठकों को आसानी हो इस उदात्त विचार से उसका आकार साइनबोर्ड जितना

बड़ा करके उसका प्रत्येक शब्द इश्तहारों के शीर्षकों की तरह बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा गया। इसी प्रकार उपन्यास के अंत में खलनायक को फांसी होकर नायक-नायिका के विवाहबद्ध होने का उल्लेख था। परंतु चित्रकार के कोमल मन को यह स्थिति मंजूर न होने के कारण उसने खलनायक को भागते हुए दिखाया और फांसी के मचान पर एक ओर जल्लाद और दूसरी ओर खुद ग्रंथकार को लटका दिया। विवाह-बंधन के चित्र में 'बंधन' शब्द का गलत अर्थ लगाकर उसने नायक-नायिका के हाथपांवों को हथकड़ी-बेड़ी से जकड़ दिया। चित्रकार की इन सारी त्रुटियों का निवारण मुझे शुद्धिपत्रक जोड़कर करना पड़ा।

उधर बंडूनाना का लेखनकार्य भी जोरों से चल रहा था। उन्हें उपन्यास-कहानियों से शुरू से ही चिढ़ थी। भारत की अवनति के अनेक कारणों में वे उपन्यासों के प्रचार को प्रमुख मानते थे। बच्चों के हाथों में किस्से-कहानियों की पुस्तकों के बजाय गणित या व्याकरण का ग्रंथ पढ़ना ही श्रेयस्कर है इस मत का प्रतिपादन वे जोरों से करते रहते थे। घुटनों चलने वाले बच्चों के हाथों में भी कहानियों और चित्रों के बजाय गंभीर विषयों से भरे हुए ग्रंथ या विविध ज्ञान से पूर्ण समाचारपत्र देना ही हितकर है ऐसी उनकी स्पष्ट राय थी। इस बात को लेकर एक बार उन्हें बड़ा विचित्र अनुभव हुआ। उनके यहां एक दैनिक समाचार-पत्र आता था। रोज सुबह उनके पढ़ लेने के बाद उनकी गृहिणी समाचारपत्र को बैठक में से उठाकर भीतर ले जाती थी। कहती कि बच्चों के काम आएगा। अपनी अर्धांगिनी का बच्चों की शिक्षा की ओर इतना ध्यान है और इस कच्ची उम्र में ही बच्चों को सांसारिक ज्ञान की जानकारी प्राप्त हो रही है इस बात से नाना को बड़ा संतोष हुआ और थोड़ा-बहुत अभिमान भी। एक रोज अखबार की पढ़ाई किस प्रकार होती है यह देखने के लिए वे पत्नी के पीछे-पीछे गये और छिप कर खड़े रहे। मालूम दिया कि बच्चे भी अखबार की बेचैनी से राह देख रहे थे। परंतु अब तक की बातों से उन्हें होने वाला आनंद बाद की घटनाओं को देखकर काफूर हो गया। जिस अखबार का उपयोग चित्तशुद्धि के लिए होना चाहिए उसका प्रयोग शरीरशुद्धि के लिए होता देखकर भला किसे दुख नहीं होगा। मस्तक पर धारण करने योग्य सत्साहित्य का शरीर के अधोभाग में विनियोग होता देखकर नाना की आंखों में शोकाश्रु उभर आए और वे संताप से थर-थर कांपने लगे। अब यह सही है कि उस रोज के अखबार का संपादकीय लेख कृषि

के विकास के संबंध में था। परंतु उस कागजी खेती को इतनी जल्दी खाद मिल जाएगी यह कल्पना नाना तो क्या खुद संपादक के दिमाग में भी नहीं आई होगी। पत्र में एक लेख अत्यंत अश्लील और गंदा था। उसकी यथायोग्य खातिर होती देखकर नाना को उस दुख में भी कुछ संतोष हुआ। भविष्य में समाचारपत्र का किसी भी घरेलू काम में उपयोग न करने की उन्होंने पत्नी को कड़ी हिदायत दी। बहुत विनती की जाने पर उन्होंने केवल एक अपवाद छोड़ा। पत्र के गरमा-गरम और मसालेदार लेखों का उपयोग दाल में छौंक लगाने के लिए करने की इजाजत उन्होंने पत्नी को दे दी।

इस प्रकार बंडूनाना को गंभीर और शास्त्रीय वाङ्मय आरंभ से ही पसंद होने के कारण उनका ग्रंथ किसी वैज्ञानिक और गहन विषय पर ही होगा इसका अंदाजा मुझे पहले से ही था और अंत में वह सही निकला। नाना ने महीने भर के भीतर बारहखड़ी और पहाड़ों का समावेश करके एक ग्रंथ लिख डाला और उसे छपवा भी दिया। ग्रंथ में रह जाने वाली अशुद्धियों की संख्या को देखते हुए ऐसा लगता था कि उसका मुद्रण किसी भयानक भूचाल के दौरान में हुआ होगा। या फिर यह भी संभव था किसी ग्रंथ के प्रकाशन के साथ-साथ ही शुद्धिपत्र का प्रकाशन करने के हेतु से नाना ने ये गलतियां जान-बूझकर रहने दी हों। हमारे नाना हैं बड़े दूरअंदेश आदमी। खैर, प्रयोजन कुछ भी रहा हो, इस सारी गड़बड़ी का सार यह निकला कि गणित जैसे निश्चित नियमों वाले विषय में भी अनेक स्थानों पर वैचित्र्य और नावीन्य के दर्शन हुए। गणित जैसे रुक्ष विषय को भी रोचक बनाने में इन अशुद्धियों ने बड़ी सहायता पहुंचाई। ग्रंथ के लेखनकाल में नाना के भांग-गांजे की मात्रा क्यों बढ़ गयी थी इसका रहस्य अब मेरी समझ में आया। शुद्धिपत्रक में नाना ने इन सारी अशुद्धियों को सुधार दिया था, इसमें कोई संदेह नहीं। पर मूलग्रंथ और शुद्धिपत्रक इन दोनों में से सिर्फ एक ही पुस्तक खरीदने पर किसी भी पाठक का काम चलने वाला नहीं था। उसके लिए दोनों पुस्तकें एक-साथ खरीदना निहायत जरूरी था और शायद इसी हेतु से नाना ने यह सारा गौड़बंगाल फैलाया था। उनकी इस योजना को कल्पनातीत सफलता मिली। शुद्धिपत्रक में भी इतनी अधिक अशुद्धियां रह गईं कि उन्हें सुधारने के लिए दूसरा और दूसरे का नियमन करने के लिए तीसरा, यों यह परंपरा चार-पांच पत्रकों तक पहुंची और प्रत्येक शुद्धिपत्रक मूलग्रंथ के अनिवार्य

परिशिष्ट के रूप में धड़ल्ले से बिकने लगा। आकार के हिसाब से देखने पर मूल ग्रंथ की अपेक्षा इन शुद्धिपत्रकों का ही विस्तार अधिक था।

इस ग्रंथ में पहाड़ों के अलावा वर्णमाला और बारहखड़ी भी दी गई थी। साथ में लंबी-चौड़ी प्रस्तावना भी थी जिसमें नाना ने अपने उपजाऊ भेजे को शोभा देने वाली अनेक कल्पनाएं प्रस्तुत की थीं। पाठकों के लाभार्थ उक्त प्रस्तावना के कुछ अंश यहां उद्धृत किये जाते हैं। नाना ने लिखा था :—

"हिंदू समाज में अनादि काल से चली आने वाली वर्णव्यवस्था के समान व्याकरण में भी वर्णों का नियमन आवश्यक है। इसके पक्ष में हमारे पास कुछ अकाट्य प्रमाण हैं। समाज के भिन्न-भिन्न वर्णों की उत्पत्ति जिस प्रकार विराट पुरुष के विभिन्न अंगों में से हुई है उसी प्रकार वर्णमाला के व्यंजनों का जन्म भी मुख के कंठओष्ठादि विभिन्न भागों से होता है। सामाजिक व्यवस्था में वर्णों की संख्या चार है जबकि ध्वनिशास्त्र की दृष्टि से व्यंजनों के उद्गम स्थान पांच हैं, यही उनके बीच में एकमात्र भेद है। प्रत्येक वर्ग के व्यंजन पुरुषत्व के प्रतीक हैं जबकि स्वर स्त्री जाति के प्रतिनिधि हैं। अतः प्रत्येक वर्ग के व्यंजनों के अनुरूप एक-एक स्वर की नियुक्ति कर देनी चाहिए। पांच पुरुषवर्गीय व्यंजनों के लिए एक स्त्री-वर्गीय स्वर की नियुक्ति करने से इस व्यवस्था का संबंध पांडवों के काल से भी जोड़ा जा सकेगा। स्वर स्त्रियों की तरह स्वभाव से ही मृदु होते हैं जबकि व्यंजन पुरुषों की तरह कठोर। जिस प्रकार स्त्री के अभाव में पुरुष का जीवन अधूरा रह जाता है उसी प्रकार स्वरों की सहायता के बिना व्यंजनों का उच्चारण भी पूर्ण नहीं होता।

"व्यंजनों का उनके उद्गम स्थान के क्रम से विचार करने पर यह मालूम देता है कि कंठ्य व्यंजन ब्राह्मणों के प्रतीक हैं; अतएव सर्वश्रेष्ठ हैं। तालू, मूर्धा, दांत, और होंठों का स्थान कंठ से उत्तरोत्तर नीचा होने के कारण तालव्य, मूर्धन्य, दंत्य और ओष्ठ्य वर्णों की योग्यता भी उत्तरोत्तर कम होनी चाहिए। उन्हें क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अतिशूद्रों का प्रतिनिधि मानना उचित होगा। उत्तम भक्ष्य-भोजन पदार्थों को निगलने का अधिकार ज़िस प्रकार केवल कंठ को है और बाकी के अवयवों का काम उन्हें खाने के योग्य बनाने का है उसी प्रकार कंठ रूपी गर्भगृह की उसके तालू, मूर्धा इत्यादि परिसरों के साथ रक्षा करने का काम दांतों का है। दांतों के महाद्वार के बाहर होंठों की अतिरिक्त रक्षापंक्ति आती है जो

मूंछों के बाल रूपी भालों से सज्जित होकर भीतरी स्थानों की रक्षा करती है। वैसे तो दंत्य और ओष्ठ्य व्यंजनों की गणना शूद्र और अतिशूद्र के रूप में होती है, परंतु अन्य दंतौष्ठों के साथ विनियम करने की अतिरिक्त जिम्मेदारी भी उन्हीं के ऊपर आ पड़ने के कारण वे कभी-कभी अपनी मर्यादा का अतिक्रमण करके वाणिज्यवृत्ति धारण कर लेते हैं।

"इस प्रकार व्यंजनों के उद्गम स्थानों के संबंध में प्रकृति द्वारा जब जातिभेद का पालन कठोरता से होता है, तो उनके वंशजों द्वारा उसका पालन न किया जाना बड़ी उद्वेगजनक और लज्जास्पद बात है। कंठ्यादि वर्गों के अनुरूप स्वरों का अपने-अपने वर्ग के व्यंजनों के साथ ही विवाह होना उपयुक्त होने पर भी अन्य वर्गों के व्यंजनों के साथ उनका संबंध जोड़ा जाता है, यह बड़ी शोचनीय बात है। यह तो खुलेआम वर्णसंकर है। संयुक्ताक्षर रूपी स्नेहबंधन भी स्वर्गीयों के अंतर्गत होना ही इष्ट है। व्यंजनों का भिन्नवर्गीयों के साथ गठबंधन करना वर्णव्यवस्था के सर्वथा प्रतिकूल है। जब हमारे शास्त्रों की स्पष्ट आज्ञा है कि शूद्र की छाया पड़ने से भी पाप होता है तो फिर व्यंजनों का इस प्रकार गलबहियां डाल कर प्रेमालाप करना तो घोर पातक माना जाना चाहिए। हम तो वर्णशुद्धि के इस हद तक पक्षपाती हैं कि हमारे मतानुसार तो शूद्र और अतिशूद्र वर्णों अर्थात् दंत्यऔर औष्ठ्य व्यंजनों को श्रेष्ठवर्गीय व्यंजनों से अलग करके छापने की व्यवस्था होनी चाहिए। इससे भाषा के क्षेत्र में होने वाले वर्णसंकर पर प्रतिबंध लग सकेगा।"

उपरोक्त उद्धरण बंडूनाना द्वारा लिखित 'वर्णमाला एवं अंक ज्ञान प्रवेश' नामक बृहत् ग्रंथ और उसमें ग्रंथित सामग्री से पाठकों का परिचय कराने में सहायक होगा। उनके एतद्विषयक विचारों को अमल में लाने के लिए वे इन सुधारों को भाषा में स्वीकृत करवाने वाला एक प्रस्ताव भी साहित्य-परिषद् के विचारार्थ रखने वाले हैं। इसीलिए उनके ग्रंथ का उपरोक्त परिच्छेद कुछ लंबा होने पर भी यहां उद्धृत किया गया है।

बंडूनाना की ग्रंथ लेखनक्षमता के संबंध में तो मुझे कभी कोई शंका नहीं थी पर पांडूतात्या की बात और थी। वे बड़े मौजी जीव हैं। अतः मेरे मन में बार-बार यह शंका उठती कि यह लिखने-लिखाने की जिम्मेदारी डालकर मैंने कहीं उनके गले में झंझट तो नहीं बांध दिया। एक महीने की मोहलत में से पहला सप्ताह तो उन्होंने सिर खुजाने में बिता दिया। यहां तक कि खुजा-खुजा कर

उनकी खोपड़ी पर खरोंचें पड़ गईं। परंतु इससे खोपड़ी के भीतर की उलझन का विशेष निराकरण नहीं हुआ। इसके बाद वे रोज मेरे पास आकर ग्रंथ कैसा होना चाहिए, पृष्ठों की संख्या कितनी हो, प्रत्येक पृष्ठ पर कितने शब्द हों, जिल्द का गत्ता कितना मोटा हो, आदि बातों की चर्चा करने लगे। निश्चित की हुई अवधि का दूसरा चतुर्थांश उन्होंने यों ग्रंथ के बाह्य रंगरूप के संबंध में सरपच्ची करने में बिता दिया। इस हिसाब से चले तो तात्या आगे भी क्या तीर मारेंगे इसके लक्षण मुझे दिखाई दे गए। परंतु शीघ्र ही मेरा अंदाज गलत होने के चिह्न दिखाई देने लगे। तीसरे सप्ताह में तात्या का घर से बाहर निकलना बिलकुल बंद हो गया। रात को दो-दो बजे तक उनके कमरे में रोशनी दिखाई देने लगी। उनके खर्राटे, जो आमतौर पर सड़क तक सुनाई देते थे, अब सुनाई नहीं पड़ते थे, कुछ दिन बाद वे मेरे यहां से एक कैलेंडर मांगकर ले गये। मैंने सोचा कि बचे हुए दिनों का हिसाब लगाकर काम को अवधि के भीतर समाप्त करने के लिए ही उन्हें कैलेंडर की जरूरत पड़ी होगी। उनकी इस लगन को देखकर मैं मुग्ध हो गया।

तीसरे सप्ताह के अंतमें तो उनका ग्रंथ छपाई के लिए भेजा जा चुकने की खबर कानों में आई। तात्या के बारे में आजतक मेरे मन में जो गलतफहमी थी, वह उनकी इस कर्त्तव्यपरायणता से बिलकुल दूर हो गई। अनुकूल अवसर मिलने पर मनुष्य नर से नारायण कैसे बन जाता है, इसका तात्या ने प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत किया था। एक दिन सुना कि उनके ग्रंथ की पृष्ठ संख्या चार सौ के आस-पास होने जा रही है। यह सुनकर मेरा दर्प चूर्ण हो गया और अपने सवा सौ पन्ने के क्षीणकाय उपन्यासकी मुझे लाजआने लगी। उनके प्रति हमारा व्यवहार भी बदल गया। विद्वता के तेज से उद्दीप्त उनकी मुखमुद्रा देखने की बार-बार इच्छा होने लगी और उनके दर्शनों के लिए हम तरसने लगे। बड़ी कठिनाई से उनसे मुलाकात हुई तब हम उनके साथ बड़े अदब से पेश आए। अगले महीने की पहली तारीख की ओर हमारी आंखें लग गईं। महीने के अंत में तो यह दशा हुई कि हम अपनी पुस्तकों को बिलकुल भूल गए और तात्या की विद्वता से अभिभूत होकर उत्सुकता से उनके ग्रंथ की राह देखने लगे।

आखिर वह सुनहरा दिन आया। बंडूनाना और मैं अपनी-अपनी पुस्तकों की एक-एक प्रति लेकर उनके घर गए। बरामदे में ही उनके प्रचंड ग्रंथराज के कई

गट्ठर पड़े हुए थे और तात्या उनकी ओर साभिमान दृष्टि से देखते हुए बैठे थे। हमें देखते ही उन्होंने कहा, "ग्रंथरचना मैं समझता था उतनी मुश्किल बात नहीं है। हम ध्यान नहीं देते तभी तक कुछ हौआ सा लगता है। पर एक बार निश्चय करके जुट गए कि काम बांयें हाथ का खेल हो जाता है।"

उनके विशाल ग्रंथ की तुलना में हमारे छुटभैये ग्रंथों की अवगणना होकर हमें निराशा न हो इस दृष्टि से तात्या ने हमें प्रोत्साहन दिया, और कहने लगे कि "पहले तुम अपनी पुस्तकें दिखाओ। अपना बृहद् ग्रंथ मैं बाद में दिखाऊंगा। इसमें शरमाने की कोई बात नहीं हैं। तुम लोगों का यह पहला ही प्रयत्न है यह मैं जानता हूं। तुमसे बहुत ज्यादा अपेक्षा भी नहीं है। और फिर चार-पांच सौ पृष्ठ का ग्रंथ लिख देना हर ऐरे-गैरे-नत्थू-खैरे के बूते की बात तो है नहीं।"

तात्या से अभय प्राप्त हो जाने पर हमने लजाते-शरमाते अपनी-अपनी पुस्तकें उन्हें दिखाईं। उन्होंने दोनों पुस्तकें एक-एक हाथ में लेकर पहले तो उनके वजन का जायजा लिया। फिर बोले, "एक महीने के भीतर इतनी वजनदार पुस्तक लिख देना वाकई तुम लोगों के लिए भूषणास्पद है। मैंने भी अपनी अल्प सामर्थ्य के अनुसार कोई चार सौ पन्नों का ग्रंथ लिख डाला है।" यह कहते हुए उन्होंने बढ़िया कपड़े की जिल्द और सुनहरे अक्षरों से मंडित अपने ग्रंथ की एक प्रति नाना के हाथ में रखी। ग्रंथ की जिल्द और सज्जा को देखकर एक क्षण के लिए तो नाना की आंखें चौंधिया गईं। पर जैसे ही उन्होंने पन्ना पलट कर देखा, उन्हें कुछ ऐसी दुर्निवार्य हंसी छूटी जो काबू में ही नहीं आई। हंसी का आवेग कुछ कम होने पर वे चिल्लाए : "अरे तात्या! यह तो डायरी है। वाह गुरू! इसी के बलबूते पर पिछले महीने भर से हमें झांसा दे रहे हो! मानते हैं, उस्ताद! इसके कोरे पन्ने तुम्हारे कोरे दिमाग की ही तरह शोभा दे रहे हैं! पर गुरु, यह क्या किया? डायरी ही सही; पर वह आने वाले साल की न हो तो कम से कम इस वर्ष की तो छपवानी थी। तुम्हारी गति सदा तीन लोक से न्यारी रही; पर रहे घामड़ के घामड़! यह पिछले साल की डायरी किस खुशी में छपवा मारी है? इसे खरीदेगा कौन?"

तात्या खिसिया गये। झेंपते हुए बोले, "भई, एक गलती और हो गई है। पिछले साल फरवरी में उनतीस दिन थे जबकि मैं अट्ठाइस ही दिन गिनकर चला। इससे फरवरी के बाद के महीनों में तारीख के हिसाब से वार सब गलत हो गए हैं।"

"कोई फर्क नहीं पड़ता, तात्या !जब डायरी ही पिछले साल की है, तो अव्वल तो इसे कोई खरीदेगा नहीं; और खरीदेगा भी, तो इससे उसका कोई नफा-नुकसान नहीं होगा। अब तो विंध गया सो मोती ! इसमें कितनी ही गलतियां क्यों न हों, तुम्हें ग्रंथकार बनाने का काम तो इसने पूरा कर ही दिया है। इसकी दो-दो प्रतियां अधिवेशन में भाग लेने वाले हर प्रतिनिधि को बिना मूल्य बांट देंगे। कुछ गट्ठर कम हो जाएंगे। अब इसकी सोच छोड़ो। अब आगे के काम पर ध्यान देना चाहिए।" नाना ने बात को रफा-दफा कर दिया।

अगले रविवार को नगर के सार्वजनिक पुस्तकालय के दालान में सम्मेलन की प्रारंभिक सभा करने का निश्चय हुआ। उसके प्रचार के लिए बांटे जाने वाले हस्तपत्रों का मसविदा बंडूनाना ने तैयार किया। वर्तनी और व्याकरण के नियमों के साथ अधिक परिचय न होने वाले सामान्यजनों के लिए हस्तपत्रक लिखने का काम पांडूतात्या को सौंपा गया जिसे उन्होंने बड़े समाधानकारक ढंग से अंजाम दिया। दोनों पत्रकों के नीचे हम तीनों के दस्तखत थे जिनके अंत में हमारी साहित्यिक उपलब्धि के रूप में क्रमशः "प्रसिद्ध मौलिक उपन्यासकार", "वर्णमाला एवं अंकज्ञान नामक भाषाविज्ञान एवं गणित के सैद्धांतिक ग्रंथ के रचयिता" एवं "सम्मेलन डायरी के सूत्रधार" जैसे मोहक विशेषणों की विरुदावलि जोड़ी गई थी।

होले-होले सभा का दिन आ पहुंचा। सभा का कार्यारंभ ठीक चार बजे होने वाला था। पांच-दस मिनट भी पहले पहुंच गए तो अपना रोब नहीं जमेगा इस डर से हम तीनों ऐन वक्त पर पहुंचने की योजना बना कर घर से निकले। सभा में बेहिसाब भीड़ होगी यह मानकर हमने बंदोबस्त के लिए पुलिस के दो अधिकारी बुलवा लिए थे। परंतु हम सभास्थान पर पहुंचे तब वहां पर चिड़िया का पूत भी नहीं था। ढलती उम्र के कारण हमारी दृष्टि शायद ठीक काम नहीं दे रही यह सोचकर हमने ऐनक के कांच पोंछ-पोंछ कर चारों तरफ खूब घूर-घूरकर देखा—पर सब व्यर्थ। चश्मे के शीशों में सामने उपस्थित वस्तु को स्पष्ट और हूबहू दिखाने की शक्ति तो होती है; पर शून्य के स्थान पर नई वस्तु निर्माण करके दिखाने की सामर्थ्य उनमें बिलकुल नहीं होती। हमने बड़े ठाठ से भीड़ का नियंत्रण करने के लिए पुलिस के अफसर बुलवाये थे। पर जहां भीड़ ही नहीं थी वहां वे बेचारे उसका बंदोबस्त क्या खाक करते। वे निर्विकार भाव से इधर-उधर चक्कर लगा रहे थे। पर न तो उन्हें किसी सभासद का धक्का लगा, न किसी

सभासद को उनकी ठोकर लगी। विज्ञापन में कहीं हमने तारीख, वार, समय आदि का उल्लेख करने में तो कोई गलती नहीं कर दी, ऐसी शंका आने से हमने हस्तपत्रकों का आंखों पर ऐनक चढ़ाकर वड़ी बारीकी से निरीक्षण किया, पर कहीं कोई गलती मालूम नहीं दी। अंत में यह सोचकर कि हमारी घड़ियां शायद ठीक समय नहीं बता रहीं, या फिर हमने उन्हें देखने में गलती की है, हमने तीनों घड़ियों को मिला कर देखा। पर यहां भी निराशा ही पल्ले पड़ी। घड़ियों की परंपरा के विरुद्ध तीनों घड़ियों की सुइयां बिलकुल एक समय बता रही थीं। आखिर यह सब हमारे देशवासियों की अनियमितता का परिणाम है और लोग कुछ देर से आएंगे इस निष्कर्ष पर पहुंचकर हम खामोशी से बैठे रहे और सभासदों के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे।

एक घंटा बीता, दो घंटे बीते,···पर कोई नहीं फटका। इतनी देर करके आने वाले लोगों को हमारी घड़ियां देखकर शरमिंदा न होना पड़े इस आशय से हमने अपनी घड़ियों की सुइयां छह के बजाय चार पर कर लीं। रोज शाम को वाचनालय में दस-पांच लोग नियमित रूप से पढ़ने के लिए आते थे; पर आज उनका भी पता नहीं था। हमें बाद में मालूम हुआ कि वे चौराहे तक तो आये थे; पर नीली वरदी वालों को पहरा देते देख कर दूर से ही वापस लौट गए थे। इस बात के कारण शहर भर में हमारे संबंध में तरह-तरह की अफवाएं उड़ने लगीं। उन सबका सार यह था कि पुलिस ने हम तीनों को हथकड़ी-बेड़ी से कसकर वाचनालय में नजरबंद कर रखा है। कुछ गुंड़ों ने तो यह अफवाह फैला दी कि पुलिस ने हमारी मरम्मत भी की है। यह सब जो कुछ भी हो, एक बात का हम विश्वास दिला सकते हैं कि सभा की वजह से नागरिकों की शांति में कोई खलल नहीं पहुंचा। अपराध होने के बाद अपराधी को सजा देने की निस्बत जिस प्रकार अपराध का न होना ही बेहतर होता है उसी प्रकार भीड़ होकर उसका नियंत्रण होने के बजाय भीड़ का न होना ही श्रेयस्कर होता है इस तत्व का उस रोज हमारे और पुलिस के हाथों अनायास ही आचरण हो गया।

आखिर जब सात बज जाने पर भी किसी के आने का कोई चिह्न दिखाई न दिया तो ऊबकर हम तीनों मित्रों ने अपने बलबूते पर ही सभा की कार्रवाई शुरू कर देने का निश्चय किया। बंडूनाना से अध्यक्ष स्थान ग्रहण करने की मैंने विनती की। पांडूतात्या ने मेरे प्रस्ताव का अनुमोदन किया। नाना की योग्यता

ही ऐसी थी कि यह प्रस्ताव सर्वानुमत से पारित हुआ और वे अध्यक्ष के आसन पर विराजमान हुए। "इस सभा में मुझसे अधिक योग्यता वाले कई लोग होने पर भी आपने यह सम्मान मुझे दिया इसलिए में आप लोगों का अंतःकरणपूर्वक आभार मानता हूं।" आदि विनयपूर्ण शब्दों से आरंभ करके नाना ने प्रास्ताविक भाषण दिया। उसे सुनकर प्रस्तावक और अनुमोदक सभासदों ने तालियां बजायीं। अन्य लोगों का समर्थन उनके मौन के आधार पर गृहीत मान लिया गया। इसके बाद इस वर्ष का साहित्य-सम्मेलन हमारे ही शहर में करना किन कारणों से उचित था इस विषय पर पांडू तात्या ने सारगर्वित भाषण किया। मैंने अपने भाषण में उनके विचारों का समर्थन किया। मेरा भाषण इतना आवेशपूर्ण हुआ कि पुलिस वालों के खर्राटों को छोड़कर पूरी सभा चित्रलिखित की तरह स्तब्ध रही। तीसरा प्रस्ताव खुद अध्यक्ष महोदय ने प्रस्तुत किया और मैंने उसका अनुमोदन किया। इस प्रस्ताव द्वारा अभ्यागतों की यथायोग्य खातिर-तवाजह करने का स्वागत समिति को आदेश दिया गया। वैसे देखा जाए तो क्या स्वागत समिति और क्या कार्यकारिणी, सभी समितियों में हम तीनों के ही नाम थे। एकरसता टाल कर कुछ वैचित्र्य लाने के लिए सिर्फ इस बात का ध्यान रखा गया था कि हर समिति में हमारे नामों का उल्लेख भिन्न क्रम से हो। यह प्रस्ताव भी सर्वानुमत से मंजूर हुआ। फर्क सिर्फ इतना रहा कि उसके प्रस्तावक खुद अध्यक्ष महोदय होने के कारण उसके पक्ष में एक वोट अधिक मिला।

इस प्रकार परिषद् की आरंभिक सभा हमारी अपेक्षा से भी अधिक शांति के साथ पूरी हुई। सभा में उत्तम व्यवस्था और अनुशासन रखने के लिए हमने पुलिस अधिकारियों को धन्यवाद दिया और वे यथोचित दस्तूरी स्वीकार करके विदा हुए। एक बुद्धिमानी मैंने अवश्य की। जोर-जोर से खर्राटे ले कर सभा के काम में व्याघात डालने के हरजाने स्वरूप मैंने उनकी चिरमिरी में से दो-दो आने जुरमाना काट लिया।

दूसरे दिन से हम तीनों चंदा उगाहने के लिए घर-घर घूमने लगे। इस काम में हमें ऐसा विचित्र अनुभव हुआ कि चोरों के सम्मेलन की स्वागत समिति से हमें ईर्ष्या होने लगी। उस समिति को इस कार्य के लिए कोई मेहनत नहीं करनी पड़ी थी और न उसके सदस्यों को चंदा उगाहने के लिए किसी के दरवाजे पर जूते घिसने पड़े थे। नागरिकों की जेबों और तिजोरियों में होने वाले धन को वे

अपना ही मानकर चले थे। आवश्यकता पड़ने पर रात के समय सिर्फ उसका स्थानांतर कर देने से काम चल जाता था। यह जोर-जबरदस्ती की वसूली दूसरे दिन जब लोगों के ध्यान में आती तो वे चुपचाप उसे स्वेच्छा से दिया हुआ चंदा मान लेते थे। पुलिस में रपट लिखाकर गड़बड़ी फैलाने से स्वागत समिति द्वारा उनका नाम उस रात को फिर से दाताओं की सूची में सम्मिलित किया जाने का खतरा रहता था। अब लोग रोज-रोज के प्रकट-दान की अपेक्षा एक रोज के गुप्तदान को श्रेयस्कर मानकर उसकी प्रकट चर्चा नहीं करते थे।

परंतु हमें इससे ठीक उलटा अनुभव हुआ जिसे हम जीवनभर नहीं भूलेंगे। स्वेच्छा से दिए जाने वाले चंदे के लिए हमें बार-बार लोगों के घर जाना पड़ा। अधिकांश लोग हमें ड्योढ़ी में घूसते देखकर ही नौकर द्वारा अपने अनुपस्थित होने की सूचना भिजवाने लगे। इस विधान की सचाई के संबंध में हम नौकर से हुज्जत करते तो गृहस्वामी खुद खिड़की में से झांककर कहता, "मैं खुद कह रहा हूं न कि मैं घर पर नहीं हूं। इस पर भी विश्वास न करो, तो तुम लोगों के लीचड़पन को दूर से ही नमस्कार है। कोई कर्जा वसूल करने आये हो क्या ?" इसके बाद दरवाजा धड़म् से बंद कर दिया जाता। कुछ निठल्ले लोग हमारे पहुंचते ही कोई पुस्तक हाथ में उठा लेते और उसे ऐसे मनोयोग से पढ़ने लगते कि साहित्य परिषद् आयोजित करने का उद्देश्य उसके अधिवेशन से पहले ही पूर्ण होता दिखाई देता। कुछ लोग हम पर नजर पड़ते ही अपनी घरवाली को या किसी नौकर को ऐसी सरगर्मी से डांटने लगते कि 'धी से कहो बहू को लागे'— वाली कहावत के अनुसार हम वहां का राग-रंग समझकर रास्ता नापते। एक बार हम एक बंगले वाले के यहां भिक्षादेहि की नियत से गए। उसने अपना शिकारी कुत्ता हम पर छोड़ दिया और हम जान बचाकर भागे। कुछ धूर्त लोगों ने चंदे की रकम चुपचाप लिख दी और उसे शीघ्र ही चुका देने का वादा किया। परंतु वसूली के समय वे मुंह चुराने लगे। शीघ्र ही हमारी समझ में आ गया कि रकम 'चुकाने' की बात उन्होंने किस अर्थ में कही थी। चंदा उगाहने के लिए हम सुबह ही निकलते हैं, यह समाचार फैल जाने पर भोर होते ही घूमने के लिऐ घर से बाहर निकल जाने वालों के झुंड-के-झुंड सड़कों पर दिखाई देने लगे। सुबह ताजी हवा में घूमकर शरीर को व्यायाम देने का महत्व, जिसे हम व्याख्यानों द्वारा लोगों के मन पर नहीं ठसा सके थे, उस चंदे के भय से अनायास ही पूरा

होता देखकर हमें उस दुख में भी सुख का अनुभव हुआ। चंदा उगाहने में हमें भी शारीरिक कष्ट कुछ कम नहीं पड़ा था। इस कार्य-कारणभाव से इसी सिद्धांत का समर्थन हुआ कि शब्दों की अपेक्षा कृति ही अधिक प्रभावशाली होती है और सौ उपदेशों की अपेक्षा एक मिसाल अधिक कारगार होती है। शीघ्र ही शहर में यह आलम हो गया कि हम जिस भी रास्ते से गुजरते वह वीरान हो जाता और शहर के अन्य भागों में चहल-पहल मची रहती। अंत में इस आंख-मिचौनी के खेल से हम ऊब गए। दो महीने दौड़-धूप करने के बाद उन महीनों के दिनों जितने रुपये भी जमा नहीं हुए। जितने रुपये वसूल हुए उनसे दसगुने मित्रों की मित्रता से हमें हाथ धोना पड़ा सो अलग। यह सब देखकर हमने जमा हो चुकने वाले रुपयों के भीतर ही सम्मेलन का पूरा खर्च चलाने का निर्णय लिया।

इतनी अल्प रकम में सारे खर्च को निबाहना बच्चों का खेल नहीं था। कदम-कदम पर किफायत करना आवश्य हो उठा। परिषद् के लिए अलग शामियाने बनवाने का विचार छोड़ देना पड़ा और अधिवेशन नगर वाचनालय के मकान में ही करना लाजिमी हो गया। इस के बाद आमंत्रित मेहमानों के निवास का प्रश्न उपस्थित हुआ। पांडूतात्या की हवेली वैसे तो बहुत विशाल और सब प्रकार की सुविधाओं से युक्त थी। परंतु पिछले दिनों उन्होंने डायरी छपवाने का जो अव्यापारेषु व्यापार किया था उसका कर्ज अभी तक नहीं चुका था। छापेखाने वाले की डिग्री हो चुकी थी। और कागज, छपाई, जिल्दसाजी आदि का खर्च वसूल करने के लिए उसे कुर्की का हुक्मनामा भी मिल गया था। इस हालत में निमंत्रितों को यदि उनके यहां ठहराया जाता और उसी समय लेनदार यदि कुर्की की तामील करवा देता तो अभ्यागत मेहमानों का बोरिया-बिस्तरा जब्त होने की पूरी संभावना थी। इसलिए यह विचार छोड़ देना पड़ा।

मकान बंडूनाना का भी बहुत खुला और हवादार था। परंतु उसमें मेहमानों को ठहराने लायक सिर्फ एक ही बड़ा दीवानखाना था। उस एक ही कमरे में तुकांत और अतुकात कविता के समर्थकों को या नयी और पुरानी कविता के एकांत भक्तों को एक साथ ठहराना बुद्धिमानी की बात न होती। परस्पर विरोधी ध्वजों के नीचे लड़नेवाले और अपने-अपने वादों और मतों के प्रचार में रात दिन कुकरहाव करने वाले इन वीरों का पड़ाव अलग-अलग डेरों में डलना नितांत आवश्यक था। इन सबकी अलग-अलग व्यवस्था करने की सुविधा मेरे

घर में भी थी। लेकिन वहां मच्छरों, भुनगों और पिस्सुओं का ऐसा एकछत्र साम्राज्य था कि कवियों और साहित्यकारों का नवरसयुक्त रुधिर चखने का पहले कभी न मिलने वाला मौका उन्हें मिला होता तो ग्रंथकारों को अपने इन मर्मज्ञ और रसपिपासु भक्तों की याद जीवन भर रही होती। आखिर हां-ना करते-करते मेहमानों को धर्मशाला में ठहराने का निर्णय किया गया। धर्मशाला बहुत छोटी और सुविधाहीन थी। पाहुनों की संख्या एक निश्चित मर्यादा के बाहर जाने पर उन्हें बहुत भीड़-भाड़ में और एक दूसरे के आवश्यकता से अधिक निकट-संपर्क में रहना पड़ता जो किसी भी हालत में वांछनीय नहीं था। इन सारी अड़चनों से बचने के लिए आखिर हमने एक तरकीब भिड़ाई। निर्णय हुआ कि साहित्यकारों को भेजी जानेवाली निमंत्रण पत्रिका में यह सूचना छपवा दी जाये कि शहर में इन दिनों प्लेग की महामारी फैली हुई है और स्वागत समिति द्वारा निश्चित किए हुए निवास स्थान में भी कुछ मरे हुए चूहे बरापद हुए हैं। साथ ही यह आशा भी व्यक्त की जाए कि खरे साहित्यभक्त इन छोटे-मोटे संकटों की परवाह किए बिना हमें अपनी उपस्थिति से कृतार्थ करेंगे।

परंतु इस सारी नाकेबंदी के बावजूद कुछ पेशेवर महानुभाव आने से चूकेंगे नहीं, यह हम जानते थे। सरस्वती के कुछ निस्सीम भक्त प्लेग का टीका लगवा कर भी आएंगे जरूर, इसमें कोई संदेह नहीं था। जिन शहरों में प्लेग का आरंभ पहले ही हो चुका होगा वहां से आने वाले प्रतिनिधि तो हमारी इस चेतावनी को उपेक्षणीय मानकर प्लेग की छूत अपने साथ लाएंगे और महामारी का उलटे हमारे शहर में प्रसार करके हमारा जूता और हमारा ही सर वाली स्थिति उत्पन्न कर देंगे इसका भी हमें पूरा विश्वास था। इन सब कारणों से आखिर यही तय पाया कि मरे हुए चूहे पाये जाने वाली कल्पना को हमारी शालीनता को शोभा न देने वाली बात मानकर त्याग दिया जाए।

परंतु इससे मुख्य समस्या हल नहीं हुई। सम्माननीय अतिथियों की संख्या पर किसी प्रकार का नियंत्रण न रहा तो हमारी टुटपुंजिया रकम में उनका आदर-सत्कार कैसे होगा, यह बड़ा टेढ़ा प्रश्न था परंतु बंडूनाना के कांइयांपन का भी जवाब नहीं। यह गुत्थी आखिर उन्हीं ने सुलझायी। उन्होंने ज्योतिषशास्त्र के नियमों की कुछ खींचातानी करके रामनवमी के बाद की तिथि का क्षय दिखा दिया जिससे रामनवमी और एकादशी एक साथ आ गईं। स्वागत समिति के

अध्यक्ष की हैसियत से नाना ने परिषद् के अधिवेशन के लिए यही दो दिन मुकर्रर किए और निमंत्रण-पत्रिका में यह सूचना छपवा दी कि इस साल के सम्मेलन में शास्त्राज्ञाओं का संपूर्णता से पालन करने का निश्चय किया गया है। सौभाग्य से उन्हीं दिनों एक ऐसी मतप्रणाली नई-नई प्रचलित हुई थी कि धर्म पर ऐकांतिक निष्ठा हुए बिना प्रासादिक साहित्यरचना हो ही नहीं सकती। अतः अधिकांश साहित्यकार—कम से कम उनमें के सनातन-धर्माभिमानी लोग तो—दो दिनों तक अन्नजल ग्रहण नहीं करेंगे इसकी पूरी संभावना थी। कमजोर धर्मश्रद्धा वाले दो-चार लोगों ने यदि पानी पीने का आग्रह प्रकट किया तो आंगन में का नल उनकी प्यास न बुझाने की अनुदारता दिखाने वाला नहीं था। इससे भी नीची श्रेणी की धर्मश्रद्धा वाले कुछ नास्तिकों ने यदि दूध पीने की ही जिद की, तो उनके लिए रुपये के सोलह सेर की दर से सफेदी किया हुआ पानी सप्लाई करने का ठेका गंगाप्रसाद ग्वाले को दिया जा चुका था।

अब बचे सुधारक ग्रंथकार! ये बेटे बड़े विघ्नसंतोषी और बापदादों का नाम डुबाने वाले होते हैं। इन्हीं लोगों ने पूरे देश में अनाचार फैला रखा है। इन्होंने विधवाओं का केशवपन करने की प्रथा को बंद करवा कर और अपने सिर पर बालों का छप्पर बढ़ाकर देशी नाइयों का धंधा ठप कर दिया। कथा कीर्तन बंद करवा कर धूपबत्तियों के कारखानों का दिवाला निकाल दिया। होम-हवन और व्रत-उपवास बंद करवाकर अनेक ब्राह्मणों के भोजन की व्यवस्था नष्ट कर दी। श्राद्धपक्ष में अनपढ़ ओर मूर्ख ब्राह्मणों को भी कुछ समय के लिए मृत यजमान का स्थान ग्रहण करके उसके उत्तराधिकारियों द्वारा पैर पुजवाने की जो सुविधा परापूर्व से उपलब्ध थी, उसका इन्होंने नामोनिशान मिटा दिया। पिंडदान के समय चावल का प्रयोग बंद करवा कर कौओं के लिए भूखे मरने की स्थिति पैदा कर दी। चौथेपन में कमसिन लड़कियों से विवाह करके उन्हें अपनी संपत्ति की वारिस बनाने की दुहाजू वृद्धों की उदात्त इच्छा को इन्होंने जड़मूल से काट दिया। बालविधवाओं का विवाह करवा कर उनके संबंधियों का बिना-तनख्वाह की नौकरानी प्राप्त करने का जन्मसिद्ध अधिकार छीन लिया। गांव के बाहर की खुली हवा खाकर अज्ञान के सुख में डूबे रहने वाले भंगी-चमारों को गांव के घुटनभरे वातावरण में बसाकर उनके सिर पर उनसे कुछ अधिक ज्ञान प्राप्त करने की अनावश्यक जिम्मेदारी लाद दी। सती की प्रथा को कानून बंद करवा

कर लकड़ी की टाल वालों का नुकसान तो किया ही, साथ में मृतक के पितृपक्ष के वारिसों को मिलने वाली संपत्ति से उन्हें वंचित कर दिया। एक-दो हों, तो गिनायें। इन लोगों ने तो ऐसे हजारों अनाचार समाज में फैला रखे हैं। इन्होंने कौन-कौन से भ्रष्टाचार फैलाए इसकी सूची बनाने की अपेक्षा इन्होंने क्या नहीं किया, और किस बात की कसर छोड़ दी, इसकी फहरिश्त बनाना कहीं आसान रहेगा।

सुधारकों पर आम तौर पर लगाए जाने वाले ये अभियोग सच्चे हों या न हों, इतनी बात बिलकुल सच्ची थी कि उस समय उन्हीं के कारण हमें अड़चन महसूस हो रही थी। सुधारक साहित्यकार हमें साहित्यद्रोही ही नहीं, बल्कि देशद्रोही भी दिखाई देने लगे थे। औसत आदमी अकसर अपने शहर को पूरी दुनिया और अपने-आप को पूरा देश मानकर चलता है। इस न्याय से देखा जाए तो संयोजकों को संकट में डालने वाले लोग हमें देशद्रोही दिखाई दें इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं। रह-रहकर चुभने वाले इस कांटे को निकालने के लिए पहले तो हमने यह निश्चय किया कि साहित्यकार शब्द की व्याख्या ही कुछ इस प्रकार की जाए कि नास्तिक ग्रंथकारों की उसमें गणना ही न हो सके। पांडूतात्या की रची हुइ डायरी को भी साहित्यिक रचना घोषित करने वाली हमारी मित्रमंडली सरस्वती की अनन्य भाव से सेवा करने वाले उपासकों को उसके मंदिर में घुसने से रोकने पर उतारू हो जाएं, यह बात पाठकों को कुछ विचित्र लग सकती है। परंतु उस समय हम चारों तरफ से घिरकर मजबूर हो गए थे इस बात को ध्यान में रखने पर हमारा बर्ताव बिलकुल स्वाभाविक दिखाई देगा। डूबता हुआ आदमी तिनके का भी सहारा लेता है।

परंतु इस नियम को अमल में लाने के मार्ग में भी कई कठिनाइयां दिखाई दीं। इसलिए हमने साहित्यकार शब्द की नई व्याख्या करने का विचार छोड़ दिया और सुधारकों का साहित्य परिषद् में से पत्ता काट देने के लिए निम्नलिखित सीधे-सीधे नियम बनाए :—

1.प्रत्येक ग्रंथकार को गाड़ी से उतरते ही स्वागत समिति के सदस्यों को अपनी चुटिया और जनेऊ दिखाना होगा।

2. हर साहित्यकार को दिन में तीन बार अभ्यंग स्नान से शुचिर्भूत होकर संध्या करनी होगी। संध्या करते समय बजाई जाने वाली तालियां, चुटकियां

आदि में तिलमात्र भी भूल होगी तो परमेश्वर को तो क्षोभ होगा ही, स्वागत-समिति के सदस्य भी खफा होंगे।

3. प्रत्येक ग्रंथकार को रामनवमी और एकादशी दोनों उपवास निर्जल रह कर करने होंगे। इन दिनों में अन्न का कण तो क्या पानी की बूंद भी पेट में न जाए, तो उत्तम है। यदि यह संभव न हो, तो केवल पानी पर, या अपवादात्मक रूप से, दस गुना पानी मिले हुए दूध पर गुजारा करना होगा।

4. जो साहित्यिक इन नियमों का पालन करना न चाहें, उन्हें दो रोज के भोजन खर्च के लिए दस रुपये की रकम देनी होगी।

इस प्रकार निमंत्रितों के भोजनव्यय की व्यवस्था तो हो गई। इस प्रस्ताव में पांडूतात्या ने एक सुधार सुझाया कि इन दिनों स्वागत-समिति के सदस्यों पर काम का बोझ बहुत अधिक रहेगा और अतिथियों का सत्कार करते-करते वे शारीरिक और मानसिक, दोनों स्तरों पर इतने थक जाएंगे कि उनके दोनों समय के भोजन का उत्तम प्रबंध होना चाहिए। यह सूचना सर्वानुमत से स्वीकृत हुई। इस मद का पूरा खर्च चंदे की रकम में से ही किया गया, यह अलग से बताने की जरूरत नहीं। चौके की व्यवस्था करने की पूरी जिम्मेदारी उन्हें सौंप दी जाए ऐसी एक और विनम्र उपसूचना भी पांडूतात्या ने की थी। परंतु इस स्थिति के खतरों को मद्देनजर रखते हुए हमने उसे मंजूर नहीं किया।

परिषद् में स्थानीय निवासियों की ओर से कुछ प्रस्ताव रखे जाने वाले थे। उनमें के कुछ यहां दिये जाते हैं :—

(क) बंडूनाना के प्रस्ताव :—

1. सामाजिक वर्णव्यवस्था के अनुसार लिपि मेंभी वर्णव्यवस्था होनी चाहिए (इस प्रस्ताव का ब्योरेवार विवेचन और बंडूनाना द्वारा उसका समर्थन उनके ग्रंथ की प्रस्तावना में किया जा चुका है।)

2. प्रकाशकों को चाहिए कि वे साहित्यकारों के ग्रंथों को ग्रंथप्रकाशन में लगने वाली लागत से आधे खर्च में छाप दें।

3. किसी भी ग्रंथ का बहुत सी प्रतियों वाला एक ही संस्करण छापने के बजाए थोड़ी-थोड़ी प्रतियों के अनेक संस्करण एक साथ छापने चाहिए। पुनर्मुद्रण में संस्करण की संख्या के सिवा और कोई परिवर्तन नहीं करना पड़ेगा। इस

प्रकार नए लेखकों की पुस्तकों के भी अनेक संस्करण हो कर उन्हें प्रोत्साहन मिलेगा।

4. सरकार को चाहिए कि व्यवहार में चलने वाली नोटों की संख्या एकदम दुगुनी कर दे। इससे पुस्तकों की कीमत दुगुनी की जा सकेगी और ग्रंथकरों की आय भी दुगुनी हो जाएगी।

5. उपन्यासों का प्रसार समाज के लिए अनिष्ट होने के कारण उनकी कीमत प्रति पृष्ठ दो पैसे के हिसाब से निश्चित की जाए। इस प्रकार फारी कीमत के कारण उनकी बिक्री अपने-आप कम हो जाएगी। बेचते समय उपन्यास की प्रत्येक प्रति के साथ दियासलाई की एक-एक डिबिया मुफ्त दी जाए ताकि पढ़ने के बाद उपन्यास को जलाने में सुविधा रहे।

(ख) पांडूतात्या के प्रस्ताव :—

1. अनुस्वार और ह्रस्व-दीर्घ के संबंध में व्याकरण में जो जटिल और कठोर नियम प्रचलित हैं, उन्हें तुरंत हटा दिया जाए। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार ह्रस्व-दीर्घ का प्रयोग करने की छूट होनी चाहिए।

2. शास्त्रीय या वैज्ञानिक विषयों के ग्रंथों में भी चार से अधिक अक्षरों का शब्द या दो से अधिक पंक्तियों का वाक्य नहीं होना चाहिए। सम्मेलन इस नियम का कठोरता से पालन करवाए।

3. डायरियों की कीमत अकसर बहुत कम रखी जाती है। अतः हर प्रकार की डायरियों का मूल्य तुरंत बढ़ा दिया जाए।

(ग) खुद मेरे प्रस्ताव :—

1. अंग्रेजी उपन्यासों का अपनी भाषाओं में अनुवाद या रूपांतर करते समय उनके रस्मोरिवाज की भिन्नता के कारण ग्रंथकारों को बड़ी जहमत उठानी पड़ती है। इस परेशानी से बचने के लिए अंग्रेज समाज के रीति-रिवाज, कायदे-कानून, विवाहपद्धति, नृत्यगीतादि, मनोरंजन के प्रकार एवम् उनकी तहजीब के अन्य नियम अपने देश में अनिवार्य तौर पर प्रचलित कर दिए जाएं।

2. ऐतिहासिक ग्रंथों में स्वदेश-विषयक कथन सदा स्तुति-परक होने चाहिए, निंदा या आलोचनात्मक नहीं। माना कि सत्यकथन ही इतिहास का चरम उद्देश्य

होता है। परंतु अकसर मन को प्रिय लगने वाली वस्तु ही सत्य लगने लगती है। अतः प्रशंसात्मक विधानों द्वारा सत्य का कहीं विपर्यय भी हो जाता हो, तो उसे असत्य न माना जाए।

3. हमारी सामाजिक रूढ़ियों की कठोर आलोचना या निंदा करने वाली पुस्तकों को कोरे कागज की डायरियां समझ कर बेचा जाए और उसी अनुसार उनकी कीमत भी न्यूनतम रखी जाए ताकि ग्रंथकारों को विशेष लाभ न हो और अन्य लेखकों को ऐसे ग्रंथ लिखने की रुचि न रहे।

इस प्रकार विविध प्रस्तावों का स्वरूप निश्चित हो जाने के बाद निमंत्रण-पत्रिकाएं भेजने का काम शुरू किया गया। हस्तपत्रकों के नीचे जिस प्रकार हम तीनों मित्रों के दस्तखत थे उसी प्रकार निमंत्रण-पत्रिकाएं भी हमारे ही नाम से छपवाई गईं। इन पत्रिकाओं में संबोधन की शब्दावली में हमने पराकाष्ठा की नम्रता धारण की थी। लक्ष्मी के साथ पुश्तैनी बैर होने वाले अकिंचन सरस्वतीपुत्रों पर श्रीमान, श्रीयुत आदि विशेषणों की वर्षा करके हमने उन्हें लक्ष्मीनंदन बना दिया था। जिन ग्रंथकारों के साथ हमारा नाममात्र का परिचय था उन पर रायसाहब, रायबहादुर आदि पदवियों की वर्षा की गई थी। दरअसल इस प्रकार की शाब्दिक उदारता प्रकट करने में दमड़ी का भी खर्च नहीं होता। फिर भी न मालूम क्यों, कुछ कृपण लोग इसमें भी कोताही कर जाते हैं। हम उन मक्खीचूसों में से नहीं थे, यह पाठकों को अब तक मालूम हो ही गया होगा।

निमंत्रण-पत्रिकाओं पर नाम लिख कर तैयार हो जाने के बाद उन्हें बंडूनाना के हवाले कर दिया गया। उन्हें लिफाफे में डाल कर और पता लिख कर रवाना करने की जिम्मेदारी उन पर थी।

पत्रिकाएं भेजे कई रोज हो गए, पर किसी का भी कोई जवाब नहीं आया। किसी भलेमानस ने दो पैसे का कार्ड लिख कर पहुंच तक नहीं दी। हम सोचने लगे कि ये साहित्यकार भी बड़े अभिमानी जीव होते हैं। व्यवहारज्ञान का तो इनमें छींटा भी नहीं होता। हमने तो इतनी सरपच्ची करके परिषद् की तैयारी की, इतनी जहमत उठाकर और इतना अपमान सहन करके चंदा उगाहा, इतनी नम्रता से निमंत्रण पत्र भेजे, पर इनको इसकी कोई कीमत ही नहीं। हम महीनों से काम में लगे हुए हैं; हम तीनों ने अत्यंत नीरस होने पर भी विशाल ग्रंथों की रचना की, और एक यह हैं कि दो पंक्ति का पत्र भी नहीं लिख सकते। फिर हमें

ख्याल आया कि पहले से सूचना देकर आने के बजाय शायद सबने अचानक आन कर हमें आचर्श्यचकित करने की बात सोची हो। वैसे भी ये लेखक लोग अद्भुत रस के बड़े शौकीन होते हैं। सीधी सी बात को भी ये लोग बड़े विलक्षण ढंग से कहते हैं। दुनिया की चाल से उलटे चलने की इनकी हौंस दुर्निवार्य होती है। अतिशयोक्ति को एक अनावश्यक दुर्गुण मानने के बजाय इन लोगों ने उसे अलंकारों की श्रेणी में ला बैठाया है। विदेशी ग्रंथकारों का अनुकरण करके बचकानी हरकतों और ऊलजलूल बकवास को विनोद का नाम दे दिया है। किसी के पत्रों का उत्तर न देना भी शायद इन लोगों की दृष्टि में कोई अलंकार या उच्च कोटि का विनोद हो।

रेल का स्टेशन शहर से काफी दूर था। फिर भी हमने चैत्र शुक्ला अष्टमी की सुबह से ही हर गाड़ी को देखना शुरू किया। बारी-बारी से हम तीनों स्टेशन के चक्कर काटते रहे। सवारी गाड़ी तो क्या, मालगाड़ी का भी एक-एक डिब्बा हम देखे बिना नहीं छोड़ते थे। परंतु पुस्तकों के एक भी रचयिता, आलोचक, प्रकाशक, मुद्रक, जिल्दसाज या विक्रेता तो क्या, किसी शौकीन पाठक के भी दर्शन नहीं हुए। अब हमारे मन में विचार आया कि सारे ग्रंथकारों ने शायद आखिरी गाड़ी से एक साथ आकर हमें आश्चर्यचकित कर देने की योजना बनाई हो। अतः आखिरी गाड़ी के समय तो हम तीनों मित्र फूलमालाएं लेकर सुबह चार बजे ही स्टेशन पर हाजिर हो गए। गाड़ी यथासमय आयी। उसमें से उतरने वाला प्रत्येक यात्री साहित्यकार होना ही चाहिए यह धारणा हमारे मन में इस हद तक घर कर गयी थी कि हमारे हाथों कुछ विलक्षण गलतियां हो गईं। हर यात्री को देखकर स्नेहाश्रु से हमारी आंखें डबडबा आतीं। बंडूनाना ने तो गार्ड को कोई बड़ा साहित्यकार समझ कर भरे प्लेटफार्म पर उसे आलिंगन में कस लिया। उधर पांडू तात्या इंजन में कोयला झोंकने वाले को नवकवि मानकर उससे हस्तांदोलन करने लगे। कुछ यात्रियों ने हमें उनका सामान उठाते देख कर चोर-चोर का शोर मचा दिया जबकि कुछ घाघ यात्रियों ने हमें सामान चुपचाप उठाने दिया। इतना ही नहीं स्टेशन के बाहर तक ले जाने दिया और उसे तांगे में रखवाने के बाद ही हमसे अपरिचय प्रकट किया। तब कहीं जाकर हमारे दिमाग में यह बात आयी कि वे ग्रंथकार या प्रकाशक तो क्या, पुस्तकें पढ़ने की तकलीफ उठाने वाले पाठक भी नहीं थे। इनसे भी उच्चकोटि के कुछ परमघाघ मुसाफिरों ने बड़ी मासूमियत

से हमें कुली समझ लिया और दो-चार पैसे मजदूरी भी देना चाहा। गुस्से में आकर उन्हें दूर फेंक देने के सिवा और चारा ही क्या था।

घर लौटकर हम विचार करने लगे कि इस गड़बड़ी की जड़ में क्या कारण हो सकता है। हमें अधिक देर तक संशय में नहीं रहना पड़ा। दोपहर की डाक से ही बंबई के डेड-लेटर-आफिस द्वारा भेजा हुआ लिफाफों का एक बहुत बड़ा पुलंदा हमें मिला। देखा तो वे हमारे भेजे हुए निमंत्रण-पत्र थे। बारीकी से देखने पर मालूम हुआ कि लिफाफे पर पते ही नहीं लिखे गए थे। डेड-लेटर-आफिस ने भीतर की निमंत्रण पत्रिकाओं पर भेजने वाले का पता पढ़ कर उन्हें हमें लौटा दिया था।

यह सब बंडूनाना का जौहर था।

24. चित्रकार

चित्रकला का हर जानकार इस बात को मान्यता देगा कि कवियों की तरह चित्रकार भी जन्म लेते हैं; बनाए नहीं जाते। रसिकों के हृदय को मुग्ध कर देने वाले कर्णमधुर गीतों का बीज जिस प्रकार सद्यजात शिशु की कानों के परदे फाड़ देने वाली चीखों में होता है उसी प्रकार देखने वालों को आश्चर्यचकित कर देने वाले चित्रों का उद्गमस्थान उसकी बंधी हुई मुट्ठियों में होता है।

यह नियम जितना हमारे पांडूतात्या के संबंध में चरितार्थ हुआ उतना अन्यत्र होना मुश्किल है। सूक्ष्म अवलोकन करने वालों को उनकी बचपन की लीलाएं देखकर उनके भविष्य की घोषणा करने में कोई कठिनाई न हुई होती। पालने के ऊपर टंगे हुए खिलौने के सामने घंटों तक टकटकी लगाकर ताकते रहने की और किसी भी चित्र को देखते ही उसे मुंह में डालकर चबा-चबाकर आत्मसात कर लेने की वृत्ति उनमें जन्म से ही थी। उनके घर में एक बार गणेशोत्सव के दिनों में मूषक पर विराजमान गणेशजी की मिट्टी की मूर्ति मंगवाई गयी थी। बालक तात्या ने सबकी नजरें बचा कर उसे हाथ के मोदक और सवारी के मूषक के साथ उदरस्थ कर लिया। शैशवावस्था में वे खाते समय अपनी देह को जूठन से मंडित कर लेते थे। कोयले से स्लेट घिसकर साफ करते समय वे पूरे शरीर को बड़ी कलात्मकता से रंग लेते थे और पाठशाला में हमजोलियों के साथ नोचखसोट करते समय वे उनके शरीर पर नाखूनों की सहायता से बड़ी चित्र-विचित्र नक्काशी खरोंच देते थे। उनकी ये बाललीलाएं चित्रकला के साथ-साथ उनमें सुषुप्तावस्था में बसने वाली कोयला-चित्रण और नख-चित्रण कलाओं की परिचायिका थीं। इसी प्रकार मारपीट के मौकों पर वे अपने विरोधियों के गाल पर थप्पड़ मारकर पांचों उंगलियों के निशान जिस कलात्मकता से उठाते थे वह भी

उनकी भविष्य की कलाप्रियता की पूर्वसूचना मात्र थी।

परंतु चित्रकला का महत्व तात्या के मन पर अमिट तौर से अंकित करने वाले और भी कई कारण थे। एक बार एक सचित्र पुस्तक उनके देखने में आई। उसके मुखपृष्ठ पर गणेशजी का संदर सतरंगा चित्र था जिसके बलबूते पर ही प्रकाशक उस पुस्तक की चौगुनी कीमत वसूल करता था। चित्रकला के सहयोग से साहित्य का मूल्य और महत्व यों अनेकगुना बढ़ता देखकर तात्या के मन मे उस कला के प्रति आदर उत्पन्न होना स्वाभाविक था। उन्हीं दिनों शहर में एक नाटक मंडली आई हुई थी। उसके नेपथ्य का चित्रण वैसे तो किसी ग्रामीण चित्रकार ने किया था। परंतु भड़कीले रंगों से रंगे हुए वे परदे हम बच्चों को इतने वास्तविक लगते थे कि गर्मी के दिनों में शकुंतला नाटक के तपोवन का दृश्य दिखाने वाले परदों के सामने बैठने पर हमें जलती हुई लू की झुलस महसूस नहीं होती थी और सर्दियों में हरिश्चंद्र नाटक के दावानल के दृश्य के सामने बैठकर हम घंटों तक हाथ सेंका करते थे। जीवन की छोटी-मोटी आवश्यकताएं पूरी करने में चित्रकला का ऐसा महत्त्वपूर्ण योगदान देखकर तात्या का उसकी ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था।

उन दिनों यह कला कुछ विशेष कठिन या कष्टसाध्य है, यह मानने का भी कोई कारण नहीं था। हमारे बचपन में जो चित्र हम लोगों के देखने में आते थे उनके लिए कोई विशेष ज्ञान संपादित करने की आवश्यकता दिखाई नहीं देती थी। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो संपादित ज्ञान को बिसार देना ही श्रेयस्कर दिखाई देता था। उस जमाने के चित्रों में सभी चेहरे प्राय: एक जैसे और समान रूप से एक तरफ को घूमे हुए हुआ करते थे। देखने वाले की आंखों से आंखें मिलाने का साहस उनमें से किसी को नहीं होता था। चित्रांकित व्यक्तियों में से अधिकांश फिर वे चाहे जिस पेशे के हों—के हाथ में कोई न कोई फूल अवश्य होता था। इतिहास प्रसिद्ध नवाबों-बादशाहों के हाथ में क्वचित फूल के बदले बाज या अन्य कोई शिकारी पक्षी भी दिखाई दे जाता था। चेहरे सबके निरपवाद रूप से निर्विकार और भावशून्य हुआ करते थे। परिणामस्वरूप उन्हें देखकर देखने वालों के मन में भी कोई भाव उत्पन्न नहीं होता था। सब मिलाकर उस युग की चित्रकला तत्कालीन अन्य बातों की तरह सरल और सीधीसादी हुआ करती थी।

तात्या ने चित्रकारी का आरंभ इससे भी सरल सोपान पर किया। चेहरे के

स्थान पर एक बड़ा-सा गोलक; मुंह की जगह एक छोटा वर्तुल; आंखों के बदले दो भिन्न आकार के छोटे-मोटे वर्तुल; नाक के स्थान पर एक तिकोन और हाथ-पांव की जगह कुछ टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएं। बस···इतने कच्चे मसाले की सहायता से वे किसी भी मनुष्याकृति को रेखांकित कर सकते थे। भीम के लिए एक आकृति और सुदामा के लिए दूसरी, ऐसा भेदभाव उनके यहां नहीं था। कलोत्पादन के क्षेत्र में वे स्वयं विधाता से भी अधिक निष्पक्षपाती थे। जगत् का आरंभ होने से पहले वह जिस प्रकार अव्यक्तावस्था में था उसी प्रकार तात्या की कला भी आरंभ में अमूर्तावस्था में थी। महानुभावपंथ के अनुयायियों की तरह उनके स्त्री-पुरुषों को भी एक-दूसरे से भिन्न करके पहचाना नहीं जा सकता था। परंतु शीघ्र ही वे पुरुषों के सिर पर चोटी और स्त्रियों के सिर पर जूड़े की स्थापना करने लगे। इससे स्त्री-पुरुष के बीच का स्थूल भेद स्थापित होकर वे अलग-अलग पहचाने जाने लगे। इसी प्रकार आरंभ में उनके चित्रों के स्त्री-पुरुष ईसाई पुराणों में वर्णित मनुष्य जाति के आद्य पूर्वजों की तरह कम से कम वस्त्रों से अवगुंठित हुआ करते थे। परंतु कुछ समय बाद, शायद खुद ही लज्जा महसूस करके, वे उन्हें प्रचुर वस्त्रालकारों से मंडित करने लगे। इससे कृष्ण द्वारा चीर बढ़ाया जाने पर द्रौपदी को जो आनंद हुआ था, कुछ उसी प्रकार का आनंद उनके चित्रों की स्त्रियों को भी हुआ होगा। फिर धीरे-धीरे उन्होंने स्त्रियों के गले में मंगलसूत्र बांधकर और हाथों को चूड़ियों से भरकर उन्हें सौभाग्यदान और चूड़ादान दिया। पुरुषों के सिर पर पगड़ी या टोपी दिखाई देने लगी। परंतु चेहरे पर किसी भी प्रकार की विशिष्टता या भाव दिखाई देने के चिह्न अब भी दिखाई नहीं दिए। उनके समस्त मानसपुत्र और पुत्रियां जुड़वां भाई-बहन दिखाई देते थे। सबके चेहरे एक से—सबकी मुखमुद्रा एक सी ! बात यहां तक बढ़ी कि एकबार उन्होंने जब अशोक वाटिका में बंदिनी सीता और पहरा देने वाली त्रिजटा का चित्र बनाया तो उनमें से सीता कौन है और त्रिजटा कौन, यह पहचानना मुश्किल हो गया। एक अन्य चित्र में कुरुक्षेत्र स्थित अर्जुन के रथ का निरूपण हुआ था। परंतु ध्वज पर विराजमान हनुमानजी की अपेक्षा सारथ्य करने वाले कृष्ण का चेहरा ही अधिक वानर-सदृश्य हो जाने के कारण देखने वालों के मन में यह शंका उत्पन्न होने लगी कि दोनों ने कहीं अपने-अपने स्थानों का अदल-बदल तो नहीं कर लिया। उनके चित्रों का रावण सिर्फ उसके सिरों की संख्या के सहारे ही पहचाना जा सकता था। एकबार

कागज की चौड़ाई कम होने के कारण उन्होंने रावण के दस के बजाय छह सिरों से ही काम चला लिया। प्रसंग सीताहरण का था। अतः सीता को कंधे पर उठाकर भगा ले जाने का पातक बेचारे स्त्रीद्वेष्टा कार्तिकेय को सहन करना पड़ा। एक बार उन्होंने भारी परिश्रम से रति का चित्र तैयार किया। परंतु अरसिक सामान्य जनों के मन में मार्मिकता का संपूर्ण अभाव होने के कारण लोग प्रश्न पूछने लगे कि यह चित्र शूर्पणखा का है या हिडिंबा का।

चेहरों को लेकर देखने वालों के मन में जो गलतफहमी होती थी उससे बचने के लिए तात्या ने सिर्फ ऐसे ही व्यक्तियों के चित्र बनाने का निश्चय किया जिन्हें देखने पर दुविधा की कोई गुंजाइश ही न रहे। ऐतिहासिक पुरुषों में शिवाजी महाराज अपनी वैशिष्ट्यपूर्ण दाढ़ी-मूंछों की वजह से और रामदास स्वामी अपनी कौपीन-कुबड़ी के सरंजाम के कारण अनायास ही इतर जनों से भिन्न दिखाई देते हैं। इसी प्रकार सूंड की वजह से किसी भी प्रकार की गलतफहमी की संभावना न छोड़ने वाले गणेशजी भी सब देवताओं से भिन्न दिखाई देते हैं। शीघ्र ही ये तीनों तात्या की चित्रकला के प्रिय विषय बन गये।

अब तात्या अपने चित्रों के माध्यम से हास्य, शोक और भय के भाव बड़ी सरलता से व्यक्त करने लगे, उनके कुछ चित्रों को देखकर प्रेक्षकों का हंसते-हंसते बुरा हाल हो जाता था जबकि कुछ को देखकर उनका मुंह सूखकर चेहरा रुआंसा हो उठता था। इन परिणामों की उत्पत्ति वैसे तो अन्य कलाकारों के चित्रों को देखकर भी हो सकती थी; पर तात्या की विशेषता यह थी कि अकसर ये भाव उनके विपरीतभाव दर्शक चित्रों को देखकर उत्पन्न होते थे। चित्र का प्रसंग आनंददायी होता तो देखने वाला अवश्य ही सुबकने लगता और दुःखदायी होता तो प्रेक्षक ठठाकर हंसने लगता। उनके चित्रों में इतनी सामर्थ्य होती थी कि वे बड़े से बड़े आशावादी को निराशावादी और निराशावादी को आशावादी बना सकते थे। केवल रंगों और कूंचियों की सहायता से मनुष्य के बुनियादी स्वभाव में इतनी बड़ी क्रांति ला देने की क्षमता संसार के इने-गिने चित्रकारों में ही पायी जाती है।

अपनी चित्रकारी का ऐसा मूलगामी परिणाम होता देखकर तात्या ने चित्रों की मानो टकसाल शुरू कर दी। उनके चित्रों को मोल देकर खरीदने वाले रसिकों ने इस भूमि पर अभी जन्म नहीं लिया था। इसलिए उन्होंने उन्हें मुफ्त बांटने की परि-

पाटी चलाई। शहर के घर-घर में तात्या के चित्र दिखाई देने लगे और लोगों का दीवानखानों में बैठना मुश्किल हो गया। उनके द्वारा अंकित देवी-देवताओं के चित्र देखकर लोग नास्तिक होने लगे। उनके हिसाब से सुंदर होने वाली स्त्रियों की चित्राकृति को देखकर कवियों की प्रतिभा जल कर भस्म होने लगी। उनके रति के चित्र को देखने वाले बच्चे रात की नींद में डरने लगे, यहां तक कि शीघ्र ही वह चित्र सुलभ प्रसूति के लिए आसन्न प्रसवा स्त्रियों में बड़ा लोकप्रिय हुआ। चित्रों की इस बाढ़ से बचने के लिग कुछ लोग शहर छोड़कर भागने का विचार करने लगे जबकि कुछ लोगों ने जिलाधीश को अर्जियां लिख भेजीं कि चित्रकला को हत्या की बराबरी का अपराध घोषित कर दिया जाए। सुवह-सुबह उनके चित्रों पर नजर पड़ती तो दिन भर दुकानदारों की बोहनी न होती और उन्हें रात दिन आंखों के सामने रखने पर तो एक-दूसरे पर प्राण निछावर करने वाले पति-पत्नी में और राम-लक्ष्मण जैसे भाइयों में भी झगड़े होने लगते। चित्रों की इस भरमार से सिर्फ एक फायदा हुआ। नवोदित चित्रकारों को उन्हें देख-देख कर बड़ा दिलासा मिला। वे सोचने लगे कि उन्होंने यदि आंखें वंद करके कागज या कॅनवस पर कूंची के बदले झाड़ू भी फेर दी तो भी कोई चिंता की बात नहीं। तात्या की चित्रकारी ने वाकई ऐसे नये मानदंड स्थापित किये थे कि इससे आगे किसी भी चित्रकार का चित्र लोगों को नापसंद होने की संभावना ही न थी। उदीयमान चित्रकारों को इससे बड़ा संतोष हुआ।

अपने चित्रों का अपेक्षा से ठीक उलटा परिणाम होता देखकर तात्या प्रेक्षकों पर जो प्रभाव डालना हो उससे ठीक उलटी विषयवस्तु के चित्र बनाने लगे। बारात का दृश्य चित्रित करना हो तो वे जानबूझकर श्मशान यात्रा का चित्र बनाते और बाग का दृश्य दिखाना हो तो सहारा का रेगिस्तान अंकित करते। इसी प्रकार समुद्र अभिप्रेत हो तो पहाड़ और पर्वत इष्ट हो तो महासागर का चित्र बना देते। फोटो खींचते समय नेगेटिव में जिस प्रकार काले की जगह सफेद और सफेद के स्थान पर काला दिखाई देता है, कुछ वैसी ही प्रक्रिया तात्या की चित्रकला के संबंध में भी पायी जाने लगी।

बाद में कुछ दिनों तक तात्या को ऐतिहासिक प्रसंग अंकित करने का शौक चर्राया। परंतु इस क्षेत्र में उपरोक्त उलटबांसियों का प्रयोग कारगर होने की संभावना नहीं थी। मन में औरंगजेब की कल्पना करके शिवाजी महाराज का

चित्र वनाना या सवाई माधवराव पेशवा के समय के रंगोत्सवों का चिंतन करके पानीपत के युद्ध का दृश्य अंकित करना संभव नहीं था। अत: अब वे हूबहू चेहरे चित्रित करने की कला साधने की कोशिश में लग गए। इसके लिए पहले उन्होंने शीशे में देखकर अपना ही चेहरा चित्रित करने का निश्चय किया। परंतु इस बात का संकल्प जितना आसान था उतना उसे अमल में लाना नहीं था। आरंभ में तो दर्पण के सामने खड़े होते ही मुंह वना-बनाकर खुद अपने आप को चिढ़ाने की इच्छा उनके मन में दुर्निवार्य हो उठती और वे उसी प्रवाह में बहने लगते। वे दांत किटकिटाते, जीभ बाहर निकालते, नाक सिकोड़ते, गर्दन झटकते, भौंहों का तांडव नृत्य करते, मुट्ठी भींच कर अपने ही प्रतिबिंब को डराते और फिर इन सारी मर्कटलीलाओं को देखकर पेट पकड़-पकड़कर हंसते। इस प्रकार काफी देर तक अपने आपको चिढ़ा लेने के बाद उन्हें अपने संकल्प की याद आती। शीघ्र ही वे हाथ में कागज-कलम लेकर और चेहरे पर गंभीरता धारण करके लिखने का स्वांग भरते और अपनी इस दार्शनिक मुद्रा को घंटों तक दर्पण में निरखते। एक बार इस ध्यानसमाधि के दरमियान उन्हें जोर से छींक आ गयी। एक के बाद दूसरी, तीसरी, यों लगातार छह-सात छींकें आयीं। करुणरसपर्यवसायी नाटक में शोक रस का पद घोट-घोटकर गाते समय गायक को बीच में ही छींक आ जाए, तो उसके मुख पर जिस प्रकार की लाचारी की मुद्रा अंकित होगी, कुछ उसी प्रकार के भाव इस प्रथमग्रासे मक्षिकापात: को देखकर तात्या के चेहरे पर भी आए। नाक सिनककर और चेहरा पोंछकर वे फिर स्वरूपदर्शन के रियाज में लग गए। अब की बार एक मधुमक्खी उनके प्रतिबिंब के गाल पर बैठने का प्रयत्न करने लगी। उन्होंने उसे एक जोरदार रहपट रसीद किया जिसके परिणामस्वरूप एक ओर तो शीशा टूटकर उनकी हथेली लहूलुहान हो गयी और दूसरी ओर गाल पर सचमुच की मधुमक्खी ने डंक मारा। तथापि इन छोटे-मोटे विघ्नों की ओर ध्यान न देने का तात्या ने दृढ़ निश्चय किया। पुन: एक बार स्वस्थ होकर वे तैयार हुए। इस बार उनके मन में आया कि कूंची हाथ में लेकर चित्र बनाने की मुद्रा को चित्र मेंअंकित किया जाए। शीघ्र ही हाथ का चित्र और कूंची एवम् चेहरे को छोड़कर शरीर के बाकी अंगों का एवं बैठने के ढंग का चित्रण फलक पर हो गया।

अब रहा चेहरे का रेखांकन। दरअसल यह कोई कठिन बात नहीं थी। उनके

चेहरे पर दाढ़ी-मूंछ का ऐसा घना जंगल फैला हुआ था कि उसके बीच में से गाल, होंठ, ठोड़ी आदि फुटकर अवयवों के दिखाई देने की संभावना ही नहीं थी। उन की मूंछों की बाढ़ तो इतनी रफ्तार से होती थी कि मूंछें मुड़वाकर उन्हें शाकुंतल नाटक के पहले अंक में शकुंतला की भूमिका दी गई हो, तो नकली दाढ़ी-मूंछ लगाने का झमेला फैलाए बिना ही वे दूसरे अंक में दुष्यंत की, चौथे अंक में कण्व की, सातवें में सर्वदमन के साथ खेलने वाले सिंह की ओर अंत में मारीच की भूमिका सुगमता से निभा सकते थे। उनके चेहरे पर का जंगल हम लोगों के मजाक का विषय बन चुका था। हम कहते, "तात्या, तुम कहीं भी जाओ, इस जंगल से तुम्हारा छुटकारा नहीं और इसी कारण से तुम्हारी जंगलीपन की आदतें सुधरना भी मुश्किल है।" इस हालत में उनके चेहरे का रेखांकन करते समय आरंभ में तो केवल काले रंग से दो-चार बार आड़ी-तिरछी कूंची फिरा देने भर से काम चल सकता था। बाकी के अवयव बाद में सुविधानुसार रंगे जा सकते थे। इन कारणों से तात्या को अपनी मुखश्री का चित्रण करने में तो कोई कठिनाई नहीं हुई। परंतु बहुत प्रयत्न करने पर भी आंखों का चित्रण नहीं हो सका। आंखों को हाथ में के चित्र की तरफ झुकी हुई दिखाना आवश्यक था। इसके लिए चित्र की ओर देखना जरूरी था। परंतु ऐसा करने में दर्पण की ओर से आखें हटानी पड़ती थीं और अपना प्रतिबिंब दिखाई नहीं पड़ता था। यदि दर्पण की ओर देखें, तो आंखें चित्र पर से हट जाती थीं। तात्या ने दो-तीन घंटे तक प्रखरसाधना की; पर आंखें चित्र की ओर नीचे और दर्पण की ओर ऊपर एक साथ नहीं देख सकीं। आखिर हारकर उन्होंने आंखों का चित्रण कल्पना की सहायता से ही पूरा किया।

यह सब झंझट पूरा हो जाने के बाद उन्होंने अपने बनाए हुए चित्र पर साभिमान नजर डाली ही थी कि घोर निराशा से कर्म ठोंकने की नौबत आ गयी। जिस बात का उन्हें डर था, वही हुआ। चित्र को हूबहू वास्तविकता प्रदान करने के लिए उन्होंने यह सारा महाभारत रचा था और यहां तो बायें हाथ की अंगूठी दाहिने हाथ में, दायें कान की मुरकी बायें कान में और पगड़ी की दाहिनी ओर का तुर्रा बांयीं ओर दिखाई दे रहा था। और तो और चित्र में कूंची भी बांयें हाथ में पकड़ी हुई दिखाई दे रही थी। तात्या ने सिर पीट लिया। उनकी देखादेखी दर्पण के प्रतिबिंब ने भी, मानो उनका उपहास करने के लिए, बांया हाथ अपने कपाल पर दे मारा।

सादृश्य अंकित करने की कला साध्य हो जाने के बाद तात्या ने फिर एक बार ऐतिहासिक प्रसंगों की ओर मोर्चा घुमाया। परंतु विभिन्न कारणों से उनके यह चित्र वास्तविकता प्राप्त न कर सके। एक तो तात्या की स्वभाव प्रकृति आरंभ से ही शांति की ओर उन्मुख थी। अनेक लोगों की एकसाथ भीड़ या हिंसाचार उन्हें बिलकुल पसंद नहीं था जबकि ऐतिहासिक प्रसंगों में इन्हीं बातों की भरमार होती है। उनकी स्मृति भी इच्छानुगामी थी। वह याद रखने योग्य व्यक्तियों की संख्या को सदा मर्यादित रखती थी और अप्रिय व्यक्तियों को अर्धचंद्र देकर निकाल बाहर करती थी। स्वभाव खुनसी न होने के कारण याददाश्त की पकड़ भी कुछ ढीली-ढाली थी। किसी बात को आज उसके सुपुर्द किया जाए तो कल उसके ज्यों की त्यों मिलने का कोई भरोसा नहीं था। अकसर वह घटनाओं को अपने रंग में रंग लेती थी। उनकी स्मृति का तीसरा गुण था समदृष्टि। अपने साम्राज्य में प्रवेश करने वाली घटनओं या व्यक्तियों के बीच भेदभाव करके उनमें से कुछ को एक कमरे में और बाकी को दूसरी कोठरियों में बंद रखना उसे बिलकुल पसंद नहीं था। इस कारण से स्मृति में संचित व्यक्तियों और घटनाओं की अकसर खिचड़ी पक जाती थी। एक शताब्दी में जन्म लेने वाले व्यक्तियों का किसी अन्य शताब्दीयों के व्यक्तियों से संपर्क हो जाता था और उनके मिलन से किसी तीसरी ही शताब्दी की घटनाएं घटित हो उठती थीं।

बाजीराव प्रथम का कायरता के साथ स्वप्न में भी संबंध नहीं था। परंतु द्वितीय बाजीराव के साथ नामसादृश्य होने के कारण तात्या के चित्रों में अंकित होने पर उस वीर पुरुष को अनेक बार युद्धक्षेत्र से पलायन करना पड़ा। इसी प्रकार तात्या की स्मृति ने निश्चय किया कि दक्खन के बहमनी राज्य का संबंध पेशवाओं के ब्राह्मणवंश से अवश्य होना चाहिए। बस फिर क्या था। पेशवाओं के पूरे घराने को अठारहवीं शताब्दी से उठकर सोलहवीं शताब्दी में जाना पड़ा। इसी प्रकार की किसी मान्यता के कारण बाबर को अफ्रीका के बर्बर देश में जन्म लेना पड़ा और राणा प्रताप को अरावली की पहाड़ियों के बजाय हिमालय की तराई को अपना कार्यक्षेत्र बनाना पड़ा।

चित्रों में प्रकाश और छाया कहां और किस परिमाण में दिखाने चाहिए और रंगों का मिश्रण किस अनुपात में करना चाहिए इसका अध्ययन भी तात्या की नजरों से छूटा नहीं था। परंतु हर बात में चित्रकला के प्रचलित नियमों को

मानने के बजाय अपनी अकल चलाना ही उनका अपना कमाल था। अतः एक बार उन्होंने सूर्य की किरणों के सातों रंगों को एकत्र करके उन्हें सूरज के मुंह पर चुपड़ दिया। इतना ही नहीं उसे छाया से भी वंचित नहीं रखा। सूर्यबिंब के आधे भाग को वे अकसर छाया से ग्रस्त दिखाते थे। अब इसे देखकर कुछ कुत्सित टीकाकार सूर्य को ग्रहण लगा हुआ मानने लगें, तो इसमें तात्या का कोई दोष नहीं था।

कुछ उपन्यासकारों को जिस प्रकार पात्रों के नामों की योजना उनके चरित्रानुसार करने की आदत होती है उसी प्रकार तात्या अपने पात्रों की वर्णयोजना उनके चरित्रानुसार करते थे। उदाहरणार्थ सदा काली करतूतों में डूबे रहने वाले व्यक्तियों का चेहरा वे स्याह काले रंग से चित्रित करते थे और बात-बात में तमतमा उठने वाले व्यक्तियों का चेहरा लाल रंग से। जिस व्यक्ति का चरित्र गंगाजल की तरह निर्मल हो, उसकी मुखमुद्रा पर वे पानी की इतनी परतें चढ़ा देते थे कि चेहरा दिखाई ही न दे। इसके विरुद्ध, दंभी बर्ताव करने वाले लोगों के साथ चित्रकला में भी वे जैसे को तैसा वाला न्याय बरतते थे। मतलब यह कि पहले उसके चेहरे को उसके अंतःकरण के भावों के अनुरूप रंग कर ऊपर से उसके बाह्य बर्ताव के अनुसार रंग पोतते थे। इसी प्रकार मन में एक, वाणी में दूसरा, और कृति में तीसरे ही प्रकार का व्यवहार करने वालों की मुखमुद्रा पर पेपरमिंट की रंग बिरंगी गोलियों की तरह रंग के तीन-तीन पुट चढ़ा देते थे। मन में गांठ रखने वाले किसी घुन्ने आदमी का चित्रण करते समय चित्र के पीछे का भाग भी रंग दिया जाता था। इन बारीकियों का पालन करने में उन्होंने कभी आलस्य नहीं किया। इससे यही प्रमाणित होता है कि कोई भी कला निरंतर अध्यवसाय और परिश्रम के बिना साध्य नहीं होती।

आखिर-आखिर में तो तात्या पर चित्रकारी का कुछ ऐसा भूत सवार हुआ कि उसके बिना उन्हें कुछ सूझता ही नहीं था। भोजन करते समय वे रंगोली की आकृतियां बनाने लगते और थाली में उंगलियों की सहायता से कुछ न कुछ लकीरते रहते। घर की दीवारों पर पौराणिक और ऐतिहासिक प्रसंगों के चित्रों की भीड़ हो गयी थी। इतना ही नहीं, जमाखर्च की बहियों में भी वे हाशिये पर या और जहां कहीं भी खाली जगह दिखाई देती, चित्र बनाने लगते। विशेष तौर पर साहूकारों के खातों में वे जमा की तरफ इतने चित्रों की भीड़ कर देते कि जमा रकमों को पढ़ पाना भी मुश्किल हो जाता। शीघ्र ही घर में चित्रविहीन

कागज का टुकड़ा भी मिलना दूभर हो गया। प्रियतमा के शरीर पर चित्रवल्ली बनाने की प्राचीन प्रथा का उन्होंने अपनी अर्धांगिनी की देह पर पुनरुद्धार किया या नहीं, यह तो हम नहीं जानते, पर अपने शरीर पर चित्र-विचित्र गोदने उन्होंने अवश्य गुदवा लिये थे। इतना ही नहीं, मिस्र, चीन, आदि देशों की चित्रलिपियों की तरह भारतीय भाषाओं के लिए भी चित्रमय वर्णमाला ईजाद करने की कल्पना उनके मन में कुलबुलाने लगी थी। कपड़ा, छाता, जूते, आदि नित्योपयोगी वस्तुएं खरीदते समय वे उनकी गुणवत्ता के बजाय उनके लेबलों पर छपे हुए चित्रों को अधिक महत्व देने लगे। सारे सचित्र समाचार पत्रों और पत्रिकाओं के वे आजीवन ग्राहक बन गए। सचित्र नाटक और उपन्यासों से उनका घर भर गया। इतना ही नहीं, सचित्र विज्ञापनों को काट-काट कर वे उनके अलबम बनाने लगे। विलायती सिगरेटों की डिबियों पर अकसर रंगीन चित्र छपे हुए होते हैं। महज इसी कारण से उन्होंने देसी बीड़ी का शौक छोड़कर विलायती सिगरेट का व्यसन गले में बांधा।

तात्या के इस मज्जागत शौक के छूटने की वैसे तो कोई उम्मीद नजर नहीं आ रही थी, पर एकबार एक मामूली कारण से यह असंभव बात संभव हो गयी। तात्या ने एक बार चित्रकला के यथारूपदर्शन (Perspective) संबंधी सिद्धांतों का अनुसरण करके चातुर्वर्ण्य का एक बृहत् चित्र बनाया। इसे उन्होंने अपनी कला की मूर्धन्य रचना घोषित करके अपनी समूची प्रतिष्ठा दांव पर लगा दी। चित्र में ब्राह्मण को स्वाभाविक रूप से सामने का मध्यवर्ती स्थान दिया गया था। क्षत्रिय और वैश्य को क्रमशः ब्राह्मण की दांयीं और बांयीं ओर कुछ पीछे का स्थान मिला और शूद्र के लिए सबसे पीछे कुछ दूर का स्थान नियत हुआ। चित्र तैयार होने में समय तो बहुत लगा पर आखिर वह उनके मन के अनुसार बन गया। तात्या ने उसमें अपना सर्वस्व कौशल उंडेल दिया था। ब्राह्मण सत्त्वगुणनिष्ठ होना चाहिए। इसलिए उसके चेहरे पर सफेदी पोती गयी थी। क्षत्रिय और वैश्य रजोगुणी होते हैं; अतः उनके चेहरे लाल बनाये गये थे और तमोगुणयुक्त अधम शूद्र का मुख काला स्याह रंगा गया था। ब्राह्मण पद्मासन लगा कर बैठा था और क्षत्रिय एवं वैश्य उसके दोनों ओर हाथ जोड़े खड़े हुए थे। शूद्र तो बिलकुल पृष्ठभूमि में घुटनों के बल बैठा हुआ था और हाथों की अंजलि पसारे मानो दया की भीख मांग रहा था। यहां तक तो सब ठीक था। पर इस यथारूपदर्शन (perspective)

वाले नियम ने सब गुड़ गोबर कर दिया। शूद्र को यद्यपि ब्राह्मण से नीचे स्तर पर दिखाया गया था तथापि वह उसके पीछे कुछ दूरी पर होने के कारण चित्र-कला के नियमानुसार ब्राह्मण के आसन से ऊंचे स्तर पर दिखाई दे रहा था। इतना ही नहीं, कृपायाचना के लिए फैली हुई उसकी हथेलियां कुछ ऐसा आभास उत्पन्न कर रही थीं मानो वह ब्राह्मण के कंधे पर सवार होकर उसे दबोचे दे रहा हो और उसे मारने के लिए हाथ उठा रहा हो। चित्र बनाते समय तात्या आलेखन में आकंठ डूबे हुए थे। अतः चित्र पूरा होने तक यह त्रुटि उनके ध्यान में नहीं आयी। जिस चित्र पर उनकी आकांक्षाओं का दारोमदार था उसकी यह हालत हुई देखकर उनका दिल टूट गया और तभी से कूंची या रंगों को हाथ भी न लगाने की उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली। आजकल तो यह हालत हो चुकी है कि कोई उनके सामने चित्रकला का जिक्र भी करता है तो वे उसका हाथ कलम कर देने की और मुंह रंग देने की धमकियां देने लगते हैं।

25. छायाचित्र अर्थात् फोटो

ललित कलाओं के क्षेत्र में यथार्थ और काल्पनिक का झगड़ा बड़े पुराने समय से चला आ रहा है। यों प्रत्येक कला का उद्गम प्रकृति से हुआ है। साथ ही प्रत्येक कलाकृति को व्यवस्थित और पूर्ण स्वरूप प्रदान करने के लिए कल्पना का प्रयोग भी अत्यंत आवश्यक होता है। वास्तव में कला के क्षेत्र में प्रकृति और कल्पना का कम-अधिक प्रमाण में मिश्रण वांछनीय ही नहीं, अनिवार्य होता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो उपर्युक्त दोनों मतवादों के बीच का फर्क मौलिक नहीं बल्कि प्रमाण का ही मालूम देता है। यह सतही अंतर भी दोनों प्रकार की विचारधाराओं में कला के प्रयोजन को लेकर जो मतभेद है उस पर आधारित है। यथार्थवादियों के मतानुसार सृष्ट पदार्थों का यथार्थ चित्रण कराना ही कला का प्रयोजन माना गया है जबकि कल्पनावादी तत्त्वबोध और मनोरंजन को कला का प्रधान उद्देश्य मानते हैं। इस कारण से पहले गिरोह का लक्ष्य मुख्यतः प्रकृत स्वरूप की ओर और दूसरे की दृष्टि रसिकों के चित्त की ओर रहती है। इसी कारण से जड़ और चेतन सृष्टि के चमत्कारों का चित्रण पहले गिरोह द्वारा बहुधा उनके मिश्र स्वरूप में होता है जबकि दूसरे मतावादियों द्वारा प्रायः उनके एकांतिक स्वरूप में होता है। पहले गिरोह की कृतियों में विरोध या वैषम्य और दूसरे के सृजन में संवाद और सामंजस्य को अधिक महत्त्व दिया जाता है। यथार्थवादी चित्रकार वन्य जीवन का चित्रण करते समय बाघ द्वारा हिरन का शिकार होता दिखायेगा तो कल्पनावादी कलाकार दोनों को एक ही घाट पर पानी पीता हुआ चित्रित करेगा। यथार्थवादी शेक्सपियर अपने नाटकों में सुंदर और बीभत्स वस्तुओं को एक साथ प्रस्तुत करता है तो आदर्शवादी कालिदास रसिकों को सुंदर-असुंदर के पचड़े से ऊपर उठाकर और कल्पना के मेघ पर आरूढ़ करके उन्हें केवल रमणीय वस्तुओं के ही दर्शन करवाते हैं।

इधर वैज्ञानिक यंत्रों की प्रगति के कारण यथार्थवादियों को एक बहुत बड़ा सहारा मिल गया है। कलाल के अड्डे में चलने वाली रसमधुर तू-तू मैं-मैं को शब्दश: अंकित करने की इच्छा हो तो ध्वनियंत्र (Phonograph) की सहायता से उसका एक-एक शब्द—प्रत्येक के विशिष्ट लहजे के साथ—चिरकाल के लिए संचित किया जा सकता है। सभ्यता के आक्रमण के कारण अपनी भाषा के अपशब्दों के विस्मृत हो जाने का खतरा उपस्थित होते ही, यंत्र की सहायता से अपनी इस प्राचीन विरासत का पुनरानुभव किया जा सकता है। ताड़ीखाने के उक्त ग्राहक जब आत्माभिव्यक्ति के अगले सोपान पर पहुंचकर हाथापाई करने लगें और अंत में नालियों में गिरकर विश्राम करने लगें तब तक के चमत्कारों का हूबहू चित्रांकन करने की इच्छा हो तो गतिमान-छाया चित्रण यंत्र (Cinema to graph) की सहायता ली जा सकती है और उन उत्साहवर्धक दृश्यों को सदा के लिए वज्रलेप किया जा सकता है। होश में आने पर नाटक के प्रधान पात्रों की इच्छा हो, तो उन्हें उनकी नालीलोटन लीला का पुनर्दर्शन भी करवाया जा सकता है।

प्रकाश-लेखक अथवा स्थिर-छायाचित्रण यंत्र (Camera) की सहायता से मनुष्य की मुखमुद्रा के साथ-साथ उसके मनोभावों को भी यथातथ्य प्रतिबिंबित किया जा सकता है। परंतु यह संभव होने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य के चेहरे पर उन भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति हो। मन के भावों को मन में ही छिपा रखने वाले या उन्हें चेहरे पर व्यक्त करने में असमर्थ मनुष्य के सामने यंत्र भला कहां तक सर फोड़ेगा। चेहरे पर भावदर्शन के अभाव में चित्रकार तो कल्पना के बलबूते पर इस दिशा में काफी कुछ कर सकता है; परंतु यंत्रावलंबी छायाचित्र कला में उसका शतांश भी संभव नहीं होगा।

हमारे नगर में एक ऐसा ही कुशल चित्रकार रहता था। उसने एक बार रंगों और कूचियों के चमत्कार से तीन चित्र तैयार किए। प्रत्येक चित्र में एक मध्यम आयु का पुरुष एक युवती के कंधे पर हाथ रख कर खड़ा हुआ था। उन दोनों का आपस में रिश्ता क्या था यह जानने का पुरुष की दृष्टि के सिवा चित्र में और कोई साधन नहीं था। परंतु केवल आंखों की भावाभिव्यक्ति के बल पर एक चित्र में उनका आपसी नाता पति-पत्नी का, दूसरे में भाई-बहन का और तीसरे में पिता-पुत्री का स्पष्ट अनुलक्षित होता था। चेहरे और आंखों के भावों का चित्रण

इतना वास्तविक हुआ था कि किसी भी रसिक दर्शक के मन में इन रिश्तों को लेकर रंचमात्र भी संदेह रहने की गुंजाइश नहीं थी।

इन चित्रों को देखकर हमारे बंडूनाना के मन में इसी प्रकार की सिद्धि कैमरे की सहायता से कर दिखाने की महत्त्वाकांक्षा जगी। उनकी योजना तो इससे भी बहुत लंबी-चौड़ी थी। एक ही जोड़े को लेकर वे उपरोक्त तीन ही नहीं बल्कि दस-बीस रिश्तों की अभिव्यक्ति करना चाहते थे। उदाहरणार्थ, केवल पति-पत्नी के नाते के ही वे कम से कम चार फोटो खींचना चाहते थे। एक में प्रथमवर और कुमारी वधू; दूसरे में दुहाजू वर और कुमारी कन्या; तीसरे में प्रथमवर और गतभर्तृका स्त्री; तो चौथे में विधुर वर और विधवा वधू। इतना ही नहीं, वे तो इस मालिका को और भी ब्योरेवार बनाना चाहते थे। कहीं पुत्रहीन पति और वंध्या भार्या, तो कहीं संतति के आधिक्य से त्रस्त दंपति! कहीं पहले से ही नजदीक के रिश्ते-दार होकर बाद में पति-पत्नी के नाते में बंधने वाला जोड़ा, तो कहीं विवाह से पहले एक-दूसरे का नामगांव भी न जानने वाले नितांत अपरिचित अजनबी। इस प्रकार की विविध बारीकियों को केवल मुखमुद्रा की अभिव्यक्ति के बल पर चित्रित करने का उनका मनसूबा था। बहन-भाई के रिश्ते में तो इससे भी अधिक वैविध्य की गुंजाइश थी। एक फोटो में सगे भाई-बहन तो दूसरे में सौतेले। तीसरे में चचेरे तो चौथे में मौसेरे और पांचवे में ममेरे-फुफेरे। पांचवे चित्र के दो उपभेद हो सकते थे। एक में ममेरा भाई और फुफेरी बहन तो दूसरे में फुफेरा भाई और ममेरी बहन। इस से भी आगे बढ़कर एक पीढ़ी के अंतर के, और दो या तीन पीढ़ियों के अंतर के चचेरे भाई-बहनों का चित्रण हो सकता था। अंत में दत्तक भाई और औरस बहन एवम् धर्मबंधु और मुंहबोली बहन का निरूपण होकर यह मालिका समाप्त हो सकती थी। पिता-पुत्री के नाते में अधिक वैभिन्न्य की गुंजाइश नहीं थी; फिर भी औरस, दत्तक आदि दो-तीन प्रभेद दिखाए जा सकते थे।

इस फोटो मालिका के लिए सिर्फ दो कुशल कलाकारों की आवश्यकता थी। एक अभिनेता और एक अभिनेत्री। बंडूनाना ने शहर की सारी नाटक कंपनियां छान मारीं, पर आरंभ में वर्णित तीन रिश्तों के अलावा एक भी नाते की अभि-व्यक्ति करने को तत्पर जोड़ा उन्हें कहीं नहीं मिला। उन्होंने रुपये का लालच दिया, प्रसिद्धि का लोभ दिलाया, कीमती वस्त्रालंकार देने के वादे किए, पर कोई

परिणाम नहीं निकला। अंत में दो निकृष्ट कोटि के नौटंकी वालों पर यह जिम्मेदारी सौंपनी पड़ी। इन लोगों का आत्मविश्वास इतनी उच्च कोटि का था कि उन्होंने उपरोक्त सारे रिश्ते ही नहीं बल्कि आवश्यकता पड़ने पर मां-बेटे का नाता अभिव्यक्त करने की भी तैयारी दिखाई।

शीघ्र ही फोटो खींचने का दिन आ पहुंचा। कलाकारों की जोड़ी वस्त्राभूषण से सजी। फोटोग्राफर अपने यंत्रों सहित उपस्थित हुआ। उसने अपनी तिपाई खड़ी की और नाना के हुक्म छूटने लगे। शुरुआत सगे-सौतेले, औरस-दत्तक, चचेरे-फुफेरे, ममेरे-मौसेरे आदि बहन-भाइयों के संबंधदर्शक फोटो लेने से हुई। नाना रिश्तों का नाम पुकारते जाते थे और कलाकार नातों के अनुसार अपने चेहरों के भावों में परिवर्तन करते जाते थे। नाते ज्यों-ज्यों एक-एक पीढ़ी से दूर के होने लगे त्यों-त्यों कलाकारों की मुखमुद्रा पर मनुष्य के बजाए मनुष्य के आदिम पूर्वजों के भाव अधिकाधिक दिखाई देने लगे। इन दोनों महान कलाकारों का शायद ऐसा विश्वास था कि नातों के बीच का अंतर ज्यों-ज्यों बढ़ता जाए त्यों-त्यों चेहरे और दृष्टि में से मार्दव का भाव कम होता जाना चाहिए और उसका स्थान ऊब और संत्रास के भावों को ले लेना चाहिए। चौथी-पांचवी पीढ़ी के भाई-बहनों के चित्रण तक पहुंचते-पहुंचते तो उनके मुख पर उकताहट और खुनस का कुछ ऐसा भयावह मिश्रण दिखाई देने लगा मानो वे एक-दूसरे को खा जाना चाहते हों। आगे चलकर ये उग्र भाव उनके चेहरों पर स्थायी रूप से अंकित हो जाने के कारण पति-पत्नी और पिता-पुत्री की संबंधदर्शक फोटो मालिका अपेक्षा से बिलकुल भिन्न प्रकार की सिद्ध हुई।

कैमरे के सामने बैठने पर नाट्यकला की तालीम पा चुकने वालों की जब यह हालत होती है, तो फिर अभिनय या भावाभिव्यक्ति किस चिड़िया का नाम है यह भी मालूम न होने वाले सामान्य जनों की फोटो खिंचवाते समय कैसी दुर्दशा होती होगी इसकी भला बात ही क्या पूछी जाए! बोलचाल की भाषा में 'फोटू खिंचना' को 'फजीहत होना' का समानार्थी मुहावरा शायद इन्हीं लोगों के कारण माना जाता होगा।

फोटो खिंचवाने का मूल उद्देश्य स्वाभाविक अवस्था की छवि अंकित करना होने पर भी ये लोग फोटो उतरवाने से पहले पूरे शरीर को वस्त्रालंकारों से लाद कर कुछ ऐसा कृत्रिम रूप दे देते हैं कि उन्हें पहचानना उनकी अर्धांगिनियों के

लिए भी मुश्किल हो जाए। फोटो खिचवाते समय चेहरे पर बड़े गंभीर और सात्त्विक भाव होने चाहिए ऐसे किसी शास्त्रीय विधान से प्रेरित होकर लोग बड़ी भौंडी और बेतुकी मर्कट चेष्टाएं करते हैं। मुस्कराने का अर्थ दांत निपोरना लगा कर बूढ़े लोग फोटो खिचवाते समय दांतों की नकली बत्तीसी लगाना कभी नहीं भूलते। शरीर के व्यंगों को छिपाने के लिए बेहिसाब झंझट फैलाया जाता है और फोटो खिचवाते समय चेहरे पर मुस्कान होनी चाहिए यह तो शायद इस कला का अतिरिक्त और अनिवार्य नियम माना जाने लगा है।

परंतु सबसे ज्यादा लीक तो कपड़ों को लेकर पीटी जाती है। किसी कोरी-कहार को भी फोटो खिचवाना हुआ तो वह किसी का रेशमी कुरता और जरी-किनार का दुपट्टा मांगकर जरूर लाएगा। जीवन में कभी साफा सर पर बांधने का मौका न पड़ने के कारण हाथ-पांव जोड़ कर किसी से साफा बंधवाएगा। कोट की ऊपर वाली जेब में तहाया हुआ, पर ईषत् बाहर को झांकता हुआ रूमाल और नीचे वाली जेब में जंजीर वाली घड़ी और घड़ी न हुई तो कम से कम भीतर की ओर जाती हुई जंजीर लटकाने से कभी नहीं चूकेगा। कुछ लोग तो रेशमी कुरते के भीतर कमख्वाब का जाकिट और सोने का कंठा पहनने की हिमाकत भी करते हैं और कुछ अति बुद्धिमान लोग फोटो का सुगंध के साथ कोई संबंध नहीं होता यह मालूम होने पर भी शरीर पर इत्र-फुलेल चुपड़कर ही कैमरे के सामने खड़े होते हैं। एक दूसरा अत्यावश्यक तामझाम होता है फोटो में मोटे-मोटे ग्रंथों का समावेश। एक मोटा-सा ग्रंथराज हाथ में और दूसरा उससे भी बृहदाकार ग्रंथ टेबल पर रख कर, गहन विचार-सागर में डूबी हुई मुखमुद्रा धारण करके फोटो खिंचवाना हमेशा से लोकप्रिय रहा है। उन ग्रंथों की सुनहरे अक्षरों में लिखी हुई नाम वाली किनारी हमेशा कैमरे के सामने रखी जाती है। अगर उन्हें घुमाकर देखा जाए तो तुरंत पोल खुल जाती है कि उनके तो अभी पन्ने भी नहीं काटे गए।

फोटो खींचने वाले की दृष्टि से देखा जाए तो सबसे अधिक कष्टप्रद काम होता है फोटो खिचवाने वालों को व्यवस्थित ढंग से तरतीबवार बिठाना। उसका कौशल जितना इस बात में खर्च होता है उतना और किसी में नहीं। बैठने वालों की रचना उनके पदानुसार और ज्येष्ठतानुसार हो, एवं अन्य दृष्टियों से आकर्षक हो इसकी वह बेचारा जीजान से कोशिश करता है जबकि फोटो खिचवाने वालों

में से प्रत्येक व्यक्ति औरों की अपेक्षा अपने आप को ही आकर्षण का केंद्र बनाने की तजवीज में रहता है। अकसर ठिगने लोगों को आगे की पंक्ति में बिठाया जाता है। इससे उन्हें अपनी धोती की रेशमी किनारी, घड़ी की जंजीर, कानों की मुरकियां, मूंछों की ऐंठन, माथे के तिलक और हाथों को कुशलता से जमा कर रखने पर उंगलियों की अंगूठियों को भी फोटो में प्रदर्शित करने का मौका मिलता है। उन्हें सिर्फ शारीरिक कमियों को ढंकने की थोड़ी-बहुत कोशिश अवश्य करनी पड़ती है। फोटोग्राफर कुशल हुआ, तो यह सब आसानी से हो जाता है। माथे पर कोई जखम का निशान हो, तो विचारमग्न मुद्रा बना कर सर को हथेली पर टिकाया जा सकता है। मूंछें अस्तव्यस्त हों, तो छितरायी हुई ओर को उंगलियों से ऐंठने का पोज बनाया जा सकता है। आंखें भैंगी हों, तो गहरे रंग का चश्मा पहना जा सकता है। कुरते के ऐन गले के नीचे का हिस्सा फटा हुआ हो, तो उसे दुपट्टे के नीचे छिपाया जा सकता है और धोती फटी हुई हो तो उस स्थान को ढकने वाला कोण बना कर वहां छाता रखा जा सकता है।

इसी प्रकार लंबे लोगों को बहुधा सबसे पीछे की कतार में खड़ा किया जाता है। शारीरिक कमी को छिपाना उनके लिए बड़ा सरल होता है। गरदन ऊंट की सी हो, सीना भीतर की ओर धंसा हुआ हो, पेट बढ़ा हुआ हो या पांव अष्टावक्र के से हों, बल्कि यह कहिए कि चेहरे को छोड़कर शरीर के किसी भी अंग में कितना ही वैगुण्य क्यों न हो, उसे आगे बैठे हुए व्यक्ति के पीछे आसानी से छिपाया जा सकता है। खड़े रहने के लिए किसी ऊंचा साफा बांधे हुए व्यक्ति के पीछे की जगह चुन कर फेंटे रूपी जटाजूट पर अपना मुखचंद्र टिका दिया जाए, तो अपना फोटो सौ फीसदी व्यंगरहित निकलने की गारंटी रहती है। पीछे खड़े रहने वाले के लिए सिर्फ एक दिक्कत है। आगे बैठने वालों को जहां अपनी शारीरिक कमियों को छिपाना मुश्किल होता है वहां इन्हें अपने अंगसौष्ठव या वस्त्रवैभव का प्रदर्शन करने में कठिनाई होती है। एक बार एक ठिगने आदमी को उसकी कुरूपता के कारण पीछे खड़ाकर दिया गया। उसे अपनी ऐंठी हुई मूंछो का बड़ा अभिमान था। उसके सामने एक विशालकाय सज्जन बैठे हुए थे। उनके साफे ने नाटे महाशय के मूंछों रूपी कलंक से युक्त मुखचंद्र को खग्रास ग्रहण लगाया हुआ था। आखिर चेहरा नहीं तो मूंछें ही फोटो में दिखाई दे जाएं इस उदात्त हेतु से प्रेरित होकर उसने आगे के भीमकाय सज्जन की बगलों की दरार से अपनी मूंछें

सटा दीं। उसका प्रयोजन सफल हुआ। फोटो में मूंछों के स्पष्ट दर्शन हुए। अब देखने वालों को यदि ऐसा भास हुआ हो कि स्थूलकाय सज्जन के कुरते की बगलें फटी हुई होने के कारण भीतर की सुषमा के बाहर तक दर्शन हो रहे हैं, तो इसमें दोनों में से किसी का कोई दोष नहीं था। किसी अन्य महात्मा ने फोटो खिंचवाते समय पहनने के लिए डासन के विलायती बूट महंगे दामों खरीदे थे। पीछे खड़े रहने की नौबत आने पर उसकी खिन्नता का पारावार न रहा। फोटोग्राफर द्वारा सावधान रहने की सूचना दी जाने पर उसे एक तरकीब सूझी। उसने चट से अपने पांव आगे बैठे हुए व्यक्ति के पांवों से सटा दिए। बस, फोटो में बूटों की छवि अंकित हो गई। इससे आगे बैठे हुए महाशय चतुष्पाद दिखाई देने लगे थे, यह अलग बात है। तीसरे एक महाशय ने फोटो खिंचवाते समय पहनने के लिए चमड़े का कमरबंद खास बंबई से मंगवाया था। उसे भी जब पीछे खड़ा रहना पड़ा, तो अपना कमरबंद अपने शरीर पर न सही, किसी अन्य के ही शरीर पर दिखाई दे जाए इस उदात्त विचार से प्रेरित होकर, फोटोग्राफर के एक-दो-तीन करते ही उसे आगे बैठे हुए व्यक्ति के गले में लटका दिया। आगे बैठने वाले सज्जन चेहरे पर मुस्कान लाने के प्रयत्न में मशगूल होने के कारण उन्हें अपने गले में पड़ने वाले इस श्वानकंठभूषण की जानकारी भी नहीं हुई।

सर्कस के रिंगमास्टर को विभिन्न स्वभाव वाले अनेकविध जानवरों को काबू में रखने में जितनी परेशानी होती होगी उससे कई गुना अधिक परिश्रम फोटोग्राफरों को अपने विविध वर्णीय ग्राहकों को व्यवस्थित ढग से बैठाने में करना पड़ता है। छाती तान कर बैठे हुए किसी नरपुंगव से कुछ झुक कर बैठने को कहा जाए तो उसे इसमें अपना अपमान महसूस होता है। अधखुली आंखों को ठीक से खोलने को कहा जाए तो लोग आंखें फाड़ने लगते हैं और विभिन्न कोण बना कर झुकी हुई गर्दन को सीधा करने का कितना ही प्रयत्न क्यों न किया जाए, फोटोग्राफर का हाथ हटते ही वह स्प्रिंग लगे हुए खटके की तरह फिर अपना मूल स्थान प्राप्त कर लेगी। इतने लोगों के सामने यह टके का फोटूवाला उनकी गरदनको पकड़ कर चाहे। जैसे झटके देता रहे इसे भला इतने बड़े राय बहादुर या रायसाहब कैसे सहन कर सकते हैं। उनकी चुटिया पकड़ कर उन्हें मनमाना नाच नचाने का अधिकार तो सिर्फ दो व्यक्तियों को होता है : उनके अर्धांग पर अधिकार जताने

वाली उनकी गृहिणि को और उनके उत्तमांग के सर्वाधिकारी नापित को।

खैर, दादा-बाबा कह-कहकर आगे की पंक्ति में बैठने वालों को व्यवस्थित ढंग से बैठाने में फोटोग्राफर को सफलता मिलती है। पर जैसे ही वह पीछे खड़े रहने वालों की ओर ध्यान देता है कि आगे के लोगों में फिर अव्यवस्था फैल जाती है। फोटो वाले की यह अत्याचारी हुकूमत उन्हें असह्य हो उठती है और जम्हाइयां, अंगड़ाइयां एवम् छींकों के दौरे पर दौरे पड़ने लगते हैं। शरीर के विभिन्न हिस्सों को खुजाते रहने की पुरुषोचित आदत इस समय दुर्निवार्य हो उठती है और इतने परिश्रम से जमाई हुई मोर्चे की अग्रिम पंक्ति पूरी तरह से ध्वस्त हो जाती है। बेचारा फोटोग्राफर ऐसे मौकों पर सर्कस के रिंग-मास्टर की तरह चाबुक का प्रयोग भी नहीं कर सकता।

स्त्री-पुरुषों के सम्मिलित समुदायों का फोटो खींचना तो और भी टेढ़ी खीर है। इन प्रसंगों पर स्त्रियों को कुर्सियों पर बिठाकर पुरुषों को पीछे खड़े करने का रिवाज होता है। किंतु किस स्त्री के पीछे संरक्षक के रूप में कौन-सा पुरुष खड़ा रहे, यह मसला अकसर बड़ा पेचीदा सिद्ध होता है। हर स्त्री की यही मांग होती है कि हिमायती के रूप में पीछे खड़ा रहने वाला पुरुष उसका पति ही हो। सारे जोड़े पति-पत्नी के ही हों, तब तो इसमें कोई दिक्कत नहीं होती। परंतु पतियों की अनुपस्थिति में फोटो खिचवाने वाली सधवाएं अपने पीछे का स्थान खाली रखने का आग्रह करती हैं। विधवाओं के संबंध में यह प्रश्न वैसे तो उपस्थित ही नहीं होना चाहिए; पर इस बात को लेकर वे भी कभी-कभी ऐसा बखेड़ा खड़ा करती हैं कि विधवा के दर्शन से विघ्न उपस्थित होने की सनातनियों की मान्यता सच्ची मालूम पड़ने लगती है। कभी-कभी दो भार्याओं का पति होने वाला कोई नरपुंगव उन दोनों की कुर्सियों पर हाथ फैला कर दोनों पर अपना स्वामित्व सिद्ध करना चाहता है। बेचारे फोटोग्राफर को यह सारा अत्याचार चुपचाप सहन करना पड़ता है। इन सब बातों से फोटो की रचना में भले ही विषमता आ जाए, फोटो खिचवाने वालों के मन में किसी प्रकार के वैषम्य की गुंजाइश नहीं रहती।

कुर्सियों के आगे की खाली जगह परंपरा से बच्चों के लिए सुरक्षित मानी जाती है। बच्चों को अपने माता-पिता की तरह फोटो की महत्ता का ज्ञान नहीं होता। अतः वे इतना उधम मचाते रहते हैं कि उन्हें काबू में रखते-रखते फोटो-

ग्राफर के नाकों दम आ जाता है। उन्हें कुछ खाने-पीने की चीज देकर चुप बैठाना भी श्रेयस्कर नहीं होता क्योंकि उन्हें यदि एक बार यह मालूम हो जाए कि अपने उत्पातों के बलबूते पर वे खाने-पीने की चीजें वसूल कर सकते हैं, तो उनका उधम कम होने के बजाय और भी बढ़ जाने की संभावना रहती है। मारपीट का डर दिखा कर उन्हें धमकाने से भी काम नहीं चलता। इससे उनके गला फाड़ कर रोने की संभावना रहती है। इस अड़चन में फंसे हुए फोटोग्राफर को प्रायः किसी गप के सहारे ही उनका ध्यान केंद्रित करना पड़ता है। अकसर ही इसमें उन्हें सफलता मिलती है परंतु कभी-कभी यह मार्ग भी खतरे से खाली नहीं होता। एक बार एक फोटोग्राफर ने कैमरे के भीतर कुत्ता छिपा हुआ है यह कह कर छोटे बच्चों को शांत बैठाया। फोटो खिचने तक तो वे तसवीर की तरह निचले बैठे रहे। परंतु फोटोग्राफर का ध्यान जरा इधर-उधर होते ही उनमें के एक ने कैमरे का शटर खोल कर भीतर छिपे हुए कुत्ते को देखने का प्रयत्न किया और फोटो के कांच को निकम्मा कर डाला। असत्य बोलने वाले के भाग्य में सदा अपयश ही बदा होता है इसका इससे अच्छा प्रमाण और कहां मिलेगा।

यह सारी व्यवस्था पूरी होते-होते कभी-कभी तो इतना अधिक समय बीत जाता है कि फोटो के योग्य प्रकाश ही नहीं रहता। फोटो का समय सुबह का हो, तो दोपहर होकर धूप बहुत तेज हो जाती है और शाम का हो, तो सूरज ढल कर अंधेरा हो जाता है। इन दोनों ही हालतों में फोटो खींचना श्रेयस्कर नहीं होता और पूरे आयोजन को किसी और दिन पर टालना पड़ता है। उस दिन भी प्रायः पहले दिन की ही पुनरावृत्ति होती है। फोटो के लिए जितना प्रकाश आवश्यक होता है उतना रहने के भीतर ही फोटो खिच जाए ऐसा सुनहरा अवसर प्रायः दो या तीन दिन व्यर्थ गंवाने के बाद ही सधता है।

बैठने की व्यवस्था यथायोग्य होकर फोटो खिचने का क्षण आते-आते फोटो खींचने वाला और खिचवाने वाले, दोनों रुआंसे हो उठते हैं। इसी बीच कैमरे का फोकस भी साधना पड़ता है। इसके लिए फोटोग्राफर काला कपड़ा ओढ़ कर कैमरे के कांच में से बार-बार बैठने वालों की ओर देखता है और उन्हें कैमरे की ओर ताकते रहने की सूचना देता है। लगातार एक ही स्थान पर ताकते रहने से लोगों की आंखों से पानी बहने लगता है। साथ ही चेहरे पर कृत्रिम मुस्कराहट धारण किये रहना भी नितांत आवश्यक होता

है। इस हालत में यह समझना अकसर मुश्किल हो जाता है कि फोटो खिचवाने वाला हंस रहा है या रो रहा है। पलकों को लगातार खुली रखने का यह परिणाम होता है कि वे ऐन मौके पर अनिवार्य रूप से झपक जाती हैं और सारा खटकरम निरर्थक सिद्ध हो जाता है। फोटोग्राफर नाटा और विशालोदर हो, तो उसकी उछल-कूद को देख कर आने वाली हंसी प्रयत्न करके दबाने पर भी ऐन मौके पर फूट पड़ती है और फोटो में चेहरे पर मंद-मंद मुस्कान के बजाए पूरी बत्तीसी झलकाने वाला विकट हास्य अंकित हो जाता है। कभी-कभी फोटो खिचने के ऐन क्षण पर कोई मक्खी नाक या चेहरे पर विराजमान होकर यथेच्छ भ्रमण करने लगती है। यह मौका मक्खियां मारने का न होने के कारण बेचारा फोटो खिचवाने वाला चुपचाप अपने साथ उसकी भी छवि अंकित होने देता है। कैमरे के लेंस को उचित-अनुचित की विवेकबुद्धि बिलकुल ही न होने के कारण वह तो दृष्य की यथातथ्य छवि अंकित कर देता है और मक्षिका फोटो में भी स्थापित रहती है।

फोटो खिचवाते समय ऐन मौके पर कभी-कभी कहीं खुजाने की इच्छा इतनी दुर्निवार्य हो उठती है या खांसी, छींक, हिचकी, डकार या जम्हाई का वेग इतना प्रबल हो उठता है कि रोके नहीं रुकता और इन क्रियाओं सहित फोटो अंकित होकर वह देखने वालों के मनोरंजन का साधन बन जाता है। जिस मुस्कान को इतने प्रयत्नों के बाद फोटो खिचवाने वाला अपने मुख पर अंकित करना चाहता है वह आखिर दूसरों के मुख पर अंकित होकर कृतकार्य होती है। 'अंधा मांगे एक आंख और दाता देवे दोय' वाला न्याय शायद इसी को कहते हैं।

शरीर, पोशाक और मन की ऐसी चरम अस्वाभाविक स्थितियों में खिचे हुए फोटो में खिचवाने वाला व्यक्ति पहचान न जाए तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। आखिर देखने वाला उसे पहचाने भी किस आधार पर ? उसकी एक भी स्वाभाविक भंगिमा फोटो में नहीं होती। उसके कोरे कपड़े, बैठने का ढंग, हाथ का ग्रंथ, चेहरे की कृत्रिम मुस्कान, कुछ भी परिचित नहीं होता। ऐन वक्त पर उपस्थित होने वाली उपरोक्त आपत्तियों के कारण चेहरा टेढ़ा-मेढ़ा हो गया हो, या आंख मुंद गई हो, तब तो कुछ पूछिए ही मत। इस हालत में पहचाना न जाने पर फोटो खिचवाने वाले को भी विशेष बुरा नहीं लगता। फोटो में उसका चेहरा अकसर इतना विद्रूप और विचित्र दिखाई देता है कि लोग उसे अपने

मुखचंद्र की यथातथ्य प्रतिकृति न मानें। यहां तक कि उसे देख कर पहचानें भी नहीं, तो इससे उसका कोई अपमान नहीं होता बल्कि एक अप्रिय स्थिति से उसका छुटकारा हो जाता है। इतने सब खटकरम में से गुजरने के बाद यह परिणाम निकलता देखकर अधिकांश लोग भविष्य में फिर कभी फोटो न खिंचवाने की कसम खा लेते हैं और जो फोटो खिंच चुके हैं उन्हें हनुमान से लगा कर जामवंत तक किसी का भी चित्र कहकर श्रद्धालु लोगों के हाथों पैसे दो पैसे में बेच देते हैं। इससे फोटो खिंचवाने के खर्च की आंशिक रूप में क्षतिपूर्ति हो जाती है और उन्हें संभाल कर रखने की अप्रिय जिम्मेदारी से मुक्ति मिल जाती है।

26. साधुसंत

भारतवर्ष में आजकल जितने भी उद्योग-व्यवसाय प्रचलित हैं, उनमें से प्रत्येक में धन, ज्ञान या शक्ति रूपी पूंजी की आवश्यकता पड़ती है। खेती के लिए हल-बैल आवश्यक होते हैं और सुनार, लुहार, ठठेरे, बढ़ई, दरजी, धोबी और नाइयों को भी अपने-अपने धंधे के हथियार-औजारों की और अपने फन की जानकारी की आवश्यकता पड़ती है। साहूकारों और व्यापारियों का पूंजी के बिना काम नहीं चलता और वकीलों एवं डाक्टरों को अपने व्यवसाय के ग्रंथों और अनेक प्रकार के उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। चित्रकार, गवैये और अभिनेताओं को अपनी-अपनी कला का गहन अध्ययन करना पड़ता है और नटों, मदारियों तथा गारुड़ियों को भी विशिष्ट साधनों की सहायता से कई प्रकार के करतब दिखाने पड़ने हैं। रसोइयों के लिए पाकसिद्धि के ज्ञान के साथ-साथ आंच-गर्मी की सहनशक्ति आवश्यक होती है और कहारों-मजदूरों का काम कमरतोड़ परिश्रम और भरपूर शारीरिक बल के बिना नहीं चल सकता। और तो और, सबसे निकृष्ट व्यवसाय जो भीख मांगने का है उसमें भी झोलीतसले की आवश्यकता पड़ती है; इतना ही नहीं, मनुष्य-स्वभाव की उत्तम जानकारी हुए बिना भीख मिलना भी मुश्किल है।

उपरोक्त व्यवसायों में जिम्मेदारी के अनुपात में द्रव्य-लाभ होने के अलावा उनके करने वालों को कम-अधिक प्रमाण में आनुसंगिक लाभ भी होते रहते हैं। वकीलों और डाक्टरों पर क्रमशः मानवीय या ईश्वरीय न्यायालय के कटघरे में अभियुक्त के रूप में खड़े होने की नौबत आए तो उस संकट से छूटने के लिए उन्हें अन्य किसी की सलाह लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। गवैये को दूसरे गवैयों का गाना सुनने के लिए और अभिनेताओं को अन्य नाटक मंडलियों के खेल देखने के लिए जेब हलकी नहीं करनी पड़ती। दर्जियों या धोबियों के पास पहनने के

लिए अच्छे कपड़े न हों ऐसी शिकायत कभी सुनने में नहीं आई। रसोइयों को तो मालिकों से भी अच्छा भोजन मिलता है, यह मानी हुई बात है। नाइयों को अपनी ठोड़ी बनवाने के लिए किसी की चिरौरी नहीं करनी पड़ती और नीरक्षीर का बेमालूम मिश्रण करने की कला अवगत हो, तो ग्वालों को कभी दूध की तंगी महसूस होने की संभावना नहीं रहती।

परंतु किसी भी प्रकार की पूंजी जमाने का या ज्ञान प्राप्त करने का झंझट किए बिना सब प्रकार के सुखों का उपभोग करने वाला एक वर्ग भी हमारे देश में बड़े प्राचीन काल से मौजूद रहा है। यह वर्ग है साधुसंतों का। भारतवासी स्वभाव से ही दयालु और श्रद्धालु होते हैं। अकाल के समय पटापट मरने वाले मनुष्य-प्राणियों की वे भले ही अपेक्षा कर जाएं, पर चिउंटियों को शक्कर के बिना तरसाने का पातक उनके हाथों कभी नहीं होता। कमर तोड़ कर मेहनत करने वाले मजदूर को रोटी का टुकड़ा भी न मिले, तो इसे अपना-अपना भाग्य या पूर्वजन्म के कर्मों का फल मान कर वे अपने मन का समाधान कर लेंगे; पर दिन भर जम्हाइयां लेकर गांजे की चिलम फूंकने के सिवा और कोई काम न करने वाले साधुसंतों को छप्पन प्रकार के व्यंजनों से भरे थाल पहुंचाने में उनके द्वारा कभी कोताही नहीं होगी। जिन्होंने अपना-अपना व्यवसाय चुन कर अपने-आपको उसी में जोत दिया है उनका पेट भरने की जिम्मेदारी तो उनकी अपनी-अपनी है। परंतु जिनका कोई भी व्यवसाय नहीं उन चिउंटियों और साधुसंतों का पेट भरने का दायित्व तो सर्वथा अपने ही ऊपर है ऐसी हर हिंदू की एकांत धारणा होती है। इसलिए साधुसंतों को हमारे देश में न तो कभी किसी चीज की कमी पड़ती है न कभी काम करने की आवश्यकता। स्त्री का जन्म मिले तो वह इंग्लैंड या अमरीका में मिले और पुरुष का जन्म मिले तो फ्रांस में यह इच्छा जिस प्रकार औसत आदमी के मन में होती है, उसी प्रकार संत-महंत का अवतार भाग्य में बदा हो, तो वह भारत में ही मिले, यह कामना भी स्वाभाविक ही मानी जाएगी। इन महात्माओं को सब प्रकार के सुख प्राप्त करने के लिए न तो एड़ियां रगड़नी पड़ती हैं, न किसी के सामने दांत निपोरने पड़ते हैं। 'अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम' वाले सिद्धांत पर अटल विश्वास होने के कारण उन्हें सर्वसुख अपने मठों या आश्रमों में बैठे-बैठे ही प्राप्त हो जाते हैं। दोनों जून राजसी भोजन की पत्तलें और महात्माजी कुछ पहुंचे हुए हों तो पांव दबाने के लिए कोमल हाथों

वाली सुंदरियां उन्हें घर बैठे उपलब्ध हो जाती हैं।

साधुओं के लिए किसी भी धंधे का ज्ञान न तो आवश्यक होता है न अपेक्षित। फिर भी उन्हें अन्य धंधे वालों को शोभा न दें ऐसी अनेक हरकतें करने का जन्म-सिद्ध अधिकार प्राप्त है। कोई राज मिस्त्री लोगों को ढेले फेंक कर मारने लगे, कोई बजाज कपड़े की धज्जियां उड़ाने लगे या कोई वकील अपने मुवक्किलों को गालियां देने लगे, तो लोग उसे पागलों में शुमार करेंगे और वह भूखों मरेगा। परंतु इनमें की कोई भी बेहूदगी यदि कोई साधु अपने मठ में या गांव के पीपल के चबूतरे पर बैठ कर करना शुरू कर दे तो उसे कोई बुरा-भला नहीं कहेगा, इतना ही नहीं बल्कि उसकी प्रसिद्धि एक सिद्ध के रूप में दूर-दूर तक फैल जाएगी। साधारण और असाधारण जनों के बीच में यही फर्क होता है। कोई साधु अपने हाथों से भोजन करने के बजाय दूसरे के हाथों से करने लगे और शरीर धर्म की अन्य विधियां भी अपनी जगह पर बैठे-बैठे ही करने लगे तो उसकी इस बेहूदगी को साधु महाराज की बाल्यवृत्ति की पदवी मिल जाएगी। बैठे-बैठे अपने आप ही बड़बड़ाने लगे तो उस पागलपन को बाबा की उन्मत्त अवस्था का विरद प्राप्त हो जाएगा। भक्तों को गालियां देकर ढेले उठा-उठा कर मारने पर तो बाबा केवल परमसिद्धों को प्राप्त होने वाली उच्च कोटि की उन्मत्तावस्था पर जा पहुंचते हैं और देह को नितांत गलीज एवं जुगुप्साजनक स्थिति में रखने वाले शीघ्र ही अघोरीवृत्ति वाले परमहंस घोषित हो जाते हैं। इन सब हरकतों का कम-अधिक प्रमाण में एक साथ उदय हो जाने पर महाराज मोक्ष प्राप्ति से केवल एक सोपान नीचे की पिशाचवृत्ति में प्रवेश कर जाते हैं। शुक्र है कि मनुष्य-प्राणी की बेहूदा करतूतों के लिए पिशाचवृत्ति के बाद की कोई अवस्था संभव न होने के कारण यह वर्गीकरण यहीं समाप्त हो जाता है। अन्यथा कुछ जीवन्मुक्त साधुसंत इसके बाद की अवस्थाओं को आत्मसात करने में भी आगा-पीछा न करते।

हमारे नगर को एक बार एक ऐसे ही उच्च कोटि के साधु के समागम का लाभ मिला। वे उक्त अवस्थाओं में से किसी एक ही के समर्थक न होकर प्रसंगानुसार सभी को अंगीकार करते रहते थे। बहुधा वे दिगंबरावस्था में रहते थे। हम दंभी संसारियों की तरह उनके पास छिपाने योग्य कुछ भी नहीं था। इस हालत में वस्त्रों का झंझट भला वे क्यों पालते। अपनी वस्त्रविहीनता की लज्जा

महसूस करने के बजाय वे देखने वालों की ओर कुछ ऐसी तुच्छता से देखते थे कि कपड़े पहनने वालों को वस्त्र जैसी गर्हित वस्तु धारण करने की लाज आने लगे। स्वच्छता के संबंध में तो वे नितांत वीतराग थे। बालों को तेल या कंघी का स्पर्श उन्होंने कभी नहीं होने दिया था और स्नान वे सिर्फ भक्तों के लिए पादोदक की रसद जारी रखने के उदात्त हेतु से छठे-छमाहे ही करते थे। देह को जहां रीठे जैसी स्वदेशी वस्तु का भी स्पर्श न हुआ हो, वहां साबुन जैसी विदेशी वस्तु की तो बात ही छोड़िए। अतः भक्तों को यह चरणामृत किसी भी प्रकार के विदेशी सुगंध द्रव्य से सर्वथा अछूते और पवित्र रूप में प्राप्त होता था। वे दिनरात अपने आप से कुछ बड़बड़ाते रहते थे। उनकी इस फुसफुसाहट का शायद ही कोई शब्द किसी की समझ में आता हो। परंतु भक्तों के तृषार्त कान उसमें से मनमाना अर्थ निकाल लेते थे और उनकी यह अनमनी वाणी सैकड़ों भक्तों की शंकाओं का एक साथ समाधान करने में समर्थ होती थी। दर्शनार्थियों को पत्थर फेंक कर मारने की साधु-सुलभ वृत्ति तो उन्होंने आरंभ से ही धारण कर रखी थी।

मैं बचपन में नियमित रूप से इन साधु महाराज के दर्शनों को जाया करता था। बाबा का कृपाप्रसाद कहीं आवश्यकता से अधिक मात्रा में न मिल जाए इस डर से वक्त-जरूरत काम आने वाला एक मोटा-सा सांटा सदा साथ रखता था। साधुसंतों के पास खाली हाथों जाने का रिवाज नहीं होता। इसलिए मैं भी हर बार एक नारियल या दो-चार पैसे ले जाता था। उन्हें नमस्कार करके चढ़ावा सामने रखते समय डर के मारे मेरी ऐसी बुरी हालत हो जाती कि बयान नहीं कर सकता। एक तरफ निस्सीम श्रद्धा और दूसरी ओर सर फूटने का भय, इनके संयोग से कुछ ऐसी विचित्र मनस्थिति उत्पन्न होती थी कि बाबा का ध्यान कुछ दूसरी ओर बंटते ही मैं उन्हें झटपट नमस्कार कर लेता था और उनके कृपाकटाक्ष की राह देखे बिना पीछे की पंक्ति में बैठ कर अन्य भक्तों की आड़ में अपना पापी मुंह छिपा लेता था। बाबा का निस्पृहता का बाना तो उस पूरे इलाके में प्रसिद्ध था। चढ़ावे के नारियल को वे चढ़ाने वाले भक्त की गुरुभक्ति की परीक्षा लेने के लिए उसके सिर पर कब दे मारेंगे, इसका कोई भरोसा नहीं था। एक बार बाबा बाल्यवृत्ति में डूबे हुए हैं ऐसा भ्रम हो जाने के कारण मैंने डरते-डरते उनका चरण स्पर्श करने की हिम्मत की। परंतु क्षणार्ध में उनके मन में बाल्यवृत्ति के स्थान पर उन्मत्तावस्था का संचार हो गया और उन्होंने मेरे गाल पर इतने जोर से

रहपट लगाया कि उनके वरद हस्त की छाप पांचों उंगलियों सहित गाल पर उभर आई। दूसरे गाल की भी यही दशा होने का अंदेशा न होता तो मैं शायद बेहोश होकर वहीं गिर पड़ा होता। इतना कृपाप्रसाद एक साथ झेलने की मुझ जैसे पामर की तैयारी नहीं थी। अतः साधु महाराज का उठाया हुआ हाथ दूसरे गाल पर पड़ कर उसका भी कल्याण करे उससे पहले ही उन्हें शतशः धन्यवाद देकर मैं उठ खड़ा हुआ और नौ दो ग्यारह हो गया।

दरअसल उन दिनों मैंने हाईस्कूल की परीक्षा दी थी। साधु महाराज के प्रति मेरी इतनी उत्कट श्रद्धा परीक्षा के परिणाम पर उनकी दिव्य सिद्धियों का प्रभाव डलवाने के हेतु से ही जमी थी। मुझे बाबा का उपरोक्त कृपाप्रसाद प्राप्त होने के कुछ ही दिनों बाद परीक्षा का परिणाम घोषित हुआ। मुझे उसमें कल्पनातीत सफलता प्राप्त हुई। बस, अब क्या था ? उसका बाबा की कृपा के साथ अविच्छेद्य संबंध जुड़ गया। अब तो परीक्षा में बैठना चाहने वाला हर विद्यार्थी अध्ययन करने के बजाय बाबा के सामने गाल रख कर घंटों बैठने लगा। बाबा ने भी कभी किसी को निराश नहीं किया। उनके हाथों से रोज पांच-सात गालों को प्रसाद मिलने लगा। जिन विद्यार्थियों को यह अनुग्रह आसानी से नहीं मिला वे नाना उपायों से बाबा को भड़काने की चेष्टा करने लगे। इस प्रकार की यंत्रणा से दुखिया कर तो शांत से शांत मनुष्य को भी क्रोध आ सकता था। बाबा तो पिशाचवृत्ति की आत्यंतिक उन्मत्तावस्था में पहुंचे हुए थे। शीघ्र ही उनके हाथ का प्रसाद न मिलने वाला एक भी विद्यार्थी नगर में नहीं बचा। होते-होते परीक्षा का दिन आ पहुंचा। पाठ याद करने के बजाय चेहरा रंगवाने वाले सारे श्रद्धालु विद्यार्थी बड़ी आशा से परीक्षा में बैठे और सबके सब अनुत्तीर्ण हुए। परंतु बाबा की चमत्कार सिद्धियों की शोहरत में इससे कोई फर्क नहीं पड़ा। लोग अब यह कहने लगे कि सिद्ध पुरुषों के कृपाकटाक्ष के तो कई रूप हो सकते हैं। इन विद्यार्थियों का परीक्षा में अनुत्तीर्ण होना ही शायद उनके अधिक हित में हो। इस प्रकार बाबा के झापड़ और परीक्षा में सफलता के बीच का कार्यकारणभाव नष्ट हो जाने पर भी विद्यार्थियों की झापड़ खाने की तमन्ना में कोई फर्क नहीं पड़ा। झापड़ का अर्थ जब सफलता या असफलता कुछ भी हो सकता था, तो कौन जाने, अपने संबंध में वह न मालूम किस रूप में यशदायक सिद्ध हो जाए, इन सब परस्पर-विरोधी संभावनाओं का परिणाम यह निकला कि विद्यार्थी रहपट खाते

रहे; परीक्षा के परिणाम के अनुसार उसे शुभ या अशुभ समझते रहे; और बाबा की त्रिकालदर्शिता में और भी चार चांद लगते रहे।

यह तो हुई मनुष्य योनि के साधुसंतों की बात! परंतु हमारी उदात्त संस्कृति में पशु-पक्षी और मनुष्यों के बीच भेदभाव कभी नहीं किया गया। हमारी पौराणिक कथाओं में मनुष्येतर योनियों के पशु-पक्षियों को भी बड़ी निष्पक्षता से बराबरी का स्थान मिला है। साधुत्व के दर्शन पशु-पक्षी, स्थावर-जंगम, जड़-चेतन, किसी भी वस्तु में हों, हमारे मन में उनके प्रति आदर उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। इसका प्रमाण कुछ वर्ष पहले हमारे नगर में एक वृषभ-संत (या संत-वृषभ) का जो सत्कार हुआ था, उससे मिल जाता है। बैल का मालिक अत्यंत दरिद्र था। कई दिन तक रोटी न मिलने पर एक रोज स्वप्न में उसे अपने बैल के महान विभूति होने का समाचार मिला। इस बात की प्रसिद्धि होने की देर थी कि दर्शनेच्छु भक्तों की भीड़ उमड़ने लगी और अवतारी बैल महाराज के खुरों पर चढ़ावे के ढेर लगने लगे। परंतु वह महात्मा भी धन्य थे। वे उस सारे द्रव्य को तृणवत् मानते थे। बल्कि यों कहिये कि तृण से भी निकृष्ट मानते थे क्योंकि तृण पर तो उनकी बड़ी आसक्ति थी। अनेक धनवान भक्तों ने उन पर कामदानी की झूलें चढ़वाईं। कइयों ने उनके सींग सोने से मढ़वा दिए और अनेकों ने उनके गले में मोती की मालाएं पहनाईं। पर उस महान तपस्वी ने कभी अपनी पीठ या सींग या गले की ओर मुड़ कर भी नहीं देखा। इस दृष्टि से देखा जाए तो उसकी निस्पृहता मनुष्य-योनि के संतों की अपेक्षा कहीं ऊंचे दर्जे की सिद्ध होती थी। उसके दर्शनों को पुरुषों की तरह स्त्रियां भी आती थीं; किंतु उस महामुनि ने किसी की ओर आंख उठा कर भी नहीं देखा। आरंभ में तो भक्तगण आसीनावस्था में दर्शन करके ही संतुष्ट हो जाते थे। परंतु फिर भक्तों ने उसके चारों पांवों के बीच में से निकलने का आग्रह दिखाया। तुरंत वह चतुष्पाद संत जनकल्याण के हेतु घंटों खड़ा रहने लगा और उसकी टांगों के बीच से निकल-निकल कर अनेक संसारी प्राणी भवसागर को पार करते रहे। ऐसे मौकों पर कभी-कभी सत्पात्र को देख कर वृषभमुनि तीर्थोदक का प्रसाद भी दे देते थे। मानव साधुओं की तरह उसे किसी ने कोपायमान होते नहीं देखा। उसने सिर्फ एक बार ही पूंछ मरोड़ने वाले किसी भक्त पर लत्ताप्रहार किया था। जिस भक्त की खोपड़ी पर वह किया गया था उसकी वहीं कपालक्रिया होकर संत समागम

के बल पर उसके स्वर्गारोहण की तैयारी हो गई थी। परंतु उसे अभी इस पापी संसार में अनेक वर्ष बिताने थे इसलिए कुछ लोगों ने उसके सिर पर पानी के छींटे मारे और वह होश में आ गया। उसके बाद उसके मन में वृषभमुनि के प्रति ऐसा भयमिश्रित आदर उत्पन्न हुआ कि अपने-आपको उनकी चरणधूलि का नितांत अपात्र मानकर वह उनसे चार हाथ दूर ही रहने लगा। 'भय बिन होत न प्रीति' वाली युक्ति निरपवांद रूप से सत्य है। इस दुर्घटना के बाद वृषभसंत को रस्से से बांधा जाने लगा। परंतु इससे पामर मनुष्यों को भवसागर से मुक्ति दिलाने की उसकी योग्यता रंचमात्र भी कम नहीं हुई। यह महान संत समाधिस्थ हुए तब से उनके नाम से प्रतिवर्ष बड़ा मेला लगता है। उनकी संतति में सिर्फ एक सांड था। मालिक ने उसमें भी साधुत्व का साक्षात्कार होने का प्रचार किया। परंतु इस देश के चतुर लोग ऐसे बहकावे में नहीं आते। लोगों ने सांड को संत मानने के बजाय उसके मालिक को ही पाखंडी करार दिया। संतसमागम की महिमा ऐसी अगाध है कि वृषभसंत की निर्वाण प्राप्ति के बाद उनके मालिक को परद्रव्य का स्पर्श भी नहीं हुआ। उनके जीवनकाल में चढ़ावे के रूप में प्राप्त द्रव्य में से एक दमड़ी भी खर्च करने की उसकी इच्छा नहीं हुई यह उसकी कृपणता का लक्षण था। अन्यथा उस पूंजी को वह जीवन भर खाकर भी समाप्त नहीं कर सकता था।

हमारे बंडूनाना की वृत्ति जन्म से ही श्रद्धालु थी। एक बार हाल ही में समाधिस्थ होने वाले किसी संत ने उन्हें स्वप्न में दर्शन दिए और कहा कि 'बच्चा, मेरा फिर से अवतार हो गया है। कल तुझे एक खटमल के रूप में मैं दर्शन देने वाला हूं। सावधान रह, और कल घर में जो सबसे मोटा खटमल मिले उसी को मेरा रूप मान।' बस···बंडूनाना ने दिन निकलते ही घर के तमाम खिड़की-दरवाजे बंद करके पक्की नाकेबंदी कर दी। दरवाजों पर तो बड़े-बड़े ताले लगा दिए। अब न तो कोई बाहर का खटमल अंदर आ सकता था, न भीतर का बाहर जा सकता था। फिर उन्होंने पलंग, तखत, पटड़े, मेज-कुर्सियां, अलमारियां, गद्दे, तकिये, लोड आदि खटमलों को प्रिय लगने वाले समस्त निवासस्थानों को झटक-झटक कर घर के संपूर्ण मत्कुण समुदाय को एकत्रित किया और साधु महाराज के मत्कुणावतार को ढूंढ निकालने की मुहिम शुरू की। छानते-बीनते आखिर उन्हें सबसे मोटा और पुष्ट खटमल मिल गया। उन्होंने तुरंत उसकी एक डिबिया

में प्राणप्रतिष्ठा करके उसकी षोडशोपचार पूजा आरंभ की। सूर्योदय से पहले की मंगला आरती से लगाकर दिन की धूपारती और सूर्यास्त वेला की संध्या आरती तक एक भी उन्होंने चूकने नहीं दी। भोजन से पहले वे उसे नैवेद्य भी अर्पण करने लगे। परंतु नाना की शय्या पर यथेच्छ संचार करके उनके खून के घूंट पीने का चसका लगे हुए उस मत्कुणराज का दूर से दिखाए जाने वाले नैवेद्य से समाधान नहीं हुआ। उसने अन्न-जल त्याग दिया और चरम कृशता को प्राप्त करके वह संत शिरोमणि समाधिस्थ हुआ।

अब तक हमने केवल पाखंडी और बुद्धिहीन साधु-संतों का वर्णन किया। परंतु सभी साधु ऐसे नहीं होते। इनमें से कई महाबुद्धिमान, परम विद्वान और सामर्थ्यशाली भी होते हैं। इन्हें भूत-भविष्य का ज्ञान वर्तमान की अपेक्षा कई गुना ज्यादा होता है। योगबल के सहारे वे आश्चर्यजनक चमत्कार कर सकते हैं। वंडूनाना को स्वप्न में साक्षात्कार कराने वाले साधु महाराज इसी श्रेणी के थे। नाना का तो शुरू से ही यह हाल था कि दोपहर के भोजन के समय आ टपकने वाले हर साधु-वैरागी को वे अपनी सत्त्वपरीक्षा करने को आने वाला महान तपस्वी मान लेते थे। श्रद्धावान को सत्त्वपरीक्षकों की कमी कभी नहीं पड़ती। अतः दोपहर के समय कोई न कोई महात्मा उन्हें गुसांई, वैरागी या फकीर के रूप में बिलानागा दर्शन देता रहता था। एक साधु तो प्रायः रोज आने लगा। स्वादिष्ट भोजन का परोसा पेट में पड़ते ही वह गायब हो जाता था। उसके साथ धीरे-धीरे घर की कई वस्तुएं गायब होने लगीं। नाना तो इसे भी साधुबाबा का चमत्कार मान कर चुप रहे। परंतु शीघ्र ही घर के इर्द-गिर्द पुलिस मंडराने लगी। तब से साधु महाराज ने दर्शन देना बंद कर दिया। विघ्नसंतोषी पुलिस वालों ने बीच में ही बाधा न डाली होती, तो साधु महाराज ने नाना के सिर पर का सांसारिक बोझ बिलकुल हल्का कर दिया होता।

नाना के यह अनेकविध गुरु भोजन तो उनके यहां करते थे पर बीच-बीच में सूक्ष्म देह से इर्द-गिर्द के गांवों का चक्कर लगाकर पुलिस को दिलचस्पी हो ऐसे चमत्कार कर आते थे और फिर हमारे शहर में आ जाते थे। कहीं वे स्पर्श मात्र से पीतल का सोना बना देते थे। कहीं फूंक मार कर असाध्य रोगों को अच्छा कर देते थे, तो कहीं मृतकों को पुनर्जीवित कर देते थे। कभी केले के पत्ते पर बैठकर लंबी-लंबी जलयात्राएं कर आते थे तो कभी रेल की पटरियों पर

खड़े होकर सामने से पूरे वेग से आती हुई रेलगाड़ी को रोक देते थे। परंतु ऐसे चमत्कार सबके सामने करने पर लोग अपना पिंड नहीं छोड़ेंगे और भजन-साधना में बाधा पड़ेगी इस आशंका से वे उन्हें गुप्त रूप से करते थे। यही कारण था कि इन चमत्कारों को अपनी आंखों से देखने का सौभाग्य शायद ही किसी को प्राप्त हुआ हो। लोगों के कानों में इन चमत्कारों का सुरस वर्णन प्रायः महाराज के चेले-चपाटों द्वारा उंडेला जाता था। भक्तों की भीड़ और उससे जनित तपोभंग का उन्हें इतना डर लगता था कि लोगों को बिदकाने के लिए वे उनके सामने सुरापान, परस्त्रीगमन जैसे अनाचार भी करते थे। परंतु हमारे लोग भी कुछ कम चालाक नहीं हैं। वे साधुबाबा की तिकड़म को तुरंत पहचान जाते और उनके इर्द-गिर्द और भी अधिक भीड़ करने लगते। एक साधु महाराज ने तो लोगों के मन में अपने प्रति संपूर्ण तिरस्कार उत्पन्न करने के लिए एक छैलछबीली पुंश्चली को कामचलाऊ उपपत्नी के रूप में अपनी कुटिया में ही रख लिया था। परंतु इससे उनकी अपकीर्ति होना तो दरकिनार उलटे दूर-दूर के प्रदेशों से लोग उनके (उनकी आकर्षक देवदासी के नहीं) दर्शनों के लिए आने लगे। किसी ने ठीक ही कहा था कि कीर्ति स्वेच्छाचारिणी स्त्री के समान होती है। जो पागल होकर उसके पीछे पड़ते हैं, उनसे वह सीधे मुंह बात भी नहीं करती। और जो उसे झिड़ककर दुत्कार देते हैं, उनका वह एकनिष्ठा से अनुसरण करती है। कुछ ऐसा ही अनुभव साधुओं को लेकर भी होता है। साधु-संत ज्यों-ज्यों अपने असाधु होने का प्रमाण देते हैं त्यों-त्यों साधुत्व उन्हें गोह की तरह चिपकता जाता है। मद्यपान, मांसाहार या व्यभिचार को ले कर झूठी बदनामी फैल जाए तो वह बड़े-बड़े समर्थ पुरुषों के चरित्र को भी मटियामेट कर सकती है। परंतु इन्हीं दुराचारों के प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध होने पर भी साधुओं का चरित्र उस गंदगी से मलिन होने के बजाए और भी अधिक उज्ज्वल हो उठता है।

चमत्कारों का प्रत्यक्ष प्रदर्शन न करने के लिए साधुसंतों द्वारा इतनी सावधानी बरती जाने पर भी कभी-कभी उनके हाथों कोई छोटा-मोटा चमत्कार हो ही जाता है। इससे उनकी कीर्ति में और भी वृद्धि होती है। अनेक स्त्रियां पुत्रप्राप्ति के लिए बाबा की सेवा करने लगती हैं। अपने कृपाप्रसाद के लिए सत्पात्र और एकनिष्ठ शिष्याएं चुन कर बाबा भी उनकी मनोकामना पूरी करते रहते हैं और उनके पतियों का पुनामक नरक से उद्धार करते रहते हैं। जिनके मनोरथ पूरे

नहीं होते वे, मानी हुई बात है कि सत्पात्रता और एकनिष्ठा की कसौटी पर खरी नहीं उतरी होंगी। गुरु महाराज के इर्द-गिर्द रोज जितनी घटनाएं होती हैं उनका इलहाम उन्हें पहले से ही हो जाता है। घटना होने के तुरंत बाद वे अपने शिष्यों से खुद को उसका पूर्वज्ञान होने का जिक्र कर देते हैं, अतः उन पर शंका करने का कोई कारण ही नहीं रहता। एक बार एक साधु महाराज किसी भक्त के यहां प्रसाद पाने के लिए गए। उसी रात को उसके यहां चोरी हो गई। दूसरे दिन सुबह साधुबाबा ने चोरी का माल आंगन के किस कोने में गड़ा हुआ है यह बता दिया और गढ़ा खोलकर माल बरामद भी करवा दिया। इतना ही नहीं, चोर ने खड्डा खोदने के लिए किस कुदाल का प्रयोग किया था यह भी बताया। जाहिर है कि चोरी हुई उस समय भक्तवत्सल बाबा की जागरूक सूक्ष्मदेह चोर के रूप में संचार कर रही थी। एक बार तो उन्होंने इससे भी बड़ा चमत्कार कर दिखाया। उनके दर्शनों को आने वाली किसी स्त्री की अंगूठी मठ में ही कहीं खो गई। बात का होहल्ला न होता तो बाबा इस चमत्कार को गुप्त रख जाते। पर चकल्लस बढ़ती देख कर उन्होंने अंगूठी को अपनी गोमुखी में से निकाल दिखाया और लोगों को आश्चर्य विमूढ़ कर दिया।

इस श्रेणी के साधु-संत भूत-भविष्य-वर्तमान का अचूक ज्ञान रखते हैं यह पहले कहा जा चुका है। परंतु उनका यह ज्ञान बहुधा पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की घटनाओं तक ही सीमित रहता है। मनुष्य के वर्तमान जन्म की गत और अनागत घटनाओं को वे विशेष महत्त्व नहीं देते; क्योंकि यह बातें तो कोई साधारण ज्योतिषी भी बता सकता है। परंतु इस क्षेत्र में भी अपना पूरा अधिकार है यह दर्शाने के लिए कभी-कभी 'तुम्हें शीघ्र ही किसी महात्मा से मोक्षप्राप्ति का साधन प्राप्त होगा' जैसी महत्त्वपूर्ण भविष्यवाणियां वे भक्तों के कान में डालते रहते हैं। इसके विरुद्ध, मनुष्य के गत जन्म और आने वाले अवतार की उन्हें संपूर्ण जानकारी होती है। उनके अधिकांश भक्त पूर्वजन्म में अकसर सूकर, गर्दभ, बैल आदि निम्न योनियों में विहार करते पाए जाते हैं जबकि आने वाले जन्म में उन्हें प्रायः महंत, श्रेष्ठी, राजा आदि उच्च योनियां प्राप्त होने वाली होती हैं। मोटे हिसाब से यह कहा जा सकता है कि पूर्वजन्म में जिसने जितनी ही अधिक खाक छानी हो उसे आने वाले जन्म में उतना ही अधिक ऐश्वर्य मिलने की संभावना रहती है। शर्त सिर्फ एक होती है कि वर्तमान जन्म में वह बाबा की

सेवा द्वारा पूर्वजन्म के पापों का परिमार्जन कर ले। आने वाले जन्म में प्राप्त होने वाले वैभव और सुख की कल्पना में डूब कर भक्तगण न सिर्फ पूर्वजन्म में भुगती हुई यातनाओं को ही बिसार देते हैं बल्कि वर्तमान जन्म में गुजारने वाले पशुतुल्य जीवन के साथ भी समझौता कर लेते हैं।

इस श्रेणी के साधु-संत अपने पूर्वजन्मों की जो परंपरा बताते हैं वह तो वाकई विस्मयजनक होती है। इससे उन्हें वर्तमान जन्म में इतना ऊंचा अधिकार कैसे प्राप्त हुआ इसकी संगति लग जाती है। किसी सुदूर अतीत में वे वेदकालीन कश्यप ऋषि थे और उन्होंने ऋग्वेद के कई सूक्तों की रचना की थी। इस बात को अनेक युग बीत जाने के कारण इस जन्म में उन्हें वह सब कुछ याद न रहे और उन ऋचाओं का वे अर्थ भी न समझते हों, यह स्वाभाविक है। रामावतार में वे रघुकुल के गुरु वसिष्ठ ऋषि थे और कृष्णावतार में उन्हें गर्गमुनि का चोला प्राप्त हुआ था। उस अवतार में उन्होंने सुभद्राहरण के समय अर्जुन की सहायता करके असत्याचरण किया था जिसके प्रायश्चित् स्वरूप उन्हें कपिल के रूप में पुनः मनुष्य योनि में आना पड़ा। इस बार भी उन्होंने सांख्य दर्शन के रचयिता के रूप में प्रकृति को सर्वाधिकार प्रदान करके पुरुष को उसकी तुलना में नितांत पंगु बना देने का पातक किया। इस दोष के निवारणार्थ उन्हें श्रीमद् आद्य शंकराचार्य का अवतार धारण करना पड़ा। इस बार उन्होंने माया का दबदबा कम करके ब्रह्म के वर्चस्व की पुनर्स्थापना की। परंतु योगबल द्वारा मन को एकाग्र करके किसी भी विषय का मर्म समझने की शक्ति होने पर भी गीता का भाष्य करते समय उन्होंने उसका समुचित प्रयोग नहीं किया। इस त्रुटि के प्रक्षालन के लिए इसके बाद वाले जन्म में उन्हें ईसा मसीह का अवतार धारण करके सूली पर लटकना पड़ा। आजकल के पाश्चात्य विद्वान और उनकी देखादेखी कुछ भारतीय मनीषी शंकराचार्य को ईसा के बाद के युग में खींचते हैं। पर यह उनका मिथ्या भ्रम है। मसीहा के बाद उन्होंने एकनाथ महाराज का चोला धारण किया। परंतु इस जन्म में उन्होंने अस्पृश्योद्धार आदि सुधारक वृत्ति की बेहूदा हरकतें कीं। उनका निवारण करने के लिए उन्हें कबीर का जन्म प्राप्त हुआ। परंतु इस बार भी उन्होंने 'जात-पांत पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई' जैसी चातुर्वर्ण्य विरोधी रट लगाई जिसके कारण वे मुक्ति का अधिकार खो बैठे। इसके बाद छोटे-मोटे संतावतारों में पूर्वदोषों का संपूर्ण परिमार्जन हो जाने के कारण

उनका वर्तमान जन्म पवित्र ब्राह्मण कुल में हुआ। यह उनका अंतिम अवतार है। इसके बाद वे मोक्ष प्राप्त करके ब्रह्मज्योति में विलीन हो जाएंगे।

वृत्ति से नितांत विरक्त होने पर भी ये साधुसंत अंतःकरण से अत्यंत मृदु और स्वभाव से परम दयालु होते हैं। इसी कारण वे अपनी पूर्वजन्म की पत्नियों को कभी नहीं भूलते। कोई विशेष लावण्यवती युवती उनके चरणस्पर्श को आए तो उन्हें उसमें अपनी पूर्वजन्म की भार्या के दर्शन होने लगते हैं और वे तुरंत उसे उसी भाव से देखना आरंभ कर देते हैं। इस जन्म में वह परस्त्री है जैसे क्षुद्र विचार को मन में स्थान देकर वे उसके साथ बेरुखी का बर्ताव नहीं करते। ऐसी समस्त स्त्रियां सुंदर और तरुण होती हैं, यह अलग से बताने की आवश्यकता नहीं। किसी वृद्धा या कुरूपा स्त्री को देखकर किसी बाबा के मन में उसके पूर्वजन्म की भार्या होने का इलहाम हुआ हो, ऐसा कभी सुनने में नहीं आया। ऐसी महान आत्माओं के सान्निध्य में बुढ़ापा और बदसूरती भला एक क्षण के लिए भी कैसे टिक सकती है।

बाबाओं को पूर्वजन्म की पत्नियां तो नखशिखांत याद रहती हैं; पर उस जन्म के मां-बाप की उन्हें कोई स्मृति नहीं रहती। ऐसी कुत्सित टीका कभी-कभी मत्सरी लोगों के मुंह से सुनाई दे जाती है। ये मूढ इतना भी नहीं समझते कि ऐसी महान-विभूतियों को जन्म देने वाले भाग्यवान माता-पिता तो इसी जन्म के अंत में मोक्ष के अधिकारी होकर आवागमन के फंदे से छूट गए होंगे। परंतु महात्माओं के साथ पूर्वजन्म में या इस जन्म में, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, किसी भी प्रकार का संबंध न होने वाले मंदभाग्यों को इतनी सुबुद्धि भला सूझ ही कैसे सकती है। इस हालत में यही स्वाभाविक है कि ये बुद्धिशून्य लोग साधुसंतों की निंदा ही नहीं बल्कि उनके साथ घनिष्ठ संबंध में आने वाले श्रद्धालु भाग्यवानों से ईर्ष्या भी करते रहें। यदि यह सौभाग्य उनके ललाट में लिखा होता तो मानी हुई बात है कि वे इतना शोरगुल कभी न मचाते। परंतु इसका भी कोई भरोसा नहीं। इन उलटी खोपड़ी के सुधारकों के संबंध में कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। किसी पहुंचे हुए महात्माजी से पूर्वजन्म में अप्रत्यक्ष रूप से संबंधित एक सुधारक नराधम ने उनके साथ बड़ा ही गर्हणीय व्यवहार किया था। वह महात्माजी की पूर्वजन्म की भार्या का इस जन्म का पति था। अपनी स्त्री के साथ बाबा का पूर्वजन्म का नाता सुनते ही उसने पांव से जूता निकालकर

बाबाजी के सिर पर दे मारा और कहा, "बाबा, यह जूता पूर्वजन्म में तुम्हारी पगड़ी था।" उसके इस अतिचार का उसे तुरंत दंड भी मिल गया। बाबा ने उसकी स्त्री को अपनी सेवा से फौरन हटा दिया और उस अविचारी को शाप दिया कि "जा, अगले अवतार में तुझे चमार का जन्म मिलेगा।" ऐसे नराधम को कीट या कृमियोनि में धकेलने के बजाय उसे मनुष्ययोनि में ही जन्म लेने का अधिकार दिया इसे बाबा की दयालुता और न्यायप्रियता का अकाट्य प्रमाण मानना होगा।

पूर्वजन्म की बिछड़ी हुई पत्नी के साथ जान-पहचान स्थापित होते ही उसकी इस जन्म की जाति को लेकर किसी प्रकार के निर्बंध का पालन करना उच्च कोटि के साधु कभी पसंद नहीं करते। सुंदर स्त्री में पूर्वजन्म की भार्या के दर्शन होते ही उनका एक ही बाना रहता है कि 'जातपांत पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई।' इसके बाद वे रात-दिन उसके साथ हरिभजन में डूबे रहते हैं।

अंत में एक और बात भी बड़ी दिलचस्प है कि लंबे विछोह के बाद जन्मांतर में प्राप्त होने वाली उनकी ये पत्नियां अकसर सुहागिन विवाहिताएं ही होती हैं। उनके क्वांरी या विधवा होने से कभी-कभी बड़ा झमेला खड़ा हो जाता है। एक बार एक विधवा कोरिन आठ-दस महीने तक एक बाबाजी की चरणसेवा में रही। उसके पूर्वजन्म की पत्नी होने का इलहाम तो बाबा को सेवा के आरंभकाल में ही हो गया था। छह-सात महीने तक अनिर्बंध सेवा चलती रहने के बाद बाबा ने उस एकनिष्ठ सेविका को इस जन्म में भी विवाहरज्जू से बद्ध कर लेना उचित समझा। इस विवाह से विधवा-विवाह और अंतर्जातीय विवाह ये दोनों सुधार एक साथ संपन्न हो जाने के कारण सुधारकों को मुंह की खानी पड़ी। इस पराभव से क्षुब्ध होकर वे कई दिनों तक बाबा के शिष्या के साथ के विवाहपूर्व संबंध को लेकर बेमतलब थूक उड़ाते रहे। पर लोगों ने इसे द्वेष के सिवा कुछ नहीं माना।

फलश्रुति के रूप में यह बता देना भी हम उचित समझते हैं कि इस नवपरिणीता वधू से बाबा को एक महीने के भीतर ही दिव्य पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। पहले फूल और बाद में फल यह प्रकृति का नियम है, यह हम भी जानते हैं। पर साधुसंत जैसे अवतारी पुरुषों के संदर्भ में यह नियम उलटा भी हो जाए तो आश्चर्य की कोई बात नहीं माननी चाहिए।

27. पांडूतात्या की निर्जला एकादशी

जवानी में जोश के साथ बहने वाला रक्त का प्रवाह उत्तरावस्था में जब मंद गति से वहने लगता है तो देह की अन्य क्रियाओं के साथ जठराग्नि की ज्वाला भी मंद पड़ जाती है । प्याज जैसी वातप्रकोपक वस्तुओं के प्रति अपने आप अरुचि हो जाती है। चातुर्मास का व्रत करने की इच्छा होने लगती है और एक-भुक्त रहने में तो कोई कठिनाई ही नहीं पड़ती। भुक्त आयुष्य बढ़कर भोग्य आयु ज्यों-ज्यों कम होती जाती है त्यों-त्यों धर्मश्रद्धा भी बढ़ने लगती है। यौवन में विषयभोग अपनी नवीनता के कारण प्रिय मालूम देते हैं और धर्मजिज्ञासा के लिए अभी बहुत समय पड़ा है ऐसा विश्वास रहता है। इसी कारण से तरुणाई में मनुष्य नास्तिक न हो तो भी धर्म के संबंध में उदासीन रहता है। परंतु विषयों को भोग-भोगकर उनके प्रति आसक्ति ज्यों-ज्यों कम होने लगती है और उर्वरित आयु के समाप्त होने के लक्षण दिखाई देने लगते हैं कि मनुष्य को ईश्वर की सुध आने लगती है। जवानी में गालियों की सहायता के बिना एक वाक्य भी न बोल पाने वाले नास्तिक रामभजन करने का समय आते ही बात-बात में भगवान की दुहाई देकर उसका नामस्मरण करने लगते हैं। धर्म की खिल्ली उड़ाने वाले हुश उसके अभिमानी और पुरस्कर्ता हो उठते हैं । और तो और मूर्तिपूजा का आवेश-पूर्ण विरोध करने वाले देवनिंदक सगुण उपासना के एकांतिक समर्थक बन कर दिन-रात सेवा-पूजा में लगे रहते हैं। भगवान के घर जाने का दिन आने से पहले ही उस सकलनियंता के शक्तिशाली अस्तित्व की छाया मनुष्य के मन पर अपने आप पड़ने लगती है।

उत्तरावस्था में खाने-पीने के प्रति अनासक्ति और धर्म एवम् ईश्वर के प्रति बढ़ती हुई श्रद्धा के कारण ही चातुर्मास; एकादशी, शिवरात्रि आदि व्रतों का जन्म हुआ होगा। चातुर्मास में मंदाग्नि के कारण हज़म न होने वाले बैंगन, प्याज,

लहसुन आदि पदार्थ ही निषिद्ध माने जाते हैं। परंतु एकादशी-शिवरात्रि जैसे उपवासों में अन्नसेवन—औरव्रत का पालन कठोरता से करना हो तो जलसेवन—पूर्णतः वर्जित होता है। धीरे-धीरे इन व्रतों का प्रभाव बड़े-बूढ़ों के साथ युवा स्त्री-पुरुषों पर भी पड़ने के कारण उनका मूल उद्देश्य लुप्त होकर कंदफलों के आहार को निराहार व्रत और दूध के सेवन को निर्जल उपवास की संज्ञाएं प्राप्त हुई होंगी। फिर तो अनेक प्रकार के निरान्न पदार्थों का समावेश फलाहार संज्ञा के अंतर्गत हो गया और आजकल तो पदार्थों की विविधता एवं गरिष्ठता में 'फलाहार' ने अन्नाहार को कहीं पीछे छोड़ दिया है। बड़े-बूढ़ों के व्रतों का तरुणों के साथ संबंध होने पर उनके नियमों-बंधनों की आरंभिक कठोरता कम होकर अब उसका स्थान सुविधा और समझौते ने ले लिया है। पहले उपवास के दिन लोगों को एकाध फल खाने में भी संकोच होता था। अब तो केले के गुच्छे के गुच्छे और आम के टोकरे स्वाहा होने लगे हैं। आलू, शकरकंद और सिंघाड़ों से इतने प्रकार के उपवास के पदार्थ बनने लगे हैं कि उनके सामने रवड़ी-मलाई भी मात खा जाएं।

आजकल तो उपवास के दिन बूढ़े-बुढ़िओं का भी चाय-कॉफी के बिना काम नहीं चलता। ये चीजें विदेशी हैं पर इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। इस दृष्टि से देखने पर तो आलू भी विदेशी है, पर व्रत-उपवासों में उसे ऐसे सम्मान का स्थान मिल चुका है कि उसके अभाव में 'फलाहर' की कल्पना भी नहीं की जा सकती। फिर चाय-कॉफी में जो विदेशी चीनी मिलाई जाती है वह गौमाता की हड्डियों के चूर्ण से शुद्ध की हुई होती है। इसलिए उसमें निषेध योग्य कुछ भी नहीं। इसी प्रकार सामान्य दिनों में मुखशुद्धि के लिए सुपारी का टुकड़ा पर्याप्त होता है जबकि उपवास के दिन लौंग-इलायची के बिना काम नहीं चलता।

पहले भगवान भोलानाथ की प्रिय बूटी विजया का सेवन केवल शिवरात्रि के दिन ही किया जाता था। परंतु अब तो शांभवी इतनी लोकप्रिय हो उठी है कि एकादशी के दिन कट्टर से कट्टर वैष्णव को भी शैव बन कर उसका सेवन करने में कोई हिचक नहीं होती। शिवरात्रि तो आजकल भंगेड़ी-गंजेड़ियों का प्रधान त्योहार बन गई है। उस दिन नौजवानों का अधिकांश समय भांग घोटने में ही व्यतीत होता है। हमारे कुछ व्रतों में रात्रि-जागरण करने की भी प्रथा है। पहले इस समय का सदुपयोग नामस्मरण और कीर्तन आदि में होता था। अब रात-रात भर ताश-चौपड़ के फड़ जमते हैं। सीताराम और राधेश्याम के स्मरण में

खर्च होने वाला समय अब गोटों की मारपीट और बेगम-बादशाहों की जोड़ियां जमाने में खर्च होने लगा है। सारांश यह कि आजकल नौजवान पीढ़ी जितनी उत्सुकता से होली के हुड़दंग की बाट देखती है उतनी ही आतुरता से व्रतों-उपवासों की राह तकती है।

आजकल की तरह बचपन में भी बंडूनाना और पांडूतात्या के साथ मेरी घनिष्ठ मैत्री थी। हम लंगोटिया यार थे। हम तीनों के घर के बुजुर्ग बड़े धर्मनिष्ट और पुराणमताभिमानी थे। यज्ञोपवीत होने से पहले ही हम तीनों को संध्या, पुरुषसूक्त, सौर, पवमान, रुद्र, वैश्वदेव और पूजा-अर्चा की दीक्षा मिल चुकी थी। जबरदस्ती की धार्मिकता के इस अकाल आग्रह का परिणाम यह हुआ कि प्रतिक्रिया के रूप में हमारी वृत्ति हमारे पिताओं को नापसंद होने वाली अधार्मिकता की ओर झुकने लगी। घर के लोगों की शौचाशौच, छुआछूत और सखरे-निखरे पर एकांतिक श्रद्धा थी। हम भी बुजुर्गों के सामने तो ऐसी धार्मिकता दिखाते कि स्नान के बाद सूत के धागे पर भी पांव न पड़ने देते। परंतु उनकी पीठ फिरते ही छुआछूत के सारे नियमों को ताक पर रखकर बैठक की गद्दियों पर कलाबाजी करते, रसोईघर में जाकर सखरे-निखरे के सारे बंधनों को तोड़कर पूरी रसोई को छूत लगा देते। पिताजी के सामने बैठकर संध्या करते समय हम अपने चेहरों को यथासंभव गंभीर बनाए रखते। परंतु जाप के लिए उनकी आंखें मुंदते ही हम एक-दूसरे को जीभ निकालकर चिढ़ाने लगते। थालियां परोसी जाएं तब तक तो हम शून्य में दृष्टि को केंद्रित करके ध्यानावस्था में होने का दिखावा करते। पर पिताजी ने ठाकुरजी का भोग लगाने के लिए जैसे ही आंखें मूंदी कि हम दूसरों की थालियों की चीजें अपनी थाली में और अपनी थाली के पदार्थ मुंह में डालना आरंभ कर देते। पितजी को प्याज से सख्त नफरत थी और घर में प्याज की कोई चीज बनाने की तो क्या प्याज लाने की भी मनाही थी। परंतु दो-चार महीने में पिता जी जब भी कहीं बाहर जाते कि हम मां के पीछे पड़ कर प्याज की पकौड़ियां और चीले बनाते। पिताजी के लौटने पर घर में सब जगह अगरबत्तियां जला देते ताकि कहीं से प्याज की दुर्गंध न आए और उनके आने के समय लौंग-इलायची चबाकर बड़ी गंभीरता से पोथियां खोले अध्ययन के लिए बैठ जाते। घर में आते ही पिताजी चारों ओर से धूप की पवित्र सुगंध का अनुभव करते और कुलदीपकों को शास्त्रों के अध्ययन में डूबे हुए पाते। इससे उनके आनंद की सीमा

न रहती और हमारी धर्मश्रद्धा की वे सराहना करते। मुंह की सांस से कहीं हमारा पाप उजागर न हो जाए इस डर से एकाध दिन हम उनके पास न जाते। दूर से ही बड़े अदब से बात करते। हम लोगों में ऐसी शालीनता का उदय होते देखकर उन्हें और भी अधिक संतोष होता।

एकादशी, जन्माष्टमी और शिवरात्रि के दिन हमारे घर में तीन प्रकार का भोजन बनता था। बच्चों के लिए दालभात और रोज का सादा खाना; बीमारों के लिए कांजी-साबूदाना और व्रत रखने वालों के लिए फलाहार। हम बच्चे इन तीनों पंगतों में शरीक होकर तीनों प्रकार के व्यंजनों पर हाथ साफ करते। पिताजी अन्न का कण तो क्या पानी बूंद का भी स्पर्श किए बिना कोरा उपवास करते थे। उपवास के दिन उनके सामने फड़कना बुद्धिमानी का काम नहीं था। उस रोज उनका पित्त भड़का हुआ रहता था और क्रोधित होने के किसी बहाने की वे मानो राह देखते रहते थे। इस हालत में उनके सामने जाना भूखे शेर की मांद में जाने से कम खतरनाक काम नहीं था। एक बार एकादशी के दिन मैंने पिताजी के सामने डकार लेने की बेवकूफी की। अब आप ही बताइये, जिसके पेट में जठराग्नि की ज्वाला भड़क रही हो उसके सामने डकार लेना भला कहां की बुद्धिमानी है। पिताजी को इतना गुस्सा आया कि उन्होंने मुझे पूजा का पंचपात्र फेंक कर दे मारा। मैं थोड़ा-सा बच गया। पंचपात्र सिर में लगता तो वहीं कपालक्रिया हो जाती और एकादशी के दिन मृत्यु होने के कारण मुझे अपनी इच्छा के विरुद्ध बैकुंठवास मिल जाता।

जिस दिन मुझ पर यह बीती उसी दिन पांडूतात्या के घर में उन पर भी इसी प्रकार की आपत्ति आई हुई थी। उनके पिताजी पूजा के लिए बैठे, पर उपवासजनित क्षीणता के कारण कपूर की डिबिया का ढक्कन न खोल सके। उन्होंने प्रयत्नों की पराकाष्ठा की; दांत पीस-पीसकर ढक्कन खोलने की कोशिश की; डिबिया को चारों ओर से जमीन पर ठोक कर देखा, पर ढक्कन नहीं खुला सो नहीं खुला। बालक पांडू सामने ही बैठा हुआ था। पिताजी की असफल चेष्टाएं देखकर उसे हंसी आ गई। बस, अब क्या था। पिताजी ने क्षणार्ध में दुर्वासा का रूप धारण कर लिया और डिबिया पांडूतात्या के सिर पर दे मारी। इससे ढक्कन खुलकर कपूर की टिकियाएं घर भर में बिखर गईं और तात्या की मजबूत खोपड़ी से टकराने के कारण डिबिया में खोंप पड़ गई। कहते हैं पूत के पांव पालने

में ही दिखाई दे जाते हैं। तात्या के पिता ने भी विचार किया कि इस तरह फेंक-फेंक कर मारने पर घर की सारी चीजें भले ही टूट-फूट जाएं, सुपुत्र की खोपड़ी का बाल भी बांका नहीं होगा। सुविचार से क्रोध पर रोक लगकर हानि टलती है इसका इससे अच्छा उदाहरण और कहां मिलेगा।

बंडूनाना के पिता भी बेहद गुस्सैल थे। परंतु उनका क्रोध कुछ अन्य प्रकार का और आत्मकेंद्रित था। क्रोध के आवेश में वे दूसरों के बजाय अपने ही जी को क्लेश पहुंचाते थे। किसी के साथ झगड़ा हो जाने पर वे अन्नजल का त्याग करके अपना ही सर पीटने लगते। गुस्से का दौरा पड़ने पर वे जड़चेतन का भेद भी भूल जाते थे। एक बार किसी उपवास के दिन अनाहार के कारण चक्कर आ जाने से वे जीने से लुढ़क गए। बस, अब क्या था? उनके आत्मकेंद्रीय क्रोध ने रौद्र रूप धारण कर लिया। वे पांच-सात बार जीने पर चढ़कर जानबूझकर नीचे लुढ़के। हर बार जीने को संबोधित करके कहते जाते थे, "ले ससुर! मुझे नीचे गिराता है न? ··ले, ···अब लेता जा ··।" इस आततायीपन से जीने की अकल कहां तक ठिकाने आई यह तो नहीं कहा जा सकता; पर नाना के पिताजी की हड्डी-पसलियां चूर-चूर हो गईं और वे महीनों तक खटिया तोड़ते रहे।

हम तीनों के पिता जिस रोज निर्जल उपवास करते थे उस रोज तीनों के घरों में प्राय: एक-सी स्थिति रहती थी। निर्जल वे व्रत करते थे और मुंह का पानी घर के अन्य लोगों का सूख जाता था। उन तीनों को इससे कुछ पुण्यलाभ होता था या नहीं, यह कहना तो मुश्किल है पर घर के अन्य लोगों को ऐसा लगता था मानो पिछले कई जन्मों के पाप साकार होकर सामने आ खड़े हों। यह आतंक दूसरे दिन द्वादशी का पारण हो जाने पर ही समाप्त होता था। बुजुर्गों के पेट में खीर-पूरी पहुंचते ही उन्हें पिछले दिन के अपने शीघ्रकोप को लेकर कुछ पश्चात्ताप भी होता था। इससे यही प्रमाणित होता है कि क्रोध का शमन करने में मधुर शब्दों की अपेक्षा मधुर भोजन की क्षमता कहीं अधिक होती है। उनकी यह सौम्य-वृत्ति (बीच में अन्य कोई व्रत का मौका न आए तो) अगली एकादशी तक टिकती थी।

इस प्रकार बचपन में ही हम लोगों के मन पर निर्जला एकादशी का आतंक सवार हो जाने के कारण आगे के जीवन में भी उसका दबदबा कायम रहा। कायाकष्ट के त्याज्य अंग को छोड़कर व्रत के बाकी अंगों का पालन हम बड़े

भक्तिभाव से करते थे। मुझे जिस प्रकार मिष्टान्न प्रिय है उसी प्रकार बंडूनाना को तीखे-चटपटे पदार्थों का बचपन से ही शौक था। मेरे द्वारा रबड़ी का और उनके द्वारा कूटू के दहीबड़ों का पहला ही कौर मुंह में रखा जाते ही एकादशी व्रतोपवास का स्वर्गसुख के साथ कितना निकट का संबंध है इसकी अनुभूति हम दोनों को एक साथ होने लगती थी। मेरा तो यह स्पष्ट मत है कि इस प्रकार के मधुर व्रतों-अनुष्ठानों की बुनियाद पर ही हिंदू धर्म के पुराने संस्कार आज तक अक्षुण्ण टिके हुए हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि उपवास के दिन बर्फी और आलू की पकौड़ियों के बजाए कुनैन की गोलियां और चिरायते के काढ़े का सेवन करने का विधान शंकराचार्य जी ने किया होता, तो हमारे अधिकांश धर्म-श्रद्धालु स्वर्ग-सुख को तिलांजलि देने को तैयार हो जाते।

एकादशी-शिवरात्रि के जैसा ही मधुरानुभूति पर आधारित दूसरा कोई व्रत हो, तो वह है सत्यनारायण का। साधुवैश्य की कारागृह में खानगी होकर उसके जामाता के नाव सहित जल में डूब जाने की कथा मैंने सैकड़ों बार सुनी होगी। फिर भी उसे बार-बार सुनने से मैं कभी ऊबता नहीं। प्रसाद के अंजलि भर पंचामृत और दोना भर पंजीरी के बदले में साधुवैश्य को और भी सैकड़ों बार जेल भिजवाने में और उसके दामाद को जलसमाधि दिलवाने में मुझे कोई संकोच नहीं होगा। सत्यनारायण की कथा शहर में कहीं भी हो, मैं वहां पंडितजी के पहुंचने से पहले ही पहुंच जाता हूं और सब लोगों के चले जाने के बाद तक जमा रहता हूं। सत्यनारायण के प्रति मेरी भक्ति कदलीफल के टुकड़े डालकर खालिस देसी घी में बनाए हुए प्रसाद की मजबूत बुनियाद पर टिकी हुई है। कथा कहीं भी हो, उसके लिए मुझे निमंत्रण की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह इस व्रत का दूसरा बड़ा लाभ है। सांसारिक मान-मर्यादाओं का विचार त्यागकर मैं भक्ति-भाव से, बिना बुलाए ही पहुंच जाता हूं। एकादशी का उपवास इस व्रत से केवल एक दृष्टि से श्रेष्ठ है। उसमें पारण के निमित्त से द्वादशी के दिन भी उतने ही मधुर पदार्थ खाने को मिलते हैं।

पांडुतात्या की पसंद हम दोनों की रुचि की तरह मर्यादित नहीं है। खाद्य-पदार्थ मीठे हों या चरपरे, पकाये हुए हों या कच्चे, ठंडे हों या गरम, इसकी परवाह किए बिना वे उन्हें पेट में ठूंसते रहते हैं। आरंभ में व्रतोपवास के दिन अपना भक्तिभाव उबले हुए आलू, भूने हुए शकरकंद और सिकी हुई मूंगफलियां

आदि सात्विक पदार्थों के सेवन से ही व्यक्त करते थे। इसका मतलब यह कदापि नहीं कि उनकी गृहिणी पाकप्रवीणा नहीं थी। पाकशास्त्र में उसकी बराबरी करने वाली कम ही महिलाएं मेरे देखने में आयी हैं। बात यह थी कि पांडूतात्या उस बेचारी को कच्चे अन्न का पकवानों में रूपांतर करने का मौका ही नहीं देते थे। उपवास के दिन वे सुबह से ही रसोईघर के चक्कर काटने लगते और कच्ची-अधकच्ची जो भी चीज हाथ लगती उसे उदरस्थ करने लगते। इस हालत में, आप ही बताइए, वह बेचारी कर ही क्या सकती थी। आखिर उसे एक युक्ति सूझी। उपवास के दिन भोर होने से पहले ही वह एक टोकरी में बहुत सा कच्चा सामान भरकर तात्या के बिस्तर के पास रखने लगी। आलस में तो तात्या का हाथ पकड़ने वाले महापुरुष ने अब तक जन्म ही नहीं लिया। सुबह उठते ही यह चीजें प्राप्त हो जाएं, तो रसोईघर तक जाने का कष्ट उठाने वाली विभूति तो वे थे नहीं। एक फर्क अवश्य पड़ा। उपवास के दिन के इस नैमित्तक कर्म के प्रति उनकी भक्ति इतनी बढ़ गई कि रोज आठ बजे से पहले सोकर न उठने वाले तात्या व्रत के दिन प्रातः पांच बजे ही उठने लगे। तात्या का स्वभाव कितना अल्पसंतोषी है इसका प्रमाण इस बात से मिल जाता है कि टोकरी की सारी खाद्य-वस्तुएं समाप्त हो जाने पर भी उसमें गन्ने की सीठियां, केले और मूंगफली के छिलके, आम की गुठलियां आदि वस्तुएं बाकी बच जाती थीं। इतना मर्यादित नाश्ता करने के कारण भोजन के समय तक उन्हें जोर की भूख लग आती थी। यह उनके मिताहार का दूसरा आनुषंगिक फल था। तब तक उनकी कुशल पत्नी आलू, शकरकंद, सिंघाड़े आदि कंदमूलों की सहायता से जो वैविध्यपूर्ण रसायन तैयार करती थी उनमें से एक भी चीज का तात्या के हाथों अनादर होने की संभावना नहीं थी। पर इन सारे पकवानों को शांति से, अलग-अलग स्वाद लेकर खाने का उन्हें सब्र नहीं था। पेट में पहुंचने के बाद तो सब चीजें एक होने ही वाली हैं, तो फिर उन्हें पहले से ही मिलाकर खाने में क्या हर्ज है, ऐसे किसी अकाट्य तर्क से प्रेरित होकर वे एक तसले में आलू की पकौड़ियां, सिंघाड़े का हलवा, नारियल की बर्फी आदि वस्तुओं को एकत्र करके और ऊपर से दूध या दही डालकर उनकी सानी-सी बना लेते थे। फिर उसे श्वानवत् लोलुपता और हड़बड़ी से खाते थे। उनके फलाहार के समय इर्द-गिर्द उपस्थित रहने वालों का इस कांड को देखकर ही पेट भर जाता था। आनंददायक बातों को जुगुप्साजनक कैसे बनाए जाए यह

विद्या कोई तात्या से सीखे तो उनकी विद्वता का पता चले।

उपवास के दिन हमारे पिताजी की जो हालत अनाहार के कारण होती थी वही तात्या की किसी रोज अत्याहार के कारण होगी इस आशंका से हम सब चिंतित रहने लगे हैं। व्रत के दिन शाम को अकसर उनका पेट फूल जाता है। उनका प्राणोत्क्रमण एकादशी या शिवरात्री के दिन हुआ तो उन्हें वैकुंठ या कैलाश की प्राप्ति होगी इसमें कोई संदेह नहीं। इस जन्म को खतरे में डाल कर परलोक की इतनी एकनिष्ठा से साधना करने वाला उनके जैसा महात्मा इस कलियुग में कहीं ढूंढे नहीं मिलेगा। तात्या फलाहार तो इतना डट कर करते हैं, परंतु शास्त्रानुसार निर्जल उपवास करने का दृढ़ संकल्प होने के कारण पानी की बूंद का भी स्पर्श नहीं करते। पेट को वे इतना ठूंस-ठूंस कर भरते हैं कि न उसमें पानी की एक बूंद के लिए जगह रहे और न पानी पीने की इच्छा हो। फलाहार के बाद गरिष्ठ पदार्थों के पाचन के लिए वे जो सोंठ की फंकी लगाते हैं वही जब उनके गले के नीचे बड़ी मुश्किल से उतरती है तो फिर पानी की गुंजाइश ही कहां रही। इतनी मोर्चेबंदी के बावजूद भी पानी पीने की इच्छा हुई, तो वे पेट के गढ़े को फिर खाद्यपदार्थों से नाक तक भर लेते हैं।

इस प्रकार व्रत का दिन तो जैसे-तैसे बीत जाता है। अब रही दूसरे दिन उपवास का पारण करने की बात। उस दिन तो उनके यहां भोर से ही भोजन का जो विराट आयोजन फैलता है, वह देखते ही बनता है। परंतु हमारे वीतराग तात्या अगले दिन के गरिष्ठ पदार्थ हजम होने से पहले मध्याह्न-भोजन की खीर-पूरी को छूते भी नहीं। उनकी पत्नी व्रत को समाप्त करने के लिए बड़ी अधीर रहती है। यह स्वाभाविक है। उपवास के दिन तात्या उसके लिए फलाहार का एक तिनका भी नहीं बचने देते और निरने पेट पानी न पीने का उसका नियम होने के कारण उस बेचारी के लिए तो हर उपवास शब्दश निर्जल ही सिद्ध होता है। इसलिए उसकी सुबह से ही टकटकी लगी रहती है कि तात्या कब उठें और कब नहा-धोकर तैयार हों।

इस प्रकार हर मास में दो बार सपत्नीक निर्जला एकादशी करने के कारण तात्या के खाते में अब तक काफी पुण्य का संचय हो गया होगा। भविष्य में किसी उपवास के दिन पेट फट जाने के कारण उनकी मृत्यु होगी तब तुकाराम महाराज की तरह उन्हें भी सदेह स्वर्ग ले जाने के लिए वैकुंठ से विमान आएगा इसमें

कोई संदेह नहीं । उनकी देह को देख कर उन्हें सदेह स्वर्ग ले जाने का विष्णुदूतों का विचार वदल न गया तो उस मौके पर तात्या अपने लंगोटिया यारों को बिसार देंगे । इसकी कोई संभावना नहीं । उनके विमान के एक सिरे पर मैं और दूसरे पर बंडूनाना लटक कर स्वर्गारोहण करना चाहेंगे तो तात्या को कोई आपत्ति नहीं होगी ऐसा हमें विश्वास है ।

28. मरणोत्तर क्रियाकर्म

मानव जीवन को जो रंगभूमि की उपमा दी जाती है यह अत्यंत सार्थक है। इस लाक्षणिक रंगभूमि पर भला बुरा अभिनय करके मनुष्य मृत्यु रूपी परदे के पीछे ऐसा अंतर्धान हो जाता है कि फिर कभी दिखाई नहीं देता। वास्तविक रंगभूमि के नटों को परदे के पीछे से झांक कर प्रेक्षकों की ओर देखने की सख्त मनाही होती है। फिर भी, उसकी परवाह न करके कोई उत्साही अभिनेता प्रेक्षकों की संख्या का अंदाज लगाने के लिए या उनमें कोई अपनी जान-पहचान का है या नहीं यह देखने के लिए परदे की दरार में से बाहर झांक ही लेता है। नाटक-मंडली के लोगों से परिचित किसी प्रेक्षक को भी नेपथ्य में जाने का मौका मिले तो अपने इस विशेषाधिकार का रोब अन्य प्रेक्षकों पर डालने के लिए वह भी परदे को थोड़ा सा हटाकर बाहर झांकने से नहीं चूकता। परंतु एक बार मृत्यु रूपी यवनिका के पीछे चला जाने वाला आदमी अपना चेहरा दिखाने के लिए या दूसरों के मुख देखने के लिए जीवन की ओर मुड़कर नहीं देख सकता।

आत्मा की मरणोत्तर स्थिति के संबंध में जानकारी प्राप्त करने का एक भी वैज्ञानिक साधन उपलब्ध न होने के कारण इस क्षेत्र में तर्क का ही सहारा लिया जाता है। उस स्थिति के संबंध में भिन्न-भिन्न धर्मों और संप्रदायों ने भिन्न-भिन्न कल्पनाएं की हुई हैं। जीवन-रूपी रंगभूमि पर निभाई हुई भूमिका की सफलता-असफलता के अनुपात में सूत्रधार कीओरसे पारितोषिक या दंड प्राप्त होकर प्राणी को चौरासी लाख योनियों के विभिन्न मुखौटे पहन कर इस रंगभूमि पर बार-बार आना पड़ता है ऐसा एक धर्म का मत है, तो मृत्यु रूपी परदे के पीछे चले जाने वाले प्राणी का इस रंगभूमि के साथ फिर कोई वास्ता नहीं रहता और अपनी योग्यतानुसार स्वर्ग सुख या नरक यातनाएं भोगते हुए उसे अनंत काल तक वहीं पड़ा रहना पड़ता है ऐसी दूसरे धर्म की धारणा है। कोई धर्म आत्मा को कयामत

के दिन के न्याय निर्णय तक मृत्युकालीन स्थिति में ही रखता है तो कोई अग्निदाह से शुद्ध करके उसकी परलोक में स्थापना करता है। कोई संप्रदाय उसे अणुमात्र भी देह प्रदान नहीं करता तो कोई उसे सत्रह तत्त्वों से बनी हुई अंगुष्ठमात्र लिंगदेह देकर अपना औदार्य प्रदर्शित करता है। किसी मतवाद में आत्मा की स्मरणशक्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है तो किसी में उससे पूर्वस्मृति बिलकुल ही छीन ली जाती है। भिन्न-भिन्न वैद्यों को जिस प्रकार अपनी-अपनी रोग परीक्षा और औषधियोजना की अचूकता पर दृढ़ विश्वास होता है उसी प्रकार भिन्न-भिन्न धर्मों को भी अपनी अपनी मतप्रणालियों और धारणाओं के संबंध में एकांतिक आग्रह होता है। शारीरिक स्वास्थ्य चाहने वाला रोगी जिस प्रकार विभिन्न धन्वंतरियों की परस्पर-विरोधी रायों को सुनकर चकरा जाता है उसी प्रकार आत्मा का कल्याण चाहने वाला मुमुक्षु भी विभिन्न धर्माचार्यों के आश्वासनों को सुनकर दुविधा में पड़ जाता है। वैद्य की योग्यता को तो फिर भी उसके ग्रंथाध्ययन, बुद्धिमत्ता, विद्वत्ता और यशस्विता की कसौटी पर पड़ताला जा सकता है परंतु शब्द प्रमाण की दुहाई देने वाले धर्म संस्थापकों की योग्यता या प्रामाणिकता को जांचने का कोई साधन जन साधारण को आज तक उपलब्ध नहीं। इस हालत में यह स्वाभाविक ही है कि जिसकी कल्पना अधिक मोहक होगी और उसे आकर्षक रूप में पेश करने की क्षमता जितनी अधिक होगी, उस सिद्ध के पीछे साधकों का भेड़ियाधसान भी उतना ही आधिक होगा। वास्तव में देखा जाए तो जितना इन धर्मगुरुओं का वक्तृत्व अर्थहीन होता है उतनी ही उनकी धारणाएं भी खोखली और बेबुनियाद होती हैं। सत्य की कसौटी पर कस कर देखने पर यही मालूम देता है कि सिद्ध और साधक, पैगंबर और अनुयायी, दोनों अज्ञान के एक ही स्तर पर होते हैं।

उपरोक्त तर्कवाद दरअसल तो नास्तिकों को शोभा दे ऐसा है। सच्चा धर्माभिमानी इन युक्तियों से कभी परास्त नहीं होगा। हर व्यक्ति को अपने-अपने धर्म का अभिमान होता है। इसी न्याय से हमें भी अपने सनातन धर्म का अभिमान हो, तो किसी को शिकायत नहीं होनी चाहिए। हमारे पूर्वजों ने अपनी अलौकिक शक्तियों और अतींद्रिय साधनों द्वारा परलोक का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त किया था, ऐसा हमें दृढ़ विश्वास है। भौतिक सृष्टि के संबंध में उनकी अधिकांश धारणाएं बड़ी काव्यमय थीं। पृथ्वी से ऊपर के लोकों के संबंध में उनकी जान-

कारी तो किसी रहस्यमय उपन्यास को शोभा दे ऐसी अलंकारिक और कल्पना-प्रचुर थी। आधुनिक भूगोल में रक्त, पीत, कृष्ण जैसे रुक्ष नामों से पहचाने जाने वाले सागरों को हमारे पूर्वजों ने क्षीर, दधि, मधु, आदि पंचामृतों से छला-छल भर दिया था और उनका नामकरण भी उसी के अनुसार किया था। यह माना कि ऊष्णता, प्रकाश, चुंबकत्व, विद्युत् इत्यादि के गुणधर्मों और भाप, बिजली आदि की सामर्थ्य के विषय में उन्हें विशेष जानकारी नहीं थी। परंतु इसका एक मात्र कारण यह है कि इन ऐहिक और इंद्रिय गोचर वस्तुओं में उन्हें विशेष दिलचस्पी नहीं थी और इन भौतिक बातों के प्रति वे पूर्णत: उदासीन थे। उन्होंने दूरबीक्षण यंत्र का आविष्कार भले ही न किया हो फिर भी सुदूर परलोक के चप्पे-चप्पे की उन्हें सूक्ष्म जानकारी थी। रेल, जहाज आदि वाहनों में उन्होंने भले ही यात्रा न की हो, पर सूर्यचंद्रादि लोकों में वे क्षणार्ध में पहुंच सकते थे और दूसरे क्षणार्ध में लौटकर वापस आ सकते थे। ऐहिक जगत संबंधी अपने अज्ञान की कसर उन्होंने पारलौकिक जगत के ज्ञान से पूरी कर ली थी। अपने कमरे का क्षेत्रफल उन्हें भले ही ज्ञात न हो किसी निकट के संबंधी के घर की दूरी उन्हें भले ही मालूम न हो; पर यमपुरी की लंबाई-चौड़ाई और इस संसार से उसकी दूरी उन्हें कंठाग्र याद थी।

पौराणिक वर्णनों से ऐसा मालूम देता है कि उस युग में काशी आदि ऐहिक तीर्थक्षेत्रों की यात्रा की अपेक्षा यमपुरी की यात्रा कहीं सुगम और सुविधाजनक रही होगी। काशीयात्रा का अधिकार प्राप्त करने के लिए पहले तो ब्रह्महत्या या मार्जारहत्या जैसा महापातक करना पड़ता था। पाथेय के लिए पर्याप्त अन्नधान्य की और मार्गव्यय के लिए प्रचुर द्रव्य की आवश्यकता भी पड़ती थी। यात्रा अनेक यात्रियों के संघ में मिल कर होने के कारण चिउंटी की रफ्तार से होती थी। इतना सब करके भी राह में मिलने वाले ठगों-पिंडारियों की कृपा से कभी-कभी पास के द्रव्य और धान्य सामग्री से वंचित होकर काशीपुरी के बजाय यमपुरी की ही यात्रा हो जाती थी। इन महात्माओं के चंगुल से छूट भी गए तो तीर्थक्षेत्र में रह कर खुलेआम लूटमार करने वाले पंडों, चौबों, गयापुत्रों और उपाध्यायों से पाला पड़ता था। राह में खाने-पीने की तकलीफ की वजह से तीर्थक्षेत्र में पहुंचते-पहुंचते शरीर का मांस सूखकर यात्री कंकालवत् हो जाता था और इतने सब संकटों से बचकर सही सलामत वापस भी लौट आए तो यात्रा सुफल का

भोज देने में रहा-सहा द्रव्य भी खर्च हो जाता था।

तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो यमलोक की यात्रा इससे कहीं कम झंझट की सिद्ध होती है। यह सही है कि तीर्थयात्रा की तरह इस महायात्रा के लिए भी पहले कोई पातक कर के योग्यता प्राप्त करनी पड़ती है। परंतु यह पातक ब्रह्महत्या या मार्जारहत्या के जैसा जघन्य न हो, तब भी काम चल जाता है। यमलोक यात्रा का अधिकार प्राप्त करने के लिए तो छोटे-मोटे पातक भी पर्याप्त होते हैं। स्नानादि से शुचिर्भूत होने के बाद कोरे सूत पर पांव पड़ जाने से भी यह योग्यता प्राप्त हो सकती है। कच्चे धागे के सहारे स्वर्ग में चाहे न पहुंचा जा सके, नरक में जाने की पूरी सुविधा रहती है। इसके अलावा भवनभाषा बोलना, सुबह-सुबह गवैये-बजवैये, नट आदि कलाकारों का मुंह देखना, शूद्र या अतिशूद्र के सामने वेदपाठ करना इत्यादि सूत से भी हल्के कारण यमपुरी की यात्रा के लिए पात्रता प्रदान कर सकते हैं। यमलोक यात्रा का अधिकार प्रदान करने वाले ये सारे पातक व्यक्ति को खुद ही करने पड़े, यह भी आवश्यक नहीं होता। शास्त्रों का इस बात को ले कर कोई दुराग्रह नहीं है। पतिनिधन के बाद केशकर्तन न करवाने वाली विधवा को या वांझ स्त्री के पति होने वाले पुरुष को पत्नी के पाप के बलबूते पर यमपुरी का परवाना अनायास ही मिल जाता है। इस यात्रा के लिए संगी-साथी ढूंढने या योग्य मुहूर्त देखने की आवश्यकता नहीं पड़ती। समय पूरा होते ही यमदूत खुद हाजिर हो जाते हैं। भारी शरीर के लोगों को साधारण यात्राओं में बड़ी तकलीफ होती है। परंतु यमपुरी की यात्रा में ढाई मन की काया का बोझ ढोना नहीं पड़ता। वहां सिर्फ प्राणी की अंगुष्ठ परिमाण लिंगदेह जाती है। आरंभ में इस सूक्ष्म देह के हाथ, पांव आदि अवयव नहीं होते और इतनी लंबी यात्रा की क्षमता भी उसमें नहीं होती। मृत्यु के बाद पिंडों की रसद नियमित रूप से पहुंचती रहे तो जीव को नौ दिनों में क्रमशः मस्तक, ग्रीवा, कंधे, हृदय, पीठ, नाभि, कमर, नाड़ियां और हाथ-पांव प्राप्त होते हैं। आंख, नाक, कान आदि ज्ञानेंद्रियों का शास्त्रों में कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। दसवें दिन के पिंड से जीव में क्षुधा और तृषा उत्पन्न होती है। इस पिंडविशेष से क्षुधा का शमन होने के बजाय उसका जन्म होता है, यह उसकी विशिष्टता है। इस पिंड का यह विशिष्ट कार्य शास्त्रों ने निश्चित न किया होता तो श्राद्धभोजन से ब्राह्मण सदा के लिए वंचित रह जाते। मृतक की क्षुधा को प्रदीप्त करने वाला यह पिंड हजारों सजीव ब्राह्मणों

की क्षुधा को तृप्त करने वाला प्रमाणित होता है। इस प्रकार तैयार होने वाले लिंगदेह को ग्यारहवें दिन के पिंड से पुष्टि प्राप्त होती है। और बारहवें दिन के पिंड से वह लंबी यात्रा के लिए सामर्थ्य प्राप्त करता है। इसके बाद तुरंत वह अपनी महायात्रा पर निकलता है। रवाना होने से पहले दो-एक क्षण के लिए यमदूत उसे यमपुरी का संक्षिप्त दर्शन कराते हैं। बानगी के तौर पर यमलोक की अग्रिम झलक दिखाने वाली यह यात्रा शायद विद्युत् वेग से होती होगी क्योंकि जीव क्षणार्ध में वहां के चमत्कारों का दर्शन करके वापस भी लौट आता है। इससे उसकी जिज्ञासा का शमन होकर वह निर्विकार भाव से यात्रा के लिए तैयार हो जाता है। उसे साथ में पाथेय कुछ भी नहीं लेना पड़ता। पुत्रपौत्रादि स्वजन पृथ्वीतल पर कहीं भी उसका पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक आदि श्राद्ध करते रहें तो पिंडों की रसद, वह जहां कहीं भी हो, उसे सुरक्षित मिलती रहती है। इसके लिए पिंडों पर जीव का पता-ठिकाना लिखने की भी आवश्यकता नहीं होती।

दरअसल यह एक बहुत बड़ी सुविधा है जिसका ऐहिक जीवन में भी स्वीकार होना चाहिए। यह तो बेतार के यंत्र को भी मात करने वाली करामात है। बेतार के यंत्र की सहायता से तो केवल थोथे संदेशे ही भेजे जा सकते हैं; जबकि हमारी यह भारतीय पद्धति ठोस पिंडों को यथास्थान पहुंचाने की क्षमता रखती है। वर्तमान महायुद्ध में रणक्षेत्र में सैनिकों को रसद पहुंचाने के लिए सरकार को एक अलग विभाग खोलना पड़ा। उस विभाग की पूरी सावधानी के बावजूद शत्रु कभी-कभी रसद की सामग्री को नष्ट कर देता था। इस पिंडदान वाली पद्धति को स्वीकार करके हजार दो-हजार ब्राह्मणों को पिंडदान, अर्घ्य, तर्पण, तिलांजलि आदि देने के कार्य पर नियुक्त कर दिया जाता तो योरुप, अफ्रीका और एशिया के रणमैदानों पर लड़ने वाले लाखों हिंदू सैनिकों की रसद-व्यवस्था से सरकार को हमेशा के लिए मुक्ति मिल जाती।

मृतक को अर्पित किया जाने वाला पिंड देखने में छोटा होने पर भी बहुत ठोस और वजनदार होता है। अंगुष्ठमात्र जीव के वह कई दिनों तक काम आता होगा। जीव के भोजन की इस प्रकार उचित व्यवस्था हो जाने के बाद तेरहवें दिन धोती, जोड़ा, कुर्ता, टोपी, छड़ी, छाता, जूते, बिस्तर, अंगूठी, आसन, बर्तन आदि आवश्यक सामान ब्राह्मणों के माध्यम से उसे पहुंचा दिए जाते हैं। मार्ग में बारहों आदित्य पूरे तेज से चमकते रहने के कारण और शीतपर्जन्यादि की भी आत्यंतिक

पीड़ा होने के कारण जीव को यह बोझ व्यर्थ ढोना पड़ता है यह तो नहीं कहा जा सकता; परंतु उसकी अंगुष्ठ प्रमाण देह के उपयोगी होने के लिए इन वस्तुओं को भी सूक्ष्म रूप धारण करना पड़ता होगा। अन्यथा 'मियां बालिश्त भर और दाढ़ी गज भर' वाली बात के अनुसार बेचारे जीव के इन चीजों के बोझ के नीचे दब जाने की संभावना है।

यमलोक यात्रा के मार्ग में यमदूत जीव की अंगुष्ठ प्रमाण देह पर लगातार कोड़े बरसाते रहते हैं इसलिए यात्रा में ढीलढाल की कोई गुंजाइश नहीं रहती। बेचारे अंगुष्ठ प्रमाण जीव को अपना बोरिया-बिस्तरा सर पर लादे इन लंबे-तड़ंगे यमदूतों की रफ्तार के साथ कदम मिलाकर चलना पड़े यह वैसे तो बड़े अन्याय की बात है। पर साथ-साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अपनी हलकी-फुलकी देह के कारण उसे अपनी रफ्तार तेज रखने में विशेष कठिनाई नहीं पड़ती होगी। उलटे राह में कहीं आंधी-तूफान आने पर झंझा के झोंके के साथ पंख की तरह उड़ने वाले जीव का साथ बनाये रखने में यमदूतों को ही कष्ट होता होगा।

राह में जीव को विषैले सांप, बिच्छू, शिकारी कुत्ते, बाघ, शेर आदि भयानक प्राणी पीड़ा पहुंचाते रहते हैं। गरुड़पुराण में इसका बड़ा रोचक ब्यौरा मिलता है। परंतु जीव को इनसे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं होती। शरीर से कितने ही सांप-अजगर क्यों न लिपटें, वे उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकते और बाघ-सिंह मांस के कितने ही लोथड़े क्यों न नोच लें, दोबारा प्राण जाने की कोई संभावना नहीं रहती। अतः वह सांपों को किसी गारुड़ी की तरह नचाता हुआ और बाघ-सिंहों को किसी सरकस के रिंग-मास्टर की तरह कुत्ते-बिल्ली के समान समझता हुआ आगे बढ़ता रहता है। राह के किसी भी संकट से भयभीत न होने का दूसरा कारण यह होता है कि यात्रा के आरंभ में ही बानगी के तौर पर यमदूतों ने उसे नरकपुरी की झांकी दिखाई होती है। यात्रा के अंत में किन भयावह स्थितियों का मुकाबला करना है इसकी स्पष्ट कल्पना होने के कारण राह के इन छोटे-मोटे संकटों को वह बच्चों का खेल समझने लगता है।

मार्ग में वैतरणी नामक नदी पार करनी पड़ती है। वह आठ प्रकार की गंदगियों से भरी रहती है। उसका पाट भी बहुत चौड़ा होता है। इस प्रकार की नदी को तैर कर पार करने में साधारण यात्री को बहुत कष्ट हो सकता है। परंतु यहां

के घटवार बड़े परोपकारी होने के कारण जीव को खुद कुछ भी नहीं करना पड़ता। मल्लाह की ड्यूटी पर तैनात यमदूत उसके गले में फंदा अटका कर उसे घसीटते हुए ले जाते हैं और सुरक्षित ढंग से पार उतार देते हैं। मृत्यु से पहले गोदान कर चुकने वाले जीवात्मा दान की हुई गाय की पूंछ पकड़ कर बिना किसी कष्ट के वैतरणी पार कर लेते हैं।

अज्ञानी मनुष्यों की ऐसी धारणा हो सकती है कि इतने कष्टदायक मार्ग से रोजमर्रा यात्रा करने को मजबूर होने वाले यमदूत पूर्वजन्म में निश्चित ही नितांत गर्हित कोटि के पापी रहे होंगे जिसके दंड स्वरूप उनकी इस अप्रिय कार्य में नियुक्ति हुई होगी। परंतु यह धारणा बिलकुल गलत है। पापियों में उनका स्थान अत्यंत उच्च कोटि का होने के कारण ही इस दायित्त्वपूर्ण काम पर उनकी नियुक्ति होती है। दूसरों की यातनाएं देखने में मनुष्य को कितना आनंद प्राप्त होता है यह तो सबके अनुभव की बात है। फिर यमदूतों को तो उन्हें देखने का आनंद ही नहीं बल्कि उनका जनक होने का ब्रह्मानंद भी प्राप्त रहता है। इस हालत में इस अधिकार प्राप्ति को उनके पूर्वसुकृत् कार्यों के फल के सिवा और क्या कहा जा सकता है।

जीव को यह यात्रा विशेष अरुचिकर नहीं होती इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उसे पूर्ण करने में वह पक्का एक वर्ष का समय लेता है। इस दौरान उसकी अंगुष्ठमात्र देह बढ़ कर एक हाथ जितनी हो जाती है। पृथ्वी से यमपुरी का अंतर साढ़े-तीन गुना अधिक होता, तो जीव वहां तक पहुंचते-पहुंचते पूरा साढ़े-तीन हाथ का हो जाता और यमदूतों की आंखों से आंखें मिला सकता। परंतु यमलोक में प्रवेश करने से पहले जीव को यह साल भर के कष्ट द्वारा कमाया हुआ विस्तार त्याग देना पड़ता है और उसका आकार फिर से अंगुष्ठमात्र हो जाता है। उसका प्रवेश आवश्यक तौर से यमपुरी के दक्षिण द्वार से होता है। अन्य द्वार अधिक पुण्यवानों के लिए आरक्षित रखे गए हैं।

पापपुण्य का जमाखर्च चित्रगुप्त के जिम्मे होने के कारण जीव के भले-बुरे कर्मों का फैसला उन्हीं के दरबार में होता है। उनके निवासस्थान की शास्त्रोक्त चतुःसीमा इस प्रकार है: पूर्व दिशा में ज्वर का स्थान; दक्षिण में शूल और खाजखुजली का घर; पश्चिम में अजीर्ण और अरुचि का वासस्थान और उत्तर में यक्ष्मा और पांडुरोग की बस्ती। इसी प्रकार ईशान्य कोण में सरदर्द, अग्नि में

मूर्च्छा, नैऋत्य में अतिसार और वायव्य में शीत और दाह का निवास होता है। यहां 'स्थान' या 'घर' आदि शब्दों का प्रयोग उनके अभिधार्थ में ही हुआ है। लाक्षणिक अर्थ 'रोगी' या 'मरीज' अभिप्रेत नहीं है। चित्रगुप्त के कार्यालय की चहारदीवारी चिनी गई तब भूतल पर रोगों की संख्या कितनी मर्यादित थी और उनका स्वरूप कितना सीधा-सादा था इसका विचार करने पर उस काल के लोगों से ईर्ष्या होने लगती है। उस समय प्रमेह या जलोदर जैसे प्राणघातक रोगों का शायद जन्म ही नहीं हुआ था और हैजा, प्लेग आदि महामारियों का भी अस्तित्व नहीं था। इन दिनों रोगों की संख्या और परिणामकारकता में बहुत वृद्धि हुई है, यह हमारे लिए बड़े अभिमान की बात है। चित्रगुप्त के दरबार के आसपास आधुनिक महामारियों में से एक भी फटकी होती तो उसे बोरिया-बिस्तरा समेट कर मकान बदलना पड़ता।

एक तरफ यक्ष्मा और पांडुरोग के निस्तेज चेहरे तो दूसरी ओर अजीर्ण और अतिसार की दुर्गंध। तीसरी ओर शूल की कराहें तो चौथी ओर ज्वर का उत्ताप। इस माहौल में चित्रगुप्त महोदय के गले में अन्न कैसे उतरता होगा और रात को उन्हें नींद कैसे आती होगी, यह यमराज ही जानें। पापपुण्य का पूरा हिसाब-किताब उनके जिम्मे होने के कारण उनका दायित्व बहुत अधिक है इसमें कोई संदेह नहीं। इस हालत में आहारनिद्रा के सुखचैन में डूब कर उनके हाथों कर्त्तव्य की कहीं उपेक्षा न हो जाए शायद इसी अंदेशे से उन्हें इस स्वास्थ्यवर्धक और उत्साहजनक वातावरण में रखा गया होगा। खैर प्रयोजन जो कुछ भी रहा हो, 'निंदक नियरे राखिये आंगन कुटी छवाय' के बदले महाशय चित्रगुप्त ने 'रोगी नियरे राखिये' को ही आत्मकल्याण के लिए अधिक श्रेयस्कर समझा हो ऐसा मालूम देता है।

यमराज की दंडनीति की धाराएं बड़ी कठोर होती हैं। उन दफाओं में चोर, जार, वंचक और हत्यारों के साथ-साथ समाजसुधारक, वेदनिंदक, ब्राह्मणद्रोही इत्यादि पापात्माओं के लिए तमिस्त्र, रौरव, कंभीपाक इत्यादि विविध नरकों का विधान किया गया है और उनके विशिष्ट प्रकार के अतिथिसत्कार की व्यवस्था भी की गई है। तीर्थस्थानों में पंडे यात्रियों को भयानक शीत में गीले कपड़ो में घंटों खड़ा रखकर मनमानी दक्षिणा ऐंठते हैं और नाई लोग आधी खोपड़ी घोटकर और एक तरफ की मूंछें मूंडकर मुंहमांगा पारिश्रमिक पाए बिना जिजमान का

पिंड नहीं छोड़ते। उन यंत्रणाओं की तुलना में नरक की ये यातनाएं सौम्य ही मानी जाएंगी।

नरक की ज्वालाओं में पाप भस्म होकर पुनः मनुष्य-जन्म प्राप्त होने से पहले जीवात्मा को वनस्पति, कृमि, कीटक, सर्प, पक्षी, पशु, शूद्र, स्त्री आदि चौरासी लाख योनियों में से गुजरना पड़ता है। इस कारण से यमपुर-यात्रा के बाद सुफलभोज कराने के झंझट से प्राणी लंबे समय के लिए बच जाता है।

अब तक मृत्यु के बाद पापियों को प्राप्त होने वाली गतियों का वर्णन हुआ। पुण्यात्माओं को उनकी योग्यतानुसार इससे नितांत भिन्न प्रकार की गतियां प्राप्त होती हैं। इनमें से ब्रह्म में विलीन हो जाने वाले जीवन्मुक्तों का वर्ग छोड़ दिया जाए, तो देवलोक और पितृलोक को प्राप्त करने वाले दो मोटे-मोटे वर्ग बचते हैं। यज्ञयागादि वेदविहित कर्मों को सकाम भाव से करने वाले पुण्यात्माओं को ही नहीं बल्कि निष्काम भाव से कर्मयोग का आचरण करने वाले योगियों को भी देवलोक में स्थान मिलता है। वहां उन्हें इच्छा से हो या अनिच्छा से, अमृत का पान करके अप्सराओं के साथ नाचरंग में डूबे रहना पड़ता है। बचे हुए पुण्यात्मा संचित पुण्य का क्षय होकर फिर जन्म-मरण के फेरे में पड़ने तक पितृलोक में निवास करते हैं। मृत्युलोक में पुत्रपौत्रादि द्वारा समर्पित पिंडों और श्राद्धपक्ष में ब्रह्मणों को चराये जाने वाले पकवानों को उन्हीं की मध्यस्थता से प्राप्त करके जीवनयापन करते रहते हैं। देवलोक में सुखों का अनुभव प्रतिदिन और प्रत्यक्ष रूप में होता है जबकि पितृलोक में वह ब्राह्मणों के माध्यम से और पुण्य के अनुपात में समय-समय पर मिलता है परंतु इससे भोग्य सुखों की उत्कटता में कोई फर्क नहीं पड़ता। पितृयोनि प्राप्त पुण्यात्माओं के इहलोक के प्रतिनिधियों को श्राद्धपक्ष के अंतर्गत या और किसी भी दिन चावल की खीर और उड़द की दाल के बड़े चरा दिए कि पितृलोक में पूर्वजों को डकारें आने लगती हैं।

प्राचीन युग में श्राद्ध के दिन ब्राह्मणों को उड़द की दाल के बड़े और इमरतियों के बजाय मांसभोजन करवाया जाता था। पर बुरा हो इन अहिंसा के समर्थकों का जिन्होंने कालांतर में 'मांसान्न' के बदले 'माषान्न' का पाठभेद लोगों के गले उतार दिया। तब से पितृयोनि प्राप्त पूर्वज मांस को तरसने लगे हैं। परंतु इसकी कमी अन्य बातों से पूरी हो जाती है। पुरखों के प्रतिनिधियों के रूप में जिमाये जाने वाले ब्राह्मण सत्पात्र, सात्त्विक और संतोषी हों, तब तो अलग बात है। परंतु

कलियुग में ऐसे ब्राह्मणों का मिलना दिनों-दिन दुश्वार होता जा रहा है। आजकल के ब्राह्मण तो शायद ही किसी महापातक से परहेज करते हों। फिर भी, ब्राह्मण कैसा भी हो, ब्राह्मण है; और इस नाते पवित्रता पर उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। पुरखों को अन्नजल की रसद पहुंचाने का काम अनादि काल से उसी के द्वारा होता आ रहा है। फर्क सिर्फ इतना है कि आजकल उसके आचरणों के कारण पूर्वजों को कई प्रकार के ऐंद्रिय सुख अनायास ही मिल जाते हैं। श्राद्ध के दिन पितृस्थान पर आसीन होने वाले ब्राह्मण ने दक्षिणा के रुपयों से शाम को कोई कुकर्म किया, तो पितरों को उसका अनुभव मिला ही समझिए। इस नियम से देखें तो परस्त्री को माता के समान मानने वाले पूर्वजों को अपने प्रतिनिधि की लाज रखने के लिए कोठों के जीने भी चढ़ने पड़ते होंगे और मदिरा को नाली के पानी के समान त्याज्य मानने वाले उन उदारचेताओं को कभी-कभी पितृलोक की नालियों में लोटना भी पड़ता होगा। समाधान की बात सिर्फ इतनी है कि मांस के अभ्यस्त पुरखों को मदिरा के साथ कभी-कभी मांस का स्वाद चखने को मिल जाता होगा। श्राद्ध के दिन ब्राह्मण को महुए की पत्तलों में खिलने का विशेष महात्म्य माना जाता है। ठर्रे के उत्पादन में होने वाले महुए के प्रयोग को नजर में रखा जाए तो यह भी कहा जा सकता है कि पूर्वकाल में पूर्वजों को मांस के साथ-साथ मदिरा भी अर्पित करने का रिवाज रहा होगा। इस रहस्य को ठीक तौर से समझ लिया जाए, तो दुराचारी ब्राह्मण के मद्यपान से होने वाले पित्रों के मद्यसंपर्क को लेकर विशेष ग्लानि महसूस करने की आवश्यकता नहीं रहती।

वैसे इस पूरे झंझट से बचने का भी उपाय है। आपद्धर्म के रूप में आसन पर ब्राह्मण की जगह दर्भ की स्थापना करके पूरी विधि अपने हाथों कर लेने से भी काम चल सकता है। शास्त्रों में इसका स्पष्ट विधान है। दरअसल हमारे शास्त्रों के विधिनिषेधों की अपेक्षा ये आपद्धर्म ही अधिक आकर्षक और रोचक होते हैं। दर्भ में ब्राह्मण का आरोपण कर दीजिए और अर्पणीय पूजा द्रव्यों का काम अक्षत से चला लीजिए कि छुट्टी ! आरोपण और आपद्धर्म के इन सिद्धांतों को व्यवहार की दुनिया में मान लेने से सबको बड़ी सुविधा हो सकती है। कोई दर्भरूपी अफसर अक्षतरूपी कर वसूल करने लगे तो कितना ही टैक्स क्यों न बढ़ जाए चुकाने में कोई आनाकानी नहीं करेगा। बड़े-बड़े कर्जों की अदायगी दर्भरूपी साहूकार को अक्षत के दो-चार दाने रूपी द्रव्य समर्पित कर देने से हो जाएगी। पर हमारे देश में

लोगों की सुविधा की इतनी फिक्र भला कौन करता है।

हमारे यहां के भीखू भट्ट को यजमानों के पूर्वजों की अतृप्त वासनाओं का श्राद्ध के पहले दिन स्वप्न में साक्षात्कार हो जाता था। श्राद्ध के दिन श्रद्धालु यजमानों द्वारा उनकी पूर्ति भी हो जाती थी। किसी पूर्वज को धोतीजोड़े की, किसी को कुर्ते की तो किसी को दुपट्टे की लालसा रह जाती है। इन छोटी-मोटी इच्छाओं की पूर्ति होने में कोई कठिनाई नहीं होती। परंतु धीरे-धीरे पूर्वजों की ये हसरतें उपयोगिता की अपेक्षा शौकीनी की ओर झुकने लगीं। अब उन्हें सादे धोतीजोड़े या दुपट्टों की जगह रेशमी किनारी की धोतियां और जरदोजी के दुपट्टों की इच्छा होने लगी। भीखू भट्टजी की सात्त्विकता और निस्पृहता इलाके भर में प्रसिद्ध होने के कारण इन इच्छाओं की पूर्ति होने में भी कठिनाई नहीं हुई। परंतु धीरे-धीरे बदलते हुए फैशनों के साथ-साथ पुरखों के चोंचले भी बढ़ने लगे। धोती की जगह पीतांबर और दुपट्टे की जगह दोशालों की मांग होने लगी। देसी चमरौधा जूता पितरों के पांव को काटने लगा और वे वारनिश के पंपशू की मांग करने लगे। श्रद्धालु यजमानों ने फिर भी हार नहीं मानी और वे पुरखों की हर भलीबुरी वासना की पूर्ति करते रहे। भीखू भट्ट के बैठे हुए गाल अब फूलकर गुलाबी दिखाई देने लगे। उनकी सूखी हुई काया पुष्ट और तेजस्वी हो उठी और धंसा हुआ सीना अब सुडौल दिखाई देने लगा। निस्तेज आंखों में चंचलता थिरकने लगी। उन्हें अब पितरों की और भी ऊंचे दरजे की अतृप्त कामनाओं का इलहाम होने लगा। वे बढ़िया इत्र-फुलेल लगाने लगे और वारांगनाओं के मधुर कंठ के तानआलाप सुनने लगे। यहां तक तो सब ठीक था। परंतु एक बार श्राद्धपक्ष में भट्टजी ने अपने किसी यजमान से कहा, "बेटा, कल रात तुम्हारे पिताजी ने स्वप्न में दर्शन दिए। बड़े दुखी दिखाई दे रहे थे।" भोले यमजान ने पूछा, "यह कैसे हो सकता है, पंडितजी ? आपके जरिए हम उन्हें समय-समय पर उत्तम अन्नवस्त्र, उच्च कोटि के इत्र-फुलेल और कर्णमधुर संगीत की रसद भेजते रहे हैं। अब भला शिकायत की गुंजाइश ही कहां रही ?" पंडितजी ने कहा, "यह तो सब ठीक है। परंतु अपनी पुत्री को गोद में बिठाकर प्यार करने की उनकी अंतसमय की इच्छा आज तक अतृप्त रह गई है।" यह पुत्री अब षोडश वर्षीया युवती हो चुकी थी। अतः पंडितजी के मुख से ये शब्द निकलते ही उस कलियुगी यजमान ने अपनी छड़ी से उनकी पीठ पर प्यार के ऐसे अमिट

चिह्न अंकित किए कि उस सात्त्विक विप्र को इसे घोर पितृद्रोह घोषित करना पड़ा और फिर जीवन भर वे उस धर्मद्रोही की देहली पर नहीं चढ़े।

मृतात्मा के पारलौकिक कल्याण को लेकर अब तक जो विवेचन हुआ है वह धर्म के सिद्धांतों पर एकांतिक श्रद्धा रखने वाले आस्तिकों के नजरिये से किया गया है। परंतु जिन्हें इन बातों पर श्रद्धा नहीं या जिन्हें परलोक के अस्तित्व के संबंध में ही शंका है, उनके लिए भी मरणोत्तर क्रियाकर्म श्रेयस्कर सिद्ध हो सकते हैं। इसका विवेचन अब होगा। इन जटिल कर्मकांड के उत्पादकों के मन में धर्माचरण के साथ-साथ व्यावहारिक हेतु भी अवश्य रहा होगा। इस हेतु के अनेक पहलू हो सकते हैं जिनमें से प्रत्येक मृतक के संबंधीजनों के ऐहिक कल्याण के साथ जुड़ा हुआ है। मरने वाला तो दुनियादारी के सारे झंझटों से मुक्त हो जाता है। परंतु जीवित बच जाने वाले प्रियजनों को दुख का आवेग असह्य न हो उठे बल्कि आनुषंगिक बातों में उनका ध्यान बंट कर वे उसे सहन कर सकें ऐसा नितांत व्यावहारिक हेतु भी क्रियाकर्म के मूल में छिपा हुआ है। साथ ही साथ कालांतर से उन्हें मृतात्मा की बिलकुल ही विस्मृति न हो जाए और वे समय-समय पर उसे याद करते रहें ऐसा उदात्त हेतु भी श्राद्धादि सामयिक विधियों की जड़ में देखा जा सकता है।

मृत्यु के पश्चात्, दाहकर्म इत्यादि से निवृत्त हो जाने के बाद आप्तजनों को विश्रांति प्राप्त होकर वे मृतक को याद कर-करके वियोगजनित दुख को घोटते न रहें इस उदात्त हेतु से बारह-तेरह दिनों तक उन्हें जोते रखने वाली विविध प्रकार की धार्मिक विधियों की योजना की गई है। जाड़े का भयानक शीत हो, ग्रीष्म की झुलसा देने वाली लू हो, या वर्षा की लगातार झड़ी हो, आप्तजनों को प्रतिदिन नदी के किनारे जाकर पुरोहितों की सहायता से पिंडदान आदि क्रियाएं करनी पड़ती हैं। घर लौटने पर भी चैन की सांस लेना कठिन होता है। शोक-प्रदर्शन के लिए आने वाले इष्टमित्र इसका मौका ही नहीं देते। तीसरे दिन अस्थिसंचय करके उन्हें किसी तीर्थक्षेत्र में विसर्जित करने का रिवाज होता है। इससे अनायास ही स्थान-परिवर्तन हो जाने के कारण संबंधीजनों को कुछ दिनों के लिए मनःशांति प्राप्त हो जाती है और मृत व्यक्ति के चले जाने से होने वाली हानि की विस्मृति होना आरंभ हो जाती है। तब तक घर पर रुक जाने वाले आप्तजनों का दुखभार भी ब्राह्मणों की लोलुपता और मृतक के विषय में अना-

वश्यक प्रश्न पूछ-पूछ कर दिमाग चाट जाने वाले संबंधीजनों के अत्याचारों से बहुत कम हो जाता है। कभी-कभो तो ऐसा डर लगने लगता है कि तेरह दिन की लगातार परेशानियों के कारण पुत्रपौत्रादि कहीं मृतक को पूर्णरूप से भूल न जाएं। जिन्हें क्षौर करवाना पड़ा हो वे निकट संबंधी उत्सुकता से बालों के बढ़ने की राह देखने लगते हैं। सूतककाल में श्मश्रू पूर्णतः वर्जित होने के कारण बकरे की तरह बढ़ी हुई दाढ़ी और मूंछों की चुभने वाली खूंटियों पर हाथ फेरते हुए प्रौढ़ आप्त-जन बारहवें दिन की प्रतीक्षा करने लगते हैं। प्रत्येक दिन सुई की तरह चुभने वाली खूंटियों में बेशुमार वृद्धि करने के साथ-साथ फिर से दाढ़ी बनवा सकने के आनंद-मय क्षण के पास आने के कारण दुख असह्य मालूम नहीं देता। उन दिनों में केशवर्धक तेलों के प्रति अकारण द्वेष और उस्तरे के प्रति उतनी ही बेबुनियाद आत्मीयता का अनुभव होने लगता है। युवा पुत्रगण शोक से स्तंभित हुए मन और अश्रुपूर्ण आंखों से अपनी अर्धांगिनियों की ओर कटाक्ष फेंकने लगते हैं और व्यवहारविद् सगेसंबंधी मृतक के लेनदेन का हिसाब लगाने के लिए बहियां टटोलने लगते हैं। सूतक के आरंभकाल में मृत्युजन्य शोक और शारीरिक विलास के बीच दिखाई देने वाला वैषम्य धीरे-धीरे कम होता जाता है। आरंभ में खट्टा-मिठा खाने को जी नहीं होता और शय्या आदि सुखसाधनों का त्याग नितांत स्वाभाविक मालूम देता है। परतु बाद में, अपने ऊपर लगाए हुए ये बंधन कष्टकर प्रतीत होने लगते हैं और सुखसाधनों का त्याग अखरने लगता है। आवागमन की अनिवार्यता पटने लगती है और मन मृत्यु के साथ समझौता कर लेता है। धीरे-धीरे दिन भर निकम्मे बैठे रहने की ऊब खलने लगती है और उसे टालने के लिए ताश या शतरंज खेलने में कोई हर्ज मालूम नहीं देता। मृतक व्यक्ति यदि सधवा स्त्री हो, तो उसका दुखी विधुर पति भावी जीवन के एकाकीपन को दूर करने के लिए विवाहयोग्य कन्याओं की जन्मपत्रियां जांचने लगता है। कुछ दिनों तक दिल-बहलाव के ये विभिन्न साधन चलते रहने पर मृतक व्यक्ति को पूर्णतः विस्मरण हो जाता है और वह अपना कोई लगता भी था या नहीं इस प्रकार के आश्चर्यपूर्ण प्रश्नों में खो जाता है। परंतु संपूर्ण विस्मृति को टालने के लिए शास्त्रकारों ने बड़ी प्रभावी व्यवस्था की है। दस दिनों तक सूतक का पालन करके सर्वसुखों का त्याग करना चाहिए और बारह दिनों तक पिंडदान आदि क्रियाकर्म नियमित रूप से करने ही चाहिए। इन विधानों के पीछे शास्त्रकारों की शायद यही दूरदृष्टि रही

होगी। इसके अलावा गरुड़पुराण के रोमहर्षक नरकयातना वर्णनों को श्रद्धापूर्वक श्रवण करने की जो पाबंदी लगाई जाती है, उसके पीछे भी इसके अलावा क्या हेतु हो सकता है कि प्रियजन मृतक को कहीं भूल न जाएं।

दसवें दिन मृतक के पिंड को कौए का स्पर्श करवाने को लेकर जो झमेला खड़ा होता है उसके मूल में भी आप्तजनों की सहनशक्ति की कसौटी परखने का ही प्रयोजन होना चाहिए। मृतक का आज दसवां दिन है इसकी कौओं को शायद पूर्वसूचना रहती है और वे काकोचित वर्ताव के लिए सज्जित होकर आते हैं। अव्वल तो समय पर कौए एकत्र ही नहीं होते। भूला-भटका कोई आया भी तो पिंड के भयानक रंगरूप को देख कर और उसके चहुंओर लोगों को मंडराते हुए देख कर वह कांइयां प्राणी बिदक जाता है और उसे उनके सद्हेतु के विषय में शंका होने लगती है। उसकी चोंच के स्पर्शमात्र से मृतात्मा को सद्गति प्राप्त हो सकती है ऐसी एकांत श्रद्धा से ये सारे बुद्धिमान लोग यहां जमे हुए हैं या अपनी चोंच में ऐसी कोई शक्ति है भी या नहीं इसकी उस बुद्धिहीन पक्षी को कल्पना भी नहीं होती। मृतक के मन की इच्छा केवल उसी की समझ में आती है ऐसे एकांतिक विश्वास से प्रेरित होकर, अन्यथा समझदार दिखाई देने वाला मनुष्यप्राणी आज उसकी हर तरह से खुशामद करने को क्यों तत्पर हो रहा है, यह भी उस बेचारे की समझ के परे होता है। अन्य प्रसंगों पर उसे दुत्कार देने वाले मनुष्य आज उसके प्रति इतनी आत्मीयता क्यों प्रकट कर रहे हैं, इतना ही नहीं, खुद कांय-कांय करके उसका ध्यान आकर्षित करने की कोशिश क्यों कर रहे हैं, इसका उस बेचारे को कोई कारण दिखलाई नहीं पड़ता। इसलिए लोग ज्यों-ज्यों उसे पुचकार कर उसका पीछा करने लगते हैं। वह और भी दूर-दूर फुदकता जाता है।

इस आयोजन में अक्सर मध्याह्नवेला टल जाती है और मृतात्मा को सद्गति दिलवाने के हेतु से एकत्र हुए लोगों के पेट में चूहे दौड़ने लगते हैं। कौआ फिर भी सुनवाई नहीं करता। धीरे-धीरे लोग पिंड की ओर ललचाई हुई निगाहों से और कौए की ओर द्वेष बुद्धि से देखने लगते हैं और पूरी काकजाति को उसके कांइयांपन के लिए बुराभला कहने लगते हैं। लोगों को विश्वास हो जाता है कि इतने लोगों के प्रयत्न के बावजूद पिंड की तरफ आंख उठा कर भी न देखने वाला कौआ केवल मृतात्मा के ही नहीं बल्कि इतनी जीवित आत्माओं के कल्याण के प्रति भी पूर्णतः उदासीन है। आप्तजनों की इतनी सदिच्छा के बावजूद मृत जीव अपने मन में

कुछ हसरतें छिपाये बैठा है, जिसके परिणामस्वरूप कौआ पिंड को स्पर्श नहीं कर रहा, इससे जीवित आत्माओं को बड़ी चिड़चिड़ाहट होती है और वे मरने वाले (बुढ़ऊ या बुढ़िया) की तृष्णा को कोसना आरंभ कर देते हैं। दूसरी ओर प्रतिक्षण बलवती होती जाने वाली भोजनेच्छा उन्हें विचलित कर देती है और वे दर्भ का कौआ बना कर पिंड को स्पर्श करवा लेने की अनुमति पुरोहित को दे देते हैं। इस प्रकार मृतक की अंतिम इच्छा जाने और शायद उसकी इच्छा के विरुद्ध ही उसे सद्गति प्रदान कर दी जाती है। एक बार तो हमारे बेचन भट्ट जी ने कौए को पिंड स्पर्श करता न देखकर पिंड ही उसे उठा कर दे मारा था जिससे मृतात्मा और कौआ, दोनों की सद्गति एक साथ हो गई थी। ब्रह्म तेज में जो शापादपि शरादपि की दोहरी शक्ति छिपी हुई है उसका यह श्रेष्ठ उदाहरण है।

दसवें दिन मृतात्मा को तो मुक्ति मिल जाती है; पर कुटुंबीजनों का छुटकारा इतनी आसानी से नहीं होता। उन्हें ग्यारहवें और बारहवें दिन भी पिंडदान करना पड़ता है। पलथी मारकर जमे हुए पुरोहित के आदेशानुसार सव्यापव्या की कवायद करनी पड़ती है; खुद नंगे होकर ब्राह्मणों को वस्त्र अर्पण करने पड़ते हैं; खुद असिधारा व्रत धारण करके महापात्र को शय्यादान करना पड़ता है और अपना दिवाला निकाल कर ही क्यों न हो, पर अन्य अनेक प्रकारों से पुरोहितों का घर भरना पड़ता है। इस प्रकार एक मनुष्य की मृत्यु के सहारे न मालूम कितने विप्र-परिवारों का पोषण होता है। इसके बाद भी पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक, न्यून-षण्मासिक, न्यूनवार्षिक आदि श्राद्ध लगे ही रहते हैं। साल पूरा होते-होते तो क्रियाकर्म करने वाला रुआंसा हो उठता है। बाद के जीवन में उसे जब कभी मृतक की याद आती है, उसकी आंखों से आंसू बरसने लगते हैं और मुंह से बरबस उद्गार निकल पड़ते हैं: "अरे रे जाने वाला हम सबको कैसे दुख सागर में डुबो कर चला गया?"

दुनियादार और अनुभवी लोगों से इन उद्गारों का भावार्थ छिपा नहीं रहता।

29. नींद

किसी भी वस्तु के छोटे और बड़े आकार में अकसर उसके गुणधर्मों के परिणाम के अलावा और कोई फर्क नहीं होता। छोटी दिवाली और बड़ी दिवाली, छोटी एकादशी और बड़ी एकादशी, छोटा मेला और बड़ा मेला—इनके बीच का भेद केवल परिणाम का होता है; तात्विक या मौलिक नहीं। परंतु निद्रा के संबंध में यह नियम सही नहीं है। साधारण निद्रा और महानिद्रा के स्वरूप में मौलिक भिन्नता होती है। दोनों अवस्थाओं में प्राणी निश्चल स्थिति में पड़ा रहता है इस साम्य के सिवा उनमें और कोई साधर्म्य नहीं। निद्रा में शरीर समस्त इंद्रियों सहित अबाध रूप में काम करता है जबकि महानिद्रा में पंचमहाभूतों के पृथक्करण की प्रक्रिया आरंभ होकर शरीर का विघटन होने लगता है। निद्रा में देह की शक्तियों को आराम मिल जाने से प्राणी ताजगी प्राप्त करता है और उठने के बाद दुगुने उत्साह से अपने काम में लगता है जबकि महानिद्रा में उसकी समस्त शक्तियों का विलय होकर उसे अचेतनता प्राप्त होती है। साधारण नींद के बाद प्राणी को जागृति का अनुभव होता है। परंतु महानिद्रा के बाद क्या होता है; उसका कहीं अंत है या नहीं; अंत होने पर पुनः जागृतावस्था का अनुभव होता है या और किसी स्थिति का; इत्यादि बातों के संबंध में हमें कुछ भी जानकारी नहीं; और जो थोड़ी-बहुत है, यह विवादास्पद है। साधारण निद्रा का आरंभ जम्हाइयों से होता है तो महानिद्रा का असाध्य रोगों से। सामान्य निद्रा के आगमन से पहले आनंद का अनुभव होता है जबकि महानिद्रा से पहले यातनाएं भुगतनी पड़ती हैं। इन सब कारणों से निद्रा के लघु और बृहत् स्वरूपों की कल्पना से मनुष्य के मन पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ते हैं। महानिद्रा की कल्पना मात्र से उसका हौसला पस्त हो जाता है जबकि सामान्य निद्रा के मोहपाश में बंधने के लिए वह किसी भी समय तैयार रहता है। नींद उसके जीवन का कम से कम

एक-तिहाई हिस्सा छीन लेतीं है। परंतु इस सुखद उपहार को वह आनंद से सहन करता है। इतना ही नहीं, उसके आने में यदि कुछ घंटों का भी विलंब हो जाए, तो उसकी आंखें भारी हो जाती हैं, मन अस्वस्थ हो उठता है, कुछ भी अच्छा नहीं लगता, और मौका मिलते ही वह आंखें मूंद कर उसकी आराधना में डूब जाना चाहता है।

मनुष्यमात्र को इतनी आवश्यक और प्रिय लगने वाली सुखनिद्रा से उसका वियोग करवाने में कुछ विघ्नसंतोषी प्राणियों को बड़ा आनंद आता है। इन प्राणियों में खटमल सबसे मुख्य है और मक्खी, मच्छर और पिस्सू उसके निकट के सहयोगी हैं। खटमल मनुष्य से जमीन पर लड़ता है जबकि उसके साथी वैमानिकों की तरह आकाश मार्ग से हमला करते हैं। आक्रमण के समय रणवाद्य बजाने का काम मुख्यत: मच्छर के जिम्मे होता है। आप अपने कानों को किसी भी दिशा में घुमाएं, उनका मोर्चा भी उसी ओर मुड़ा समझिए। खटमलों के ये उड़ने वाले साथी तो फिर भी मनुष्य से कुछ अंतर पर रहते हैं, पर खटमल को इतना परायापन गवारा नहीं। कुछ भी कहिए, उसका हमारे साथ हाड़-मांस का न सही, पर खून का नाता तो है ही। हम दोनों के शरीर में बिलकुल एक ही रक्त पाया जाता है। अत: वह हमारी अनुमति की राह देखे बगैर बिस्तर पर अड्डा जमा लेता है। सोने वालों ने जो नरम-नरम गद्दे-तकिये अपने आराम की खातिर बनवाए होते हैं उनका उपयोग वह किले के रूप में करता है। संकट की सूचना मिलते ही वह उन सुरक्षित स्थानों में छिप जाता है और सोने वाले की आंख लगते ही अपने आयुधों से सज्जित होकर फिर मैदान में उतर आता है। गफलत की नींद में डूबे हुए शत्रु पर पूरी शक्ति से हमला करना बड़े प्राचीन काल से युद्धनीति का आवश्यक अंग माना गया है। गुरिल्ला युद्ध के दांव-पेंचों में तो खटमल की बराबरी कोई नहीं कर सकता। कभी सिर के पर्वत शिखर पर, तो कभी बगल की खाई में, तो कभी पेट या पीठ के समतल मैदानों में वह हमला करता है। नींद में से हड़बड़ा कर जागने वाले को ऐसी शंका होने लगती है कि कहीं मत्कुणों की पूरी सेना ने तो उसकी देह पर छावनी नहीं डाल दी। ब्रह्माजी ने उसका शरीर भी अलसी के दाने की तरह इतना छोटा और चपटा बना दिया है कि वह आसानी से हाथ नहीं लगता और पलंगपोश की कितनी ही बारीक सलवट क्यों न हो, वह उसके छिपने के लिए पर्याप्त होती है। प्रतिपक्ष से दांव-

पेंच लड़ाने में वह बेहद चतुर होता है। उसे खटमल जैसा सार्थक नाम देने वाली हिंदी भाषा केवल इसी एक बात के बलबूते पर राष्ट्रभाषा बनने के लिए सर्वथा योग्य मानी जानी चाहिए। खाट पर उसका बर्ताव वाकई किसी मल्ल के जैसा होता है। अपनी चपल मोर्चेबंदी से वह सोने वाले को मिनटों में चित्त कर सकता है। सोने वाला हाथ में दीपक लेकर बारीकी से चद्दर की एक-एक तह और पलंगपोश की एक-एक सलवट को खोल-खोल कर देखता है, पर खटमल की चालाकी के सामने उसकी एक नहीं चलती और खटमल की तलाश सुख की खोज की तरह अंतहीन प्रमाणित होती है। जादूगर के हाथ के रुपये की तरह वह एक क्षण के लिए दिखाई देता है तो दूसरे क्षण में लुप्त हो जाता है। धूर्तता और कांइयांपन तो उसमें कूट-कूटकर भरे होते हैं। अपने रंग की वस्तु के इर्द-गिर्द छिपने से पकड़ने वालों को अपना पता नहीं चलेगा यह सिद्धांत उसे अच्छी तरह अवगत होता है। 'केवल योग्यतम प्राणी ही अंत में जीवित बचते हैं' (Survival of the fittest) —जीवशास्त्र के इस सिद्धांत की दृष्टि से देखा जाए तो सृष्टि के अंत तक बचे रहने की योग्यता केवल खटमल में ही दिखाई देती है।

खाट और पलंग खटमलों के प्रिय निवास होते हैं। इन स्थानों में रहने से विना विशेष परिश्रम के रणक्षेत्र में प्रवेश करके रक्तशोषण के पवित्र कार्य का आरंभ किया जा सकता है। यह सुविधा कुर्सियों में भी पाई जाने के कारण वे भी उन्हें विशेष पसंद होती हैं। बैठने वाले की पीठ कुर्सी से टिकी न टिकी कि खटमलों ने हमला किया ही समझिए। आराम-कुर्सी में बैठने वाले को जितना अधिक आराम मिलता है उससे कहीं अधिक सुविधा खटमलों को मिलती है। कारण यह कि उस पर बैठने वाला मनुष्य शीघ्र हो निद्राधीन हो जाता है और गाफिल शत्रु पर हमला करना हमेशा लाभप्रद रहता है। टेबल के साथ मनुष्य के हाथों को छोड़ कर अन्य अंगों का संबंध नहीं आता; अतः वे खटमलों को अधिक प्रिय नहीं होते। इसके खिलाफ खंभों पर से चाहे जहां कूदने की आजादी होने के कारण उनमें खटमलों की विस्तृत बस्तियां पाई जाती हैं। हिरण्यकश्यप ने क्रोधित होकर खंभे को लात मारी थी तब भगवान नृसिंह के साथ सौ-पचास खटमलों का दस्ता भी अवश्य बाहर आया होगा। इसी प्रकार भोजन के समय बैठने के पटड़े भी खटमलों को परम प्रिय होते हैं। खाते समय मनुष्य का आसन प्रायः स्थिर होने के कारण और उसका संपूर्ण ध्यान भोजन में लगा रहने के कारण खटमलों

को निर्विघ्न रूप से रक्तशोषण का मौका मिल जाता है। मनुष्य और खटमल, दोनों को उदरपूर्ति का अवसर एक साथ देने के कारण यह स्थिति सहजीवन का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करती है।

पलंग के सारे खटमलों को निकाल कर पायों को पानी भरे प्यालों में डूबा रखने से नाकेबंदी तो पक्की हो जाती है, पर खटमल इससे हताश नहीं होते। इर्द-गिर्द की दीवारों पर चढ़कर या छत की कड़ियों पर से छलांग मार कर पलंग पर कूदा जा सकता है। कुछ परम घाघ मत्कुण तो सोने वाले के कपड़ों में छिपे रहते हैं और उसके कमर टेकते ही उसे यमयातना देने लगते हैं। पलंग के पायों के रास्ते नीचे उतर कर फरार हो जाने का मार्ग बंद हो जाने के कारण इस बार वह केसरिया बाना धारण कर युद्ध करने वाले राजपूतों की तरह जीवन की आशा छोड़ कर रणक्षेत्र में उतरता है और भरपेट रक्तपात करने को ही अपना अंतिम ध्येय समझता है। और फिर धीरे-धीरे उसके सिर पर खून सवार हो जाता है। इस समय खुर्दबीन की सहायता से उसका मुंह देखा जा सके तो दुःशासन का खून पीने वाले भीमकर्मा वृकोदर के मुंह की तरह उसे देख कर भी डर लगे बिना नहीं रहेगा।

एक बार हमारे घर में खटमलों की इतनी इफरात हो गई कि उनके अत्याचारों से त्रस्त होकर मुझ पर पागल होने की नौबत आ गयी। मैं पाटे पर, दीवान पर, कुर्सी पर, पलंग पर या खाट पर, कहीं भी बैठूं, तुरंत असंख्य सुइयां एकसाथ चुभने की-सी वेदना होने लगती। इस यातना से छुटकारा पाने के लिए मैं घंटों तक खड़ा रहता। पलंग पर लेटते समय कमर को गद्दे पर टिकाना शरशय्या पर सोने के समान था। अतः मैं कमर को मेहराब की तरह ऊंची उठाकर सोने लगा। रक्त की एक-एक बूंद चूसकर फरार हो जाने वाले खटमलों का गुस्सा मैं बच्चों पर उतारने लगा। कभी-कभी तो क्रोध का आक्रोश कम करने के लिए आसपास और कोई न मिलने पर मैं अपने ही मूंह पर दो-चार तमाचे जड़ लेता। इन सब युक्तियों का कुछ भी परिणाम निकलता न देखकर आखिर मैंने गृहत्याग करने का निश्चय किया और सपरिवार काशीयात्रा को चल दिया। इससे भवसागर से न सही, पर खटमलों के अत्याचार से छुटकारा होने की काफी संभावना थी। वैसे तो तीर्थक्षेत्र में भी पंडों और गयापुत्रों ने खटमलों की याद को सदा ताजा रखा पर अब तक रक्तशोषण करवाने का भरपेट अनुभव हो जाने के कारण

उनकी लूटखसोट से विशेष कष्ट नहीं हुआ। मच्छरों की गुनगुनाहट का रात-दिन का अनुभव होने के कारण पंडों की भुनभुनाहट भी विशेष अप्रिय नहीं लगी। महीने भर बाद हम घर लौट आए। सोचा था कि घर में घुसते ही जगह-जगह खटमलों के निर्जीव अस्थिपंजरों के ढेर के ढेर दिखाई देंगे। ऐसा यदि होता तो उन्हें बूंद दो-बूंद आंसुओं की तिलांजलि देने को भी तैयार था। रोज-रोज आंसू बहाने की अपेक्षा एक रोज ही अंजलि भर आंसू अर्पण कर देना कहीं अधिक सुविधाजनक रहता।

परंतु ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। हमारी अभिलाषा पूरी होने का एक भी लक्षण दिखाई नहीं दिया। घर में घुसने पर तो एक भी खटमल के दर्शन नहीं हुए। हमने सोचा कि अनाहार के कारण बेचारे इतने कमजोर हो गए होंगे कि बाहर निकलने की भी शक्ति नहीं रही होगी और अपने छिपने के स्थानों में ही भूख से तड़प-तड़प कर मर गये होंगे। करुणा से भरे हुए हृदय से मैं खाट पर जा बैठा। खाट को पीठ लगने की देर थी कि छिप कर बैठे हुए दस्तों ने एकबारगी धावा बोलकर पहली सलामी दी। जीवन भर के सारे उपवास एक ही महीने में लगातार हो जाने के कारण उनकी क्षुधा कुछ ऐसी प्रदीप्त हो उठी थी और महीने भर तक भूख से दांत पीसते रहने के कारण दाढ़ों में कुछ ऐसी तीक्ष्ण धार आ गई थी कि महीने भर की कसर उन्होंने कुछ मिनटों में ही निकाल ली। मैं परेशान होकर कुर्सी पर जा बैठा। परंतु यहां दूसरे दस्ते तैयार थे। किस्सा कोताह, घर के चप्पे-चप्पे पर बुभुक्षित खटमलों का एकछत्र साम्राज्य छाया दिखाई दिया और चैन की सांस लेना मुहाल हो गया। हम अपनी काशीयात्रा का सुफलभोज दें उससे पहले ही उन्होंने अपने प्रदीर्घ उपवास का पारण शुरू कर दिया था। रात होने से पहले ही हम त्राहि-त्राहि कर उठे।

इसके बाद मुझे एक नई तरकीब सूझी। खटमलों को नाखून से मारना चाहो तो वे मिलते नहीं और भूख से मारना चाहो तो मरते नहीं। तो फिर क्यों न उन्हे इधर-उधर बिखेर दिया जाए। इतना बड़ा शहर है; खैरात करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। शहर में ऐसे अनेक आलसी लोग होंगे जिनका अतिनिद्रा के कारण स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता होगा। ऐसे अनेक विद्यार्थी और मजदूर होंगे जिनकी सुबह चार बजे उठना चाहने पर भी नींद नहीं खुलती होगी और वे पाठशाला या कारखाने का समय चूक जाते

होंगे। हमारे घर भर के रात्रिजागरणों को इन सबमें बांट दिया जाए तो हमें कुछ राहत मिल कर इन लोगों पर अनायास ही उपकार होने की संभावना थी। यह विचार मन में आते ही मैंने उस पर अमल करना शुरू कर दिया। खटमलों से लबलब भरे हुए कपड़े पहन कर मैं इष्टमित्रों से मिलने के लिए घर से निकल दिया। कभी किसी से मिलने न जाने वाले मुझ जैसे एकांतप्रिय और घरघुसरे इंसान के मन में अचानक इतनी मिलनसारी उत्पन्न हुई देख कर लोगों को आश्चर्य तो हुआ होगा। परंतु किसी ने भी मेरे मेलजोल से ऊब या अरुचि प्रकट नहीं की। इतना ही नहीं लोग बड़ी उमंग से पान-सुपारी और बीड़ी-तमाखू से ही नहीं, चाय-शरबत से भी मेरा सत्कार करने लगे। अब आश्चर्यचकित होने की मेरी बारी थी। मैं गहराई से विचार करने लगा कि इतना लोकप्रिय हो उठने के ऐसे कौनसे गुण मुझमें छिपे हुए हैं, जो आज तक उपयोग में न लाने के कारण सुषुप्तावस्था में पड़े हुए थे। बहुत सोचने पर भी बात कुछ समझ में नहीं आई। आखिर कुछ लोगों से साफ-साफ पूछने पर मालूम हुआ कि उनमें से किसी को भी पहले स्वस्थ नींद नहीं आती थी। पर जब से मेरा आना-जाना शुरू हुआ है, लोगों को सुख की नींद आने लगी है। लोग इसे मेरे चरणों का प्रताप समझ कर बहुत खुश थे पर मैं और भी उलझन में पड़ गया। मेरी उपस्थिति में कोई निद्रा-प्रेरक शक्ति रही हो, यह मुझे तब तक मालूम नहीं था। अतः कुछ और गहराई से खोजबीन करनी पड़ी। मालूम हुआ कि पहले इन लोगों के घरों में खटमलों का प्रकोप बहुत बढ़ा हुआ था। परंतु मेरा आना-जाना शुरू होने के बाद अब कहीं खटमल ढूंढे नहीं मिलता। यह सुनते ही मेरी जो हालत हुई, आप अंदाजा लगा सकते हैं। जिन कपड़ों के द्वारा अपने घर के खटमलों को अन्य जगह विसर्जित करने की युक्ति मैंने सोची थी, वे ही शहर भर के खटमलों को बटोरने का साधन बन गए थे। भागते हुए घर पहुंचा और बंडी, कुरता, फेंटा, यहां तक कि जूतों को भी झटककर देखा। मालूम दिया कि शहर भर के खटमलों ने मेरे कपड़ों में शरण ली हुई थी। अधिक गहराई से जांचने पर दिखाई दिया कि बैठक से लगा कर शयनगृह तक उनकी कई अक्षौहिणी सेनाएं पड़ाव डाले हुई थीं। खाट, पलंग, कुर्सी, टेबल आदि लकड़ी के सामान में तो उनकी संख्या का कोई शुमार ही नहीं था। स्पष्ट था कि शहर भर के खटमल हमारे घर में आकर एकत्र हो गए थे। उनमें बंडूनाना के घर के दुबले मत्कुण थे और पांडूतात्या के यहां के मोटे-ताजे

खटमल भी थे। काले और गोरे, चपल और मंद, लंबे और गोल-मटोल, सूखे और पुष्ट, मीठे खून के शौकीन और नमकीन खून के चाहने वाले, गरज यह कि हर वर्ग के प्रतिनिधि लाखों की संख्या में मौजूद थे। यह सब देख कर पहले तो मुझे संसार के प्रति विरक्ति उत्पन्न हुई और में फिर से पलायन का विचार करने लगा। परंतु अब की बार भाग कर कहीं दूर नहीं गया। सिर्फ इतना किया कि पहने हुए कपड़ों से बीवी-बच्चों के साथ घर से बाहर निकला और भारी मन से पुश्तैनी मकान को अपने हाथों से दियासलाई लगा दी। सावधानी के लिहाज से घर की राख हुए तक वहीं खड़ा रहा। फिर बजाज के यहां जाकर सारे कपड़े नये बनवाए और पुरानों की होली जला दी। अब चाहे किराये के मकान में रहना पड़ता है, पर रात को चैन की नींद तो आती है।

खटमल, मच्छर इत्यादि नींद के मार्ग में आने वाले विघ्न मनुष्य पर बाहर से हमला करते हैं जबकि चिंता-फिक्र और मानसिक अस्वस्थता जैसे आंतरिक विघ्न उसे भीतर ही भीतर कुरेदते रहते हैं। प्रत्येक विघ्न में रक्तशोषण और निद्रानाश समान धर्म के रूप में मौजूद रहते हैं, फिर चाहे वह बाहरी हो चाहे अंदरूनी। हमारे बंडूनाना के मन में कोई न कोई उधेड़बुन चलती ही रहने के कारण उन्हें भी निद्रासुख कम ही मिलता था। उनका मस्तिष्क अत्यंत उपजाऊ और कल्पना-प्रवण है, यह पहले देखा जा चुका है। विशेष तौर से कच्चे माल में से सीधे पक्का माल बनाने की अनेकविध कल्पनाएं तो उनके दिमाग में रातदिन घुमड़ती रहती हैं। गाय भैंसों के थनों में बिजली के ऐसे यंत्र लगा दिए जाएं कि उनमें से दूध के बजाय एकदम श्रीखंड या रबड़ी निकलने लगे; जमीन को जोत कर बिनौले बो देने के बाद कुछ ऐसी युक्ति की जाए कि पौधों पर कपास के बजाय मलमल के थान या धोती के जोड़े, ऊपर लगे हुए लेबल और चित्र के साथ उगने लगें; आदि कल्पनाएं सोते-जागते उनके दिमाग में कुलबुलाती रहती हैं। इतना ही नहीं, इन कल्पनाओं के साकार होने से पहले ही वे तैयार धोतीजोड़ों को किस मंडी में बेचा जाए और उनकी कीमत क्या रखी जाए इस उधेड़बुन में पड़ जाते हैं। कभी-कभी तो वे इस मानस व्यापार के मुनाफे से प्राप्त रुपए को मन ही मन समाजसेवा की विभिन्न मदों में खर्च करने की योजना भी बनाने लगते हैं। इस स्थिति में यह स्वाभाविक है कि नाना की रातें निद्रा के बजाय योजनादेवो की उपासना में बीतें। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्हें निद्रानाश का रोग लग गया। शीघ्र ही

हालत यहां तक बिगड़ी कि लाख जतन करने पर भी उन्हें रात-रात भर नींद न आती। उन्होंने सारे खिड़की-दरवाजों को बंद करके कृत्रिम अंधकार उत्पन्न कर देखा; घंटों तक आंखें मूंदकर चुपचाप लेटे रह कर देखा; गरमी से सांस घुटने की नौबत आने तक सिर से पांव तक ओढ़ कर देखा; दीर्घश्वसन और प्राणायाम का प्रयोग करके देखा; सोने का स्वांग भरकर सतमंजिले खर्राटे लेकर देखा; पर निद्रादेवी प्रसन्न नहीं हुई सो नहीं हुई। दिन भर की मेहनत से थक जाने के बाद नींद आसानी से आ जाएगी इस विचार से प्रेरित होकर उन्होंने सुबह-शाम डंड-बैठक लगाए; दो-दो घंटों तक दौड़ कर मीलों के चक्कर लगाए; घुड़सवारी की; अखाड़े में जाकर पहलवानों से कुश्ती की; कबड्डी, लंगड़ी आदि थका देने वाले खेल खेले; पर उनकी किसी भी मर्दानगी पर निद्रासुंदरी मोहित नहीं हुई। आखिर नौबत यहां तक आई कि उन्होंने मादक पदार्थों का सेवन आरंभ किया। उन्होंने बारी-बारी से भांग, गांजा, चरस, अफीम आदि सारे निद्राप्रेरक द्रव्यों का प्रयोग करके देखा पर सब उलटे घड़े पर पानी सिद्ध हुए।

आखिर तंग आकर नाना ने आत्महत्या करने का निश्चय किया। उन्होंने पहले एक ऊंचे कगार पर से कूद कर देखा। परंतु ऊपर से नीचे पहुंचने तक सिर को धूप न लगे इस हेतु से छाता खोलकर हाथ में ले लिया। स्वाभाविक था कि प्राण देने की यह युक्ति कारगर न हुई हो। फिर एक बार उन्होंने डूब मरने का निश्चय किया। इसके लिए वे तालाब तक गये भी। पर हाथ डालकर देखने पर पानी बहुत ठंडा मालूम दिया; अतः गर्मियों तक यह विचार स्थगित कर देना पड़ा। इसके कुछ दिनों बाद अखबारों में एक खबर छपी कि किसी बंगाली लड़की ने कपड़ों पर मिट्टी का तेल छिड़ककर आत्महत्या कर ली। इससे प्रेरणा प्राप्त करके नाना ने उसका अनुकरण करने का संकल्प किया। परंतु उन दिनों युद्ध के कारण मिट्टी का तेल इतना महंगा हो गया था कि परले सिरे के मितव्ययी नाना को महज मरने के लिए इतनी फिजूलखर्ची करना उचित मालूम नहीं दिया और निरुपाय होकर तेल के दाम कम होने तक उन्हें यह विचार भी स्थगित कर देना पड़ा।

नाना की अनेकविध युक्तियों को ठेंगा दिखाने वाली निद्रादेवी अंत में एक घरेलू उपाय से वश में हो गई। जिस छलनामयी ने उनके शारीरिक श्रम की परवाह नहीं की; मादक पदार्थों को जो घोल कर पी गई और जिसके वियोग के

कारण नाना को महानिद्रा की गोद में जाने का निर्णय करना पड़ा उस निद्रा-सुंदरी ने आखिर एक किताब के सामने घुटने टेक दिए। बात यों हुई कि उन्हीं दिनों एक नया शास्त्रीय ग्रंथ प्रकाशित हुआ था। उसकी प्रशंसा सुन कर मैंने उसे नाना को भेंट देने का निश्चय किया। एक रोज ग्रंथ खरीदकर मैं रात को उनके यहां पहुंचा। नाना बेचारे नींद के अभाव में बिस्तर पर करवटें बदलते हुए तड़फ रहे थे। मेरे पहुंचते ही वे उठ बैठे और आंखों पर ऐनक लगा कर पढ़ना शुरू किया। उन्होंने मुश्किल से आधा पन्ना पढ़ा होगा कि कुछ दैवी चमत्कार हुआ और आज तक रूठी हुई निद्रारानी उन पर एकाएक प्रसन्न हो गयीं। दो-चार क्षणों में तो वे खर्राटे लेने लगे। मैंने भी उन्हें छेड़ना उचित नहीं समझा और चुपचाप उठ कर घर चला आया। दूसरे दिन मिलने पर नाना बड़े प्रसन्नचित्त दिखाई दिए। पिछली शाम के अमूल्य उपहार के लिए उन्होंने मुझे दिल की गहराई से धन्यवाद दिया। उस ग्रंथराज ने उनके महीनों के विकार को क्षणार्ध में नष्ट कर दिया था। इतना ही नहीं, कल के अनुभव से उनके अनेकविध वैज्ञानिक अनुसंधानों में एक नया आविष्कार और जुड़ गया था। हम यह देख चुके हैं कि ग्रंथ पढ़ते-पढ़ते वे चश्मा उतारे बिना ही सो गये थे। आज सुबह जागने पर उन्हें बोध हुआ कि चश्मा लगा कर सोने से स्वप्न की बातें अधिक स्पष्ट दिखाई देती हैं। नाना के इस मौलिक आविष्कार के लिए वैज्ञानिक जगत कभी न कभी उनका सत्कार अवश्य करेगा। वैसे इस तथ्य की पड़ताल रोजमर्रा के जीवन की घटनाओं से भी की जा सकती है। कभी-कभी वादविवाद के आवेश में हम आंखों पर का चश्मा ऊपर कपाल पर चढ़ा लेते हैं। और यह देखा गया है कि तब तक बुद्धि को न पटने वाली विचारधारा ऐनक के कपाल पर चढ़ते ही ग्राह्य मालूम देने लगती है। इस नियम को स्थापित करने के लिए अभी कुछ अधिक प्रयोगों की आवश्यकता है पर सिद्धांत रूप से यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि ललाट पर ऐनक को सरकाते ही दिमाग में अधिक रोशनी पड़ती होगी और इसी कारण से सामने वाले की बात पटने लगती होगी।

नींद के मामले में पांडूतात्या का तजरबा हम दोनों के अनुभवों से नितांत भिन्न प्रकार का रहा है। तात्या के जैसे सुखी जीव इस मृत्युलोक में कम ही दिखाई देते हैं। उनकी नींद न कभी खटमलों के रक्तशोषण से टूटती है न मच्छरों की गुनगुनाहट से। उनकी मोटी चमड़ी को आरपार भेदना इन क्षुद्र कीटकों के

बूते की बात नहीं। और चिंता-फिक्र तो उनकी नींद की पुख्ता किलेबंदी के आसपास भी नहीं फटक सकतीं। आहार और निद्रा के बीच कुछ समय बीतना चाहिए, वैद्यकशास्त्र के इस नियम को भी उन्होंने उठाकर ताक पर रख दिया है। खाना खाते ही सो जाने को और सोकर उठते ही फिर से खाने को वे सदा तत्पर रहते हैं। ज्यादा खा लेने से कभी उनकी नींद नहीं बिगड़ी और अतिनिद्रा से कभी उन्हें अग्निमांध नहीं हुआ। उनके खर्राटों के कारण घर के अन्य लोगों की आंख लगना चाहे जितना दुश्वार रहा हो, इससे उनकी अपनी नींद में कभी कोई खलल नहीं पहुंचा।

दोपहर के भोजन के बाद दो-तीन घंटों तक लंबी तान देने की तात्या को कई वर्षों से आदत है। अस्सी वर्ष की आयु में उनके पिताजी का अंतसमय नजदीक आया उस समय तात्या दोपहर का भोजन समाप्त करके लेटने की तैयारी कर रहे थे। उधर बुढ़ऊ की ऊर्ध्वसांस चलने लगी। तात्या का चेहरा उतर गया। पिताकी आयु कम से कम दो-तीन घंटों तक बढ़ा देने के लिए उस पितृवत्सल पुत्र ने मन ही मन भगवान से बहुत प्रार्थना की। परंतु निष्ठुर दैव ने उनकी बिनती नहीं सुनी। पिताजी का प्राणोत्क्रमण हो गया और आगे की तैयारी का तुरंत प्रारंभ करना पड़ा। उधर तात्या की आंखें झपकने लगीं और शरीर भारी होने लगा। कफन-काठी आने तक तो उनका सिर घूमने लगा और आंखें खुली रखना दूभर हो गया। चेहरे पर पानी के छींटे मार-मार कर लोगों ने उन्हें जागृत न रखा होता तो वे मूर्छित होकर गिर पड़े होते। शव को अर्थी पर बांधते समय उनके मुंह से "बापू, मुझे इसी समय छोड़ जाने की जल्दी क्यों की"—ऐसे जो हृदयद्रावक उद्‌गार निकले उनका विभिन्न लोगों ने अलग-अलग अर्थ लगाया। नवागंतुकों ने उन्हें पिता के अकाल निधन से दुखसागर में डूब जाने वाले पुत्र के शोकविह्वल उद्‌गार समझा। परंतु भीतर की बात जानने वालों के लिए उनमें कुछ अधिक गहरा अर्थ भी छिपा हुआ था।

दोपहर को नियमित रूप से सोने की आदत के कारण कभी-कभी कितनी असुविधा हो सकती है इसका अनुभव होने के बाद तात्या ने उसमें सुधार करने का निश्चय किया। बड़े कठोर मनोनिग्रह से उन्होंने निर्णय किया कि अब नियमित समय पर सोने के बजाय चाहे जब और चाहे जिस स्थिति में सोने की आदत डालनी चाहिए। इस निर्णय पर उन्होंने तुरंत अमल करना शुरू कर दिया। अब रात को जागरण

करने में भी हर्ज नहीं था क्योंकि रात को खोयी हुई नींद की क्षतिपूर्ति चाहे जब सोकर की जा सकती थी। अव वे हमारे साथ गाने की महफिलों में भी आने लगे। परंतु वर्षों की पुरानी आदत छूटते-छूटते ही छूटती है। महफिलों में वे हारमोनियम का साथ अपने खर्राटों से भरने लगे। वाजे के सुर के साथ खर्राटों का सुर मिलाने के वजाय वे इस जिम्मेदारी को वजाने वाले पर ही छोड़ देते। बेचारा हारमोनियम वाला मजबूर होकर उनके सुर के साथ अपने बाजे का सुर मिला लेता। महफिलों में वे जाते थे श्रोता की हैसियत से पर आते थे अकसर दूसरों को श्रोता बनाकर। बड़े-बड़े पहाड़ी आवाज वाले गवैये भी उनके खर्राटों के सामने टिक न पाते। कभी-कभी तो गवैया बोरिया-बिस्तरा समेट कर भागता हुआ नजर आता। नाटकगृहों में तात्या के खर्राटे शुरू होते ही अभिनेताओं के आवेशयुक्त संवाद और गाने वालों के तानआलाप तो क्या, दर्शकों की तालियों की गड़गड़ाहट भी सुनाई देना दुश्वार हो जाता। बेसुरे गाने वालों की आवाज श्रोताओं तक और सुरीले गवैयों को दी जाने वाली दाद गाने वालों तक पहुंचना मुश्किल हो जाता। एक तरह से यह बात दोनों पक्षों के लिए सुविधाजनक थी। अतः तात्या के षड्जगंधार के विरुद्ध आज तक किसी ने कोई आपत्ति नहीं उठाई।

इस अंतहीन निद्राराधना के कारण खुद तात्या को भी असुविधा न होती हो सो बात नहीं। भोजन के सिवा और किसी भी काम के लिए वे समय पर उपस्थित रहे हों ऐसा शायद ही कभी होता है। श्रावणी के दिन पंचगव्य-प्राशन के समय वे अदवदा कर अनुपस्थित रहेंगे पर सत्तू खाने के समय हाजिर रहने से कभी नहीं चूकते। कीर्तन या सत्यनारायण की कथा के अवसरों पर तो प्रसाद बंटने से पहले वे जाते ही नहीं और साधुवैश्य की रोचक कथा के श्रवण से वंचित रह जाते हैं। वहां जाकर अपने खर्राटों से दूसरों को पुण्यलाभ से वंचित करने की अपेक्षा खुद ही उससे महरूम रह जाने की आदत उनकी परोपकारी वृत्ति की ही द्योतक है इसमें कोई संदेह नहीं।

एक बार निद्राधीन हो जाने के बाद तात्या को स्थानकाल का कुछ भी होश नहीं रहता। बीच में कई दिनों तक उनके मन में ऐसी शंका आने लगी थी कि उनकी आंखें लगते ही उनकी घड़ी पांच मिनट में एक घंटे की रफ्तार से चलने लगती है और आंख खुलने से पहले दो-तीन घंटों की मंजिल तय कर लेती हैं। घड़ी की इस बुरी आदत को दुरुस्त करने के लिए उन्होंने उसे घड़ीसाज के यहां भेजा, पर

कई बार मरम्मत होने पर भी घड़ी की गति मंद होने के लक्षण दिखाई नहीं दिए। दूसरी ओर मरम्मत का खर्च बढ़ता जा रहा था। धीरे-धीरे वह बढ़ कर घड़ी की मूल कीमत से दस गुना अधिक हो गया। तब उन्होंने पुरानी घड़ी की छुट्टी करके नयी घड़ी खरीदने का निश्चय किया और वे घड़ियों की दूकान में पहुंचे। वहां सारी घड़ियों की सुइयों को नाटक की नर्तकियों के हाथों की तरह एक साथ एक ही दिशा में उठते-गिरते देख कर उन्हें उन पर विश्वास न रहा। साथ ही यह भी मालूम दिया कि पुरानी घड़ी का समय उन सबसे बिलकुल मिलता-जुलता था। अतः उन्होंने नई घड़ी खरीदने का विचार छोड़ दिया। दूकान में जाकर वहां की नयी और आकर्षक वस्तुओं को देख कर भी उन्हें खरीदने का विचार छोड़ कर पुरानी से ही काम चला लेने का आत्मनिग्रह कम ही लोगों में पाया जाता है। परंतु तात्या ने यह चमत्कार कर दिखाया। योगायोग से उसी समय उनकी पुरानी घड़ी ने बीच-बीच में बंद हो जाने का निश्चय किया। एक रोज तीन घंटे सोकर उठने के बाद तात्या ने देखा कि उस ईमानदार सेविका ने तीन घंटों तक अपनी सुइयों को भी अपने स्वामी के अंगों की तरह निश्चल रखा था। घड़ी की अकल ठिकाने आयी हुई देख कर तात्या को हार्दिक आनंद हुआ। बड़े संतोष के साथ वे सबसे कहने लगे, "देखा, नयी घड़ी खरीदने का विचार करते ही ससुरी की अकल ठिकाने आ गई।" इस दिन के बाद तो वह घड़ी उनके गले का हार बन गई। यहां तक कि कालगति से जब उसकी दोनों सुइयां टूट गईं, डायल चटक गया, तब भी तात्या ने समय जानने के लिए दूसरी घड़ी का प्रयोग नहीं किया। इतनी भरोसे की घड़ी उन्हें भला मिलती भी कहां।

रेलयात्रा के समय की तात्या की भगदड़ तो बस देखते ही बनती है। दोपहर के भोजन के बाद दो मिनट के लिए आंखें मूंदी न मूंदीं कि गड़बड़ हुई ही समझिए। सात्विक आक्रोश से थरथराते हुए तात्या फतवा देते : "इन गाड़ियों का समय हमेशा ही असुविधाजनक होता है। यह भी भला कोई बात हुई कि घड़ी भर के लिए आदमी जरा सुस्ताने लगे कि इन ससुरियों के छूटने का टैम हो जाए। दूसरे और तीसरे पहर के बीच देश भर में कोई भी गाड़ी किसी भी स्टेशन पर न पहुंचे ऐसा कानून बना देना चाहिए। मैं रेलकंपनी को इस संबंध में शिकायत लिखने वाला हूं।" इत्यादि।

प्रयत्नों की पराकाष्ठा के बाद तात्या को कभी गाड़ी मिल भी जाए, तो वे समय

पर गंतव्य स्थान पर पहुंच ही जाएंगे इसका कोई भरोसा नहीं रहता। नींद के खुमार में वे अकसर गंतव्य स्थान से दो-चार स्टेशन आगे पहुंच जाते हैं और फिर दूसरी गाड़ी से वापस लौटते हैं। इस बार दो-तीन स्टेशन पीछे पहुंचने के बाद आंख खुलती है। घड़ी के लटकन की तरह यह आगे-पीछे की यात्रा दो-तीन बार होने के बाद ही वे गंतव्य स्थान पर पहुंचते हैं। एक बार एक ही रात में रेल के एक ही विभाग की यात्रा उन्होंने दोनों दिशाओं में दो-दो बार की थी। एक बार वे कल्याण स्टेशन पर बंबई से पूना जाने वाली गाड़ी की राह देखते हुए बैठे थे•••नहीं-नहीं,•••ऊंघ रहे थे। एक के बाद एक पूना की तीन गाड़ियां निकल गईं। हर बार गाड़ी के छूटने की सीटी बज जाने के बाद ही तात्या की आंख खुलती थी और दौड़ कर गाड़ी पकड़ने का प्रयत्न करने के बावजूद भी वह छूट जाती थी। दो गाड़ियों के बीच में कुछ समय होना स्वाभाविक था; अतः तात्या विचार करते कि चलो, तब तक एक झपकी और ले ली जाए। परंतु एक बार आंखें मुंदते ही पिछली बार की पुनरावृत्ति होना अनिवार्य था। तीसरी बार तो गाड़ी की सीटी से आंख खुलते ही नींद की बेहोशी में वे उलटी दिशा में भाग कर बंबई की गाड़ी में चढ़ने की कोशिश करने लगे। चौथी बार वे गाड़ी पकड़ पाये इसका कारण यह था कि उन्होंने कुली से कह दिया था कि गाड़ी आने से पहले उन्हें जगा दिया जाए और हिलाने-डुलाने पर भी आंखें न खुलें, तो कान में यह मंत्र फूंका जाय कि 'उठिये तात्या; भोजन तैयार है।'

इन दिनों तो देह की किसी भी अवस्था में सोते रहने की आदत उन्होंने आत्मसात् कर ली है। वे बैठे-बैठे सोते हैं, खड़े-खड़े सोते हैं, यहां तक कि चलते-चलते भी सोत रहते हैं। अलबत्ता भागते समय सोते हुए उन्हें आज तक किसी ने नहीं देखा। परंतु इसी रफ्तार से तरक्की होती रही तो शीघ्र ही वह दिन भी देखने को मिल जाएगा। भविष्य के गर्भ में क्या-क्या चमत्कार छिपे हुए हैं, कौन बता सकता है!

30. यशप्राप्ति के अचूक और सरल उपाय

प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी ध्येय को दृष्टि में रख कर उसकी सिद्धि के लिए प्रयत्न करता रहता है। मनुष्य के इस उद्दिष्टचिंतन में ही कुछ लोगों के मतानुसार उसके सुख के बीज छिपे रहते हैं जबकि कुछ अन्य विचारकों ने इसी को उसके समस्त दुखों की जड़ माना है। इन ध्येयों को प्राप्त करने के आधुनिक उपाय बहुत कुछ घिसे-पिटे और नीरस हैं। आजकल रोगी मनुष्य आरोग्यसंपादन के लिए कड़वी जहर जैसी दवाइयां पीने से लगा कर उपवास करने तक के अनेक भले-बुरे मार्गों का अवलंबन करेगा, पर अत्यंत प्राचीन काल से रामबाण सिद्ध होने वाले मंत्रतंत्र, गंडे-तावीज़, जारण-मारण-वशीकरण आदि उपायों की तरफ आंख उठा कर भी नहीं देखेगा। जूड़ी बुखार जैसे रोगों पर तो हमारे सनातन उपाय हमेशा गुणकारी सिद्ध हुए हैं। शरीर में कितनी ही कपकंपी क्यों न चढ़ रही हो, मंत्र की एक फूंक से उसका नामोनिशान मिट जाता है। तांत्रिक आकृतियों वाला गंडा या मंत्रसिद्ध तावीज़ का रोगी के गले या बांह से स्पर्श होते ही तिजारी जैसी व्याधियां पीछे मुड़ कर देखे बिना पलायन कर जाती हैं। किसी की बुरी नजर लग कर बच्चा मुरझाने लगे तो राई नोन से नजर उतारते ही वह रोगमुक्त होकर प्रफुल्लित दिखाई देने लगता है। अंगारों पर राई की तड़तड़ सुनाई देते ही चश्मेबद सिर पर पांव रख कर भागती है। छोटे बच्चों को भूत-प्रेत की बाधा होने पर उसके कपाल पर साधुबाबा की मंत्रपूत भभूत लगा देने से या गले में पीरबाबा द्वारा फूंका हुआ काला डोरा बांध देने से उससे छुटकारा पाया जा सकता है। बच्चों के फोड़े-फुंसियों पर कारगर होने वाला उपाय भी कुछ अधिक जटिल नहीं है। हाल की टांकी हुई चक्की में आटा पीस कर उससे चौराहे पर कुछ आकृतियां बना दीं कि छुट्टी हुई। जो कोई उन आकृतियों को लांघेगा, बच्चे के शरीर के फोड़े उसके शरीर पर स्थानांतरित हो जाएंगे।

आरोग्यलाभ के इन सुलभ मार्गों के उपरांत सुखप्राप्ति के और भी अनेक साधनों से वर्तमान पीढ़ी वंचित रह गई है। प्राचीन काल में पांव की तरफ से जन्म लेने वाले औलिया गुप्तधन की टोह लगाने में पारंगत होते थे। कीमियागरों की सहायता से निकृष्ट धातुओं का सोने में रूपांतर किया जा सकता था। जिन्नात तो कुछ भी कर सकते थे। हलवाई की दुकान से मिठाई के थाल उठा लाना या सात समंदर पार के किसी सुलतान के हरम से उसकी शाहजादी को उड़ा लाकर हस्तबस्ता सामने खड़ी कर देना उनके बांये हाथ का खेल था। स्याने और ओझे भूत-प्रेतों को उंगलियों के इशारे पर नचा सकते थे। सूखा पड़ने पर महादेवजी की पिंडी पर अभिषेक की निरंतर धारा टपका कर पूरी सृष्टि को जलमय किया जा सकता था। परिवार पर कोई संकट आने पर देवताओं को उसमें सहभागी करके उससे छुटकारा पाया जा सकता था और आपत्ति यदि लंबे समय तक टिकी रहे तो इष्टदेवताओं को कुएं में उलटे लटका कर उन्हें अपनी विपत्तियों का आंशिक मजा चखाया जा सकता था। वैसे उस जमाने के देवी-देवता भी आशुतोष हुआ करते थे और ऐसे अघोरी उपायों की राह देखे बिना ही मनौतियां पूरी कर देते थे। बचपन में बहुत सी परीक्षाएं मैंने एक पैसे की मिस्री का प्रसाद बांटने की मन्नत के बलबूते पर ही उत्तीर्ण की थीं। इस उपाय को सफल होता देख कर पुस्तकों का अध्ययन तो क्या उन्हें खरीदने के झंझट से भी मैंने अपने-आपको मुक्त कर लिया था। आज मुझे गणित, भाषा, इतिहास या भूगोल का जो भी थोड़ा-बहुत ज्ञान है वह मिस्री की डलियों की मधुर बुनियाद पर टिका हुआ है। बाद में मनौती की मिस्री को अन्य लोगों में बांटने के बजाय मैं खुद ही उदरस्थ करने लगा। मिस्री की डलियां अपने ही मुंह में पड़ने के कारण बाद के दिनों में प्रसाद की तादाद बढ़ गई और कुछ दिनों बाद मिस्री का स्थान पेड़ों ने ले लिया। हनुमानजी के सामने मनौती मानते समय मैं जानबूझ कर अर्थ-भेद की गुंजाइश छोड़ देता था। "परीक्षा में पास हुआ, तो तेरे नाम से पेड़े बांटूंगा" —यह संकल्पतो स्पष्ट होता था। पर किसे बांटूंगा, इस बात को मैं जानबूझ कर अध्याहार रहने देता था। इससे मेरी मनोकामना भी पूरी हो जाती थी; देवता के सामने मिथ्या संकल्प करने के दोष से भी बचाव हो जाता था; और मिठाई भी अपने पेट में जाती थी। मेरी इस युक्ति की बेचारे हनुमानजी को शायद आज तक कल्पना नहीं आयी होगी।

विद्यार्थी अवस्था का यह अनुभव मुझे गृहस्थाश्रम में भी बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। व्यापार का आरंभ करने से पहले जिस प्रकार पूंजी जमा करनी पड़ती है उसी प्रकार प्रत्येक कार्य का आरंभ मैं मनौतियों द्वारा करने लगा। विभिन्न मनौतियों में सत्यनारायण की पूजा और व्रत का संकल्प मुझे सबसे अधिक पसंद है। सत्यनारायण अत्यंत जागृत देवता हैं। किसी भी कपट-कारस्थान का आरंभ करना हो, उन्हें उसमें साझेदार बना लेने से कार्य की सिद्धि अटल हो जाती है। उस कार्य का संबंध सत्य से है या असत्य से, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। दूसरी सुविधा इसमें यह है कि व्रत का संकल्प पूरा न होने पर सत्यनारायण क्रोधायमान होकर हमारी कामना से ठीक उलटा परिणाम घटित करते हैं। उनके इस गुण से भी मैंने समय-समय पर फायदा उठाया है। एक बार मैंने कामना की कि 'हे भगवान्, इस बार मेरे खेतों की फसल को नष्ट कर दो। एक दाना भी मत उगने दो। मेरी यह इच्छा पूरी हुई तो मैं सत्यनारायण व्रतकथा का आयोजन करूंगा।' बस, अब क्या था। उस साल वैसे तो वर्षा बहुत अच्छी हुई पर भगवान सत्यदेव की कृपा से मेरे खेतों में एक बूंद भी पानी नहीं बरसा और सारी फसल सूख गई। फसल की रक्षा के लिए खेतों में काग-भगोड़े खड़े करने की भी आवश्यकता नहीं पड़ी। मैं इस हद तक अकिंचन हो गया कि चाहने पर भी सत्यनारायण व्रत-कथा का आयोजन न कर पाता। मेरे मन की असली कामना की तो भगवान सत्यदेव को मैंने भनक भी नहीं पड़ने दी थी। अतः मेरे द्वारा संकल्प पूरा नहीं हुआ यह देखते ही सत्यनारायण कोपायमान हो उठे और अपनी क्रोधाग्नि की उन्होंने मेरे खेतों पर पर्जन्य के रूप में इतनी वर्षा की कि शीघ्र ही खेतों में हरी-भरी फसल लहराने लगी और मेरा घर धन-धान्य से परिपूर्ण हो गया। मनुष्य के कृपा-कटाक्ष की अपेक्षा देवता की वक्रदृष्टि भी हमारे लिए अधिक उपकारक होती है। इसका इससे अच्छा उदाहरण कहां मिलेगा।

प्रेम के क्षेत्र में यशस्वी होने के उस समय के उपाय भी आज के नौजवानों की उछलकूद से कहीं अधिक प्रभावशाली और सरल होते थे। पूर्वकालीन प्रेमपंडितों को वशीकरण के अनेक मंत्रसिद्ध उपाय कंठाग्र थे। उस काल में बालविवाह रूढ़ होने के कारण जौर प्रीतिविवाह का प्रचलन न होने के कारण पति-पत्नी के बीच रूपरंग, आकृति, लंबाई-चौड़ाई, शारीरिक स्वास्थ्य, स्वभाव, ज्ञान, विचारधारा, भावनाएं और मनोविकारों को लेकर अकसर उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव के

जितना अंतर हुआ करता था। कम से कम हमारी पीढ़ी के लोगों को तो इस सत्य को खुले मन से स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। तथापि पुरुष के हाथ में पर्याप्त अधिकार और स्त्री के हिस्से में उतने ही सीमाहीन अज्ञान और परवशता की योजना करके हमारे स्मृतिकारों ने संघर्ष की संभावनाओं को न्यूनतम कर दिया था, जिसके परिणामस्वरूप इन पूरी-गंडेरी जैसे जोड़ों में भी बहुधा निस्वार्थ प्रेम के ही दर्शन होते थे। किन जोड़ों में प्रेमभाव रहने की संभावना अधिक होगी इसकी अटकल लगाने में ज्योतिषशास्त्र भी बहुत सहायक होता था। राक्षसगण की स्त्री का विवाह वह देवगण के पुरुष के साथ कभी नहीं होने देता था। इतनी पक्की मोर्चेबंदी के बावजूद भी वैवाहिक प्रेम के व्यक्त रूप में दर्शन न हों, तो प्रेम का सोता बहाने के लिए वशीकरण का प्रयोग बहुत उपयोगी सिद्ध होता था।

वर्तमान युग में विपुल संतति की कामना कोई नहीं करता। यहां तक कि बांझ स्त्रियां भी पुत्रप्राप्ति के लिए प्राचीन शास्त्रोक्त उपायों का अवलंबन नहीं करतीं। पुत्र के बिना सद्‌गति नहीं होती, यह तत्त्व अतीत के लोगों के मन में इतना पक्का ठंसा हुआ था कि पुत्रप्राप्ति के लिए किए गए किसी भी उपाय को वे त्याज्य नहीं मानते थे और उसके लिए कमर कस कर प्रयत्न करते थे। बांझ स्त्रियों के लिए तो उन दिनों विभिन्न उपाय उपलब्ध थे। दिन में वे पुत्रवती स्त्रियों के घर जाकर पालने की पूजा करती थीं और रात को निर्वस्त्र होकर उनकी देहरी के सामने स्नान करके चौराहे की पूजा करती थीं। पालना, देहरी, तिराहा, चौराहा आदि शीघ्र फलदायक देवताओं को दंभ ओर बाह्य उपकरणों से इतनी चिढ़ थी कि अपने और अपने भक्तों के बीच वस्त्र का झिरझिरा परदा रहे यह भी उन्हें गवारा नहीं था। रात को निर्वस्त्र होकर हनुमानजी के मंदिर की उलटी प्रदक्षिणा करना तो इन सब उपायों का सिरताज माना जाता था। बेचारे बालब्रह्मचारी हनुमान जी की ऐसी कठोर अग्निपरीक्षा क्यों ली जाती थी, कुछ समझ में नहीं आता। पर इतना स्पष्ट है कि इस नग्नकांड से घबरा कर पिंड छुड़ाने के लिए वे शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते होंगे और भक्तिन को पुत्र प्रदान करने की ज़ोरदार सिफारिश सीताराम के दरबार में कर देते होंगे।

अमावस्या की रात को पुत्रवानों के घरों में आग लगा देने से भी अपने घर में कुलदीपक का आविर्भाव किया जा सकता था। आग भड़क कर इर्दगिर्द के

दस बीस घरों को भस्म कर दे तो दूषित हवा को शुद्ध करने का और पुराने मकानों की गंदगी नष्ट करके सार्वजनिक स्वास्थ्य में योगदान देने का श्रेय अनायास ही पल्ले पड़ सकता था। अब यह सही है कि इस प्रकार की आग में दस-बीस आदमियों की आहुति पड़ जाने की भी संभावना रहती थी। परंतु लोकसंख्या को मर्यादित रखने के आधुनिक अर्थशास्त्र के सिद्धांतों को मद्देनजर रखा जाए, तो इसमें कोई खास बुराई दिखाई नहीं देती। कोई भी विचारशील मनुष्य जनसंख्या को सीमित करने के किसी भी ऐसे अमानुषिक प्रयत्न की भर्त्सना करने के बजाय उसकी सैद्धांतिकता के लिए उसकी प्रशंसा ही करेगा। फिर कभी-कभी एक नरश्रेष्ठ के निर्माण या सुरक्षा के लिए सैकड़ों सामान्यजनों का बलिदान नितांत जायज होता है। नेपोलियन जैसे नरपुंगव की रक्षा के लिए जब लाखों लोग अपने प्राण देने के लिए तैयार रहते थे, तो फिर किसी स्वदेशी कुलदीपक की उत्पत्ति के लिए सौ दो-सौ लोग जलकर भस्म हो जाएं, तो इसमें किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। पुत्रप्राप्ति के लिए जलाये गए मकानों में अब तक हजारों लोग जल कर मर गए होंगे। परंतु आज तक किसी ने इसकी शिकायत की हो, ऐसा सुनने में नहीं आया।

पुत्रप्राप्ति का एक अन्य रामबाण उपाय है साधुसंतों की सेवा करना। इस उपाय में साधन-सामग्री की आवश्यकता बिलकुल नहीं पड़ती। केवल एक-निष्ठा से सेवा करना ही पर्याप्त होता है। संतसमागम की महिमा तो ऐसी अगाध है कि तन्मयता से सेवा करने वाली पुत्रेच्छुकाओं को कभी-कभी विवाह से पहले या पतिनिधन के बाद भी पुत्रप्राप्ति होती देखी जाती है। इस विषय का विस्तृत विवेचन हम पहले एक बार कर चुके हैं।

प्राचीन युग के लोगों को जिस प्रकार सुखप्राप्ति के विभिन्न सुगम मार्ग अवगत थे उसी प्रकार शत्रु को हानि पहुंचाने के साधनों में भी उनकी गहरी पैठ थी। अन्य शास्त्रों की तरह हमने शकुनशास्त्र में भी बहुत प्रगति की थी। जम्हाई और छींक, हिचकी और डकार, आंख फड़कना और हथेली खुजाना आदि शारीरिक लक्षणों पर से और बिल्ली द्वारा रास्ता काटा जाना, उल्लू बोलना, छिपकली गिरना आदि पशु-पक्षियों की गतिविधियों द्वारा शुभाशुभ भविष्य की अचूक जानकारी हो सकती थी। ये सारे शकुन स्वाभाविक ढंग से हों, या उन्हें जबरदस्ती करवाया जाए, इससे उनकी प्रभावोत्पादकता में कोई फर्क नहीं पड़ता।

प्राणियों की गतिविधि द्वारा मिलने वाली भावी अनिष्ट की सूचना में तो उस गतिविधि के कृत्रिम होने से रंचमात्र भी फर्क नहीं पड़ता। बिल्ली ने रास्ता अपने आप काटा हो या सामने चूहा रख कर जबरदस्ती कटवाया गया हो, परिणाम दोनों का एक ही निकलेगा। इसी प्रकार छिपकली सिर पर गिरी हो, तो मृत्यु अवश्यंभावी है; फिर चाहे वह पंजों की पकड़ ढीली हो जाने के कारण गिरी हो चाहे किसी ने उसे लकड़ी से खदेड़ कर गिराया हो। दुलहा दुलहन को ब्याहने के लिए घोड़ी पर बैठ कर बाजेगाजे के साथ बारात लेकर निकल रहा हो और सामने से कोई छींक दे, तो इससे बड़ा असगुन तो कोई हो ही नहीं सकता। वह छींक किसी को जुकाम होने की वजह से आयी हो, या सुंघनी सूंघने की वजह से, आदि बातें यहां अप्रस्तुत हैं। शकुनशास्त्र के इन गूढ़ तत्त्वों से एक बार परिचय प्राप्त कर लिया जाए तो आत्मरक्षा का कवच और शत्रु पर हमला करने का अस्त्र, दोनों एकसाथ हाथ में आ जाते हैं।

इन दिनों लोगों का सगुन-असगुन पर से विश्वास उठता जा रहा है, यह बड़े खेद की बात है। उसे फिर से जमाने के लिए यहां स्वानुभव के दो-तीन प्रसंगों का वर्णन करना आवश्यक है। प्लेग के रोगों को अच्छा करने में बड़े-बड़े डाक्टरों को भी सफलता क्यों नहीं मिलती इसका रहस्य बहुत दिनों तक मेरी समझ में नहीं आया था। परंतु एक बार गहन विचार और एकाग्रता से निरीक्षण करते ही बात स्पष्ट हो गई। इस महामारी के आरंभ में चूहों का उत्पात बहुत बढ़ जाता है यह तो सभी जानते हैं। चूहों को पकड़ने के लिए बिल्लियां इधर-उधर मंडराती रहें यह भी उतना ही स्वाभाविक है। प्लेग का आरंभ इसी वातावरण में होता है। शीघ्र ही रोगियों की चिकित्सा के लिए डाक्टरों की दौड़धूप शुरू हो जाती है। इस गड़बड़ी में चूहों का पीछा करने वाली बिल्लियां डाक्टरों का रास्ता काटती रहें, यह अत्यंत स्वाभाविक बात है। अब आप ही बताइए, इस तरह लगातार अपशकुन होता रहने पर डाक्टरों को सफलता कैसे प्राप्त हो सकती है। हमारा विश्वास है कि प्लेग के दिनों में चूहों का संहार करने के बजाय बिल्लियों को नष्ट करने की योजना बनायी जाए तो रोगियों को बचाने में डाक्टरों को बहुत अधिक सफलता मिलने लगेगी।

इसी प्रकार एक बार मुझे जो छिपकली गिरने का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ था, उसका भी यहां उल्लेख कर देना आवश्यक मानता हूं। एक बार मेरे कमरे की

छत की कुछ शहतीरें ढीली हो गई थीं जिन्हें बदलने के लिए राज-मज़दूर आए हुए थे। बल्लियों में छिपकलियों ने घर कर रखे थे। एक दिन दोपहर को एक मज़दूर के सिर पर ऊपर से एक बल्ली आन गिरी जिस पर एक छिपकली चिचिया रही थी। मज़दूर वहीं ठंडा हो गया। किसी भी शकुन की पड़ताल इससे अधिक अकाट्य ढंग से होना संभव नहीं। बल्ली सिर पर गिरने से कोई जीवित बच भी जाए, छिपकली गिरने पर प्राण बचने की कोई संभावना नहीं रहती। इस घटना के बाद छिपकली से तो मुझे मगरमच्छ से भी ज्यादा डर लगने लगा है और मैं उससे यथासंभव बच कर ही रहता हूं।

छींक की परिणामकारकता का तो मुझे कई बार इतना खरा-खरा और प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका है कि उसके संस्कार मेरे मन पर से कभी नहीं मिट सकते। एक बार हमारी मित्रमंडली के शौकिया नाटक-विभाग ने हरिश्चंद्र नाटक खेलने का निश्चय किया। सर्वानुमत से यह तय हुआ कि नवीनता की खातिर नाटक को करुण के बजाय हास्यरस का कर दिया जाए। इस सर्वथा अभिनव प्रयोग के लिए सूत्रधार के रूप में मेरी नियुक्ति हुई। उस दिन मुझे जोरों की सर्दी हो जाने के कारण मैंने सुबह से ही सुंघनी का सेवन आरंभ कर दिया था। नाक में सुंघनी की कई चुटकियां चढ़ा देने पर भी जुकाम नहीं खुला और छींक तो लाख जतन करने पर भी नहीं आई। नाटक आरंभ होने के समय तक तो नाक की हालत बारूद से लबालब भरी हुई बंदूक की तरह हो गई जिसका स्फोट चाहे जब हो सकता था। सुबह से ठूंस-ठूंसकर भरी हुई और अब तक चुपचाप दबी रहने वाली सुंघनी ने ऐन वक्त पर बलवा करने की ठानी। मैंने छींक दबाने के सारे प्रयत्न कर देखे, पर सब व्यर्थ। जिस प्रकार हंसी को दबाने की चाहे जितनी कोशिश की जाए वह फूट-फूटकर बाहर निकलती ही रहती है, उसी प्रकार छींक को दबाने का मैं ज्यों-ज्यों प्रयत्न करता गया, वह नाक के बाहर निकल पड़ने के लिए उतना ही अधिक विप्लव मचाने लगी। आखिर नाटक का परदा बंदूक के फायर के बजाए मेरी पहली छींक के स्फोट द्वारा खुला। दर्शकों को तो क्या, खुद परदा उठाने वाले तक को आखिर तक मालूम नहीं पड़ा कि वह गगनभेदी निनाद फौलाद की नहीं बल्कि हाड़-चाम की बनी हुई दोनाली से बाहर गिरा था। जिन लोगों ने मुझे छींकते हुए देख लिया था उनकी यह धारणा हुई कि इस अत्याधुनिक युग में जिस प्रकार हरिश्चंद्र नाटक के मुख्य रस को करुण के बजाय हास्य में

परिवर्तित किया जा सकता है उसी प्रकार नाटक का आरंभ बंदूक की सलामी के बजाय सूत्रधार की छींक से करने की कोई नई परिपाटी चली होगी। उन्होंने तालियां बजा कर इस अभिनव परंपरा का स्वागत किया। परंतु मेरी छींकों के नक्कारखाने में तालियों की तूती भला कहां तक सुनाई देती। छींकें अनवरत क्रम से जारी रहीं। क्रमशः दर्शकों के चेहरे पर आनंद और कुतूहल के बजाय तिरस्कार के भाव झलकने लगे जो शीघ्र ही घोर अरुचि और भय में परिणत हो गए। छींकों का सिलसिला फिर भी नहीं टूटा। ऐसा मालूम देने लगा जैसे छींकों के स्फोट असंख्य लाठियों का मूर्त रूप धारण करके दर्शकों के कान के परदों की धज्जियां उड़ा रहे हैं। बस, अब क्या था। दर्शकों ने उठकर एकमत से बाहर निकलने के दरवाजे की तरफ पलायन किया और प्रेक्षागार क्षण भर में खाली हो गया। इस प्रकार नाटक के मंगलाचरण को भरतवाक्य का रूप देने वाली प्रेरक शक्ति मेरी अपशकुनी छींक ही थी जिसमें कोई संदेह नहीं रहता। छींक सुंघनी रूपी कृत्रिम उपाय से आई थी, फिर भी उसके अमंगलकारी गुणधर्म में कोई अंतर नहीं पड़ा, यह बात भी इस घटना द्वारा निःसंशय रूप से स्थापित होती है।

शकुनशास्त्र के बड़े से बड़े समर्थक को भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि अपशकुनों द्वारा शत्रु को संकटग्रस्त करने की परोक्ष योजना उसे प्रत्यक्ष हानि पहुंचाने की अपेक्षा कम प्रभावशाली रहती है। इसके अलावा बिल्ली हो या छिपकली, हैं तो दोनों बुद्धिहीन प्राणी। अपनी किस महत्त्वपूर्ण अभियान पर नियुक्ति हुई है इसका उन्हें अकसर एहसास नहीं होता जिसके परिणामस्वरूप उनके द्वारा कभी-कभी योजक की ही हानि होने की संभावना रहती है। बिल्ली को हमारे शत्रुओं का रास्ता काटने को प्रवृत्त करने के लिए अकसर उकसाना पड़ता है। इससे चकराकर कभी-कभी वह शत्रु के बजाय हमारा ही रास्ता काट देती है और हमारी सारी योजना धूल में मिल जाती है। छिपकली को लेकर तो एक बार मुझे ऐसा भयानक अनुभव हुआ था कि अब उसकी सहायता लेने से पहले मैं दस बार विचार करता हूं। एक बार बंडूनाना और मैं भोजनोत्तर गपशप करते हुए बैठे थे। पास ही हमारे एक सुधारक संप्रदाय के संबंधी मुंह बाए सो रहे थे। कुछ देर पहले ही वे पल्लिकापतन के शास्त्रोक्त परिणामों को महज पोंगापंथी अंधविश्वास बता कर हमसे बहस कर चुके थे। हमने सोचा कि उन्हें प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ऐसा सबक सिखाया जाए कि जीवन भर न भूलें।

दूसरी ओर शास्त्रोक्त सिद्धांतों को पड़ताल कर देखने की जिज्ञासा मुझे शुरू से ही रही है। अतः हमारे इस प्रयोग से उनकी अकल ठिकाने आने के साथ-साथ हमारा भी कुछ फायदा होने की संभावना थी। कुछ देर प्रतीक्षा करने के बाद एक छिपकली ठीक उनके सिर के ऊपर वाली शहतीर पर रेंगती हुई दिखाई दी। मैंने उसे छड़ी से उकसा कर उनके सिर पर गिराना चाहा। पर इससे घबरा कर वह नीचे गिरने के बजाए इधर-उधर भागने लगी और फिर ठीक मेरे सिर पर आकर गिरी। सिर पर गाज गिरी होती तो भी मुझे इतना आघात न लगा होता। डर के मारे मैंने आंखें बंद कर लीं। कुछ देर बाद, मैं जीवित हूं या मर चुका इसकी टोह लेने के लिए आंखें अधखुली करके देखा। लक्षण तो सब जीवित होने के दिखाई दिए। बंडूनाना सामने बैठे हुए एक बिल्ली को गोद में लिए उसकी पीठ सहला रहे थे। मुझे आंखें खोलता देख कर कहने लगे, "भाई सुदामा, आज तो इस बिल्ली ने ही तुम्हारे प्राण बचाए। तुम्हारे सिर पर छिपकली गिरने ही वाली थी कि मुझे न मालूम कैसे सुबुद्धि सूझी और मैंने इस बिल्ली को तुम दोनों के बीच में फेंका। बिल्ली द्वारा रास्ता काटा जाने के कारण ही तुम्हारा शरीरांत करने का दुष्ट छिपकली का हेतु सफल नहीं हुआ।" यह जो कुछ भी हुआ हो, मेरे उपर आया हुआ प्राणसंकट अकल्प्य रीति से टल गया था और मुझे छिपकली और बिल्ली, दोनों की अपशकुनकारी शक्तियों का अकाट्य प्रमाण मिल चुका था।

शत्रु को हानि पहुंचाने के ये सारे मार्ग प्राचीन काल में राजमान्य हुआ करते थे। मारण का प्रयोग करके दुश्मन के पेट में शूल उत्पन्न करना; उसकी देह में दाह फैलाना; उसके भोजन में जहर मिलाना आदि लीलाएं उस काल में जायज़ और न्यायसंगत मानी जाती थीं। चावल या उड़द की सहायता से मूठ मार कर शत्रु के प्राण लेने की कला कुछ अधिक जटिल थी। यह साधारण मांत्रिकों का काम नहीं था। आधे रास्ते तक पहुंचने के बाद मूठ बीच में से ही लौटा दी जाए तो वह चलाने वाले के ही प्राण ले लेती है। अतः उसके प्रयोग के लिए उच्चकोटि की तांत्रिक योग्यता की आवश्यकता पड़ती थी। शास्त्रोक्त पद्धति से चलाई जाने पर वह शत्रु के शरीर में असंख्य सुइयां चुभने की वेदना उत्पन्न करके और खून की उलटियां करा के क्षणार्ध में उसके प्राण ले सकती थी। जौ, चावल, तिल या उड़द जैसी सामान्य चीजों में उस जमाने में न केवल पोषक शक्ति ही आज

की अपेक्षा कहीं अधिक थी, बल्कि आवश्यकता पड़ने पर वे घातक सामर्थ्य का प्रमाण भी दे सकती थीं। उपरोक्त मारण प्रयोगों को उस जमाने की दंडसंहिताओं के अनुसार भयानक जुर्म माना जाता था और अपराध की जघन्यता के अनुसार उन्हें दंड भी मिलता था। आज के नास्तिक युग में जब लोगों का मंत्र-तंत्र पर विश्वास ही नहीं रहा, तो उनका जाब्ता-फौजदारी में समावेश होने का सवाल ही कहां उठता है।

प्राचीन युग में ग्रहण के दिन गंगा किनारे मंत्र जाप करने वालों की बड़ी भीड़ लगा करती थी। श्रद्धालु लोग बेचारे सूर्य-चंद्र पर आये हुए संकट का निवारण करने के लिए गायत्री मंत्र जपते थे और भिखमंगे लोगों को दान करने का आवाहन करके मनों नाज इकट्ठा कर लेते थे। आखिर इन दोनों वर्गों के संयुक्त प्रयत्नों से सूर्य-चंद्र का ग्रहण से छुटकारा होता था। इनके अलावा एक तीसरा वर्ग भी ग्रहण के दिन बहुत व्यस्त रहता था। बिच्छू, सांप, जूड़ी, मूठ, वशीकरण या उच्चाटन से संबंधित टोने-टोटकों का जनकल्याणार्थ प्रयोग करने वाले मांत्रिक भी ग्रहों पर आए हुए संकट की बहती गंगा में हाथ धो लेते थे।

आज के युग में उपरोक्त विभिन्न उपायों का किसी महत्कार्य में सामूहिक प्रयोग किया जा सके तो समाज पर बेहद उपकार हो सकता है। वर्तमान महायुद्ध का ही उदाहरण ले लीजिए। चार-पांच साल से पृथ्वी के अधिकांश युयुत्सु राष्ट्र अपनी सेनाओं को चौखंड में घुमा रहे हैं। मछलियों की तरह उनके जहाज समुद्रों में संचार कर रहे हैं और टिड्डियों के दल की तरह वायुयान आकाश में मंडरा रहे हैं। सैकड़ों विमान चकनाचूर हो गए, हजारों जहाजों को जलसमाधि मिली, लाखों सैनिक मारे गए और अनगिनत परिवार बेसहारा हो गए तब कहीं जाकर मित्रराष्ट्रों को विजयश्री प्राप्त हुई। हमारे पुराणों में वर्णित अग्नि, वायु, पर्जन्य, निद्रा आदि अस्त्रों की उन्हें जानकारी होती तो शत्रु का नामोनिशान मिटाने में पांच साल तो क्या पांच मिनट भी न लगे होते। कोई कह सकता है कि द्वापर-युग के ये अस्त्र कलियुग में कैसे प्रभावी हो सकते थे? ठीक है। परंतु वे सफल न होते तो भी घबराने की कोई बात नहीं थी। उनके ही जितनी अचूक कार्यक्षमता वाले मारण, उच्चाटन आदि अन्य मंत्रसिद्ध उपाय भी तो उपलब्ध थे। फलित ज्योतिष और शकुन जैसे साधन भी कम कारगर न रहे होते। हम तो कहते हैं कि अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। भविष्य में कभी आवश्यकता पड़ने पर इन साधनों

का प्रयोग कब, कहां और कैसे किया जाए, इसका संक्षिप्त विवेचन इसीलिए आवश्यक है ताकि बाद में हाथ मलने की नौबत न आए।

मूठ का प्रयोग राजा पर नहीं हो सकता ऐसा नियम होने के कारण इस काम को शकुन-अपशकुन आदि क्षुद्र उपायों से ही सिद्ध करना होगा। इसके लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि युद्ध के सरंजाम में रसद, रिसाला, तोपखाना, पैदल, घुड़सवार आदि विभागों के साथ-साथ एक अपशकुन विभाग का भी निर्माण होना चाहिए। इसे विधवा-विभाग, बिल्ली-छिपकली विभाग, छींक-वाम-नेत्र स्फुरण विभाग आदि उपविभागों में बांटा जा सकता है। विधवा-विभाग के अध्यक्ष के रूप में किसी पंडे-पुरोहित की और प्राणी-विभाग के संचालक-पद पर सरकस के अवकाशप्राप्त लोगों की नियुक्ति हो सकती है। सैनिकों की जिस प्रकार कवायद होती है उसी प्रकार विधवाओं और बिल्ली-छिपकलियों की भी नियमित परेड होनी चाहिए। फलित ज्योतिष विभाग के अंतर्गत रमल, सामुद्रिक, हस्तरेखा आदि उपविभागों का समावेश किया जा सकता है और उनके संचालन के लिए अनुभवी भिक्षुकों की नियुक्ति की जा सकती है।

आप पूछेंगे कि ऐसी सर्वांगसुंदर योजना को मैंने युद्ध से पहले प्रकाशित क्यों नहीं किया। इसका मेरे पास सबल कारण है। वर्तमान महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों की सरकारों को इस योजना का लाभ मिले इस सद्हेतू से प्रेरित होकर मैंने उसे तरतीबवार लिखा और डाक से भेजने का निश्चय किया। लेकिन चिट्ठी डालने के लिए डाकखाने जा रहा था कि बिल्ली ने रास्ता काट दिया। अशुभ परिणाम से डर कर मैंने चिट्ठी भेजने का विचार छोड़ दिया और वह जेब में ही रह गयी। परिणाम यह निकला कि महायुद्ध आवश्यकता से अधिक अवधि तक चलता रहा और मुझे यह सब हाथ पर हाथ धरे देखते रहना पड़ा। आखिर विधि के विधान को कौन टाल सकता है। मेरे जैसे साधारण मनुष्य के प्रयत्नों से लाखों लोगों के भाग्य को कैसे बदला जा सकता था?

31. हमारे शहर में पानी का अकाल

अत्यंत उपयोगी पदार्थ भी पर्याप्त माता में उपलब्ध हों, तो उनका महत्त्व कम हो जाता है। सृष्टि में चेतना उत्पन्न करने वाली सूरज की किरणें या उन्हें हम तक पहुंचाने वाली हवा भी हमें बेशकीमती मालूम नहीं देती। हवा और पानी का बेहिसाब खर्च करने के आदी होने के कारण हम यदा-कदा आबहवा की चर्चा अवश्य कर लेते हैं; पर वह केवल औपचारिक ही होती है। मिट्टी का तो कोई मोल ही नहीं होता। यहां तक कि मुहावरों में निर्माल्य वस्तु की तुलना मिट्टी के साथ ही की जाती है। परंतु इन अत्यावश्यक पर विराट महाभूतों में से किसी की भी कमी हो जाए, तो हमारी पूरी चेतना उसके अभाव की ओर सतर्क हो उठती है।

भारत में सूर्यकिरणों को तुच्छ मानने वाला यात्री इंग्लैंड पहुंचकर उनके कृपा-कटाक्ष की बाट जोहने लगता है। भूतल पर मुफ्त मिलने वाली हवा का यथेच्छ सेवन करके भी उसकी अवहेलना करने वाले कृतघ्न मनुष्य की पर्वत के शिखर पर पहुंच कर उसकी विरलता के कारण सांस उखड़ने लगती है। पानी की इफ़रात वाले प्रदेशों में केवल आंखों को सुख पहुंचाने के लिए फव्वारे चलाने वाले विलासी की सहारा के रेगिस्तान में मृगमरीचिका के पीछे भटक कर पानी के एक बूंद के अभाव में प्राणत्याग करने की नौबत आ सकती है। गांवों में मिट्टी को शब्दशः मिट्टीमोल समझने वाले खुली जगह का मनमाना उपयोग करने वाले ग्रामीण को जब बड़े शहरों में मुट्ठी भर मिट्टी के दाम चुकाने पड़ते हैं या साढ़े-तीन हाथ की देह को टिकाने जितनी जगह प्राप्त करने के लिए लोहे के चने चबाने पड़ते हैं, तब कहीं धरतीमाता का खरा मोल उसकी समझ में आता है।

हमारे शहर में पहले तो घर-घर में कुएं थे। परंतु कुछ वर्ष पहले नगरपालिका की स्थापना हो जाने के कारण अब पास के तालाब में संचित पानी को नलों की

सहायता से घर-घर पहुंचाने की व्यवस्था हो गई है और कुओं के पानी से सार्वजनीन स्वास्थ्य को हानि पहुंचती है, यह कारण बताकर उन्हें पाट दिया गया है। दो-चार बड़े कुएं उनके मालिकों के दुराग्रह के कारण खुले रह गए थे। परंतु उन लोगों को भी नलों द्वारा प्रचुर पानी उपलब्ध होने के कारण कुओं का विशेष उपयोग नहीं हुआ। शीघ्र ही उनके पानी पर काई जमने लगी और उसे घिनौना हरा रंग प्राप्त होकर उसकी सड़ांध से लोगों की नाक फटने लगीं।

इधर चार-पांच वर्ष से हमारे इलाके में वर्षा का परिमाण उत्तरोत्तर कम होता गया है। पिछले दो बरस से तो पर्जन्य देवता ने हमारी ओर से मानो मुंह ही फेर लिया है। पूरा चौमासा, एकाध दिन की झड़ी और दो चार बार की बूंदाबांदी में ही बीतने लगा है। यह अपर्याप्त बरखा योग्य समय पर हो जाने के कारण फसल पर तो अभी कोई अनिष्ट प्रभाव नहीं पड़ा, पर शहरों में पानी की कमी महसूस होने लगी है। हमारे मुंह का कौर तो अभी तक नहीं छिना, पर पानी के घूंट को तरसने की नौबत बेशक आ गई है। इस लगातार सूखे का पिछले साल तालाब पर भी प्रभाव पड़ा और पानी की सतह तपेदिक के मरीज की आंखों की तरह उत्तरोत्तर गहरी धंसती गई। शीघ्र ही यह नौबत आयी कि यंत्रों की सहायता के बिना पानी नलों में चढ़ना बंद हो गया। तुरंत पंप लगवाये गए, पर कुछ दिनों बाद उनकी कार्य क्षमता भी समाप्त हो गई। बात इस हद तक बढ़ जाने के बाद लोगों की नजर पानी के अन्य स्रोतों की तरफ जाने लगी। सबसे पहले कुओं का खयाल आया। शहर में काई वाले और बंधे हुए पानी के कारण त्याज्य समझे जाने वाले जो दस-पांच कुएं थे उन पर लोग टूट पड़े।

इन कुओं में अभी काफी पानी शेष था यह देखकर सबको बड़ा आनंद हुआ। पानी का उपसिंचन होकर काई और बदबू दूर हो जाए उससे पहले ही कुओं पर लोगों की भीड़ जमने लगी। पनिहारों के कलशे-मटके और पानी खींचने के लिए लपेटी हुई रस्सियों से घिरी कुओं की जगत मुंडमाला और सर्पाभूषणों से सज्जित भगवान शंकर के गले की तरह शोभायमान होने लगी। भीड़ में होने वाला लड़ाई-झगड़ा और कोलाहल भगवान भूतनाथ के गणों की बारात का दृश्य उपस्थित करने लगा।

परंतु शहर भर की भीड़ उमड़ने लगे, तो पांच-सात कुओं से भला कब तक निर्वाह हो सकता है। धीरे-धीरे कुओं का पानी समाप्त होने लगा। अब पाटे हुए

अन्य कुएं खोलने की नौबत आयी। उनसे कुछ दिनों तक पानी की मांग तिहाई-चौथाई पूरी होती रही। पर जोरदार वर्षा के अभाव में यह व्यवस्था भी अधिक दिनों तक चलने वाली नहीं थी। जोरों की बरखा होकर तालाब लबालब भर जाएं तो ही इन ओछी पूंजी वाले कृपण जलाशयों की खुशामद से लोगों का छुटकारा हो सकता था।

आखिर फिर वर्षा ऋतु आयी। आकाश में बादल दिखाई देने लगे। परंतु अब की बार न तो उन्होंने गर्जना ही की और न घनश्याम रंग ही धारणा किया। हमारी भयचकित मुद्राओं को देखकर उन्होंने शायद सोचा होगा कि इन घबराये हुए लोगों को नाहक गरज-गरज कर और क्यों डराया जाए। लोगों के झुंड जगह-जगह खड़े बादलों की ओर ललचायी हुई नजर से देखते रहते और साहित्यकार 'धूमः ज्योतिः सलिल मरुताम् सन्निपातः' आदि कालीदास प्रणीत प्रशस्तियों से उनका स्वागत करते। पर उन निष्ठुरों ने किसी की ओर मुड़कर भी न देखा जैसे हमारे साथ उनका कोई नाता-रिश्ता ही न हो। जब प्रेम और खुशामद का मार्ग कारगर नहीं हुआ तो हमने उन्हें चिढ़ाने की सोची और 'इन बादलों में पानी ही नहीं।' 'यह बेचारे भला क्या बरसेंगे।'—आदि तिरस्कार-व्यंजक वचन उन्हें सुनाये जाने लगे। सोचा था कि इससे उनके आत्मसम्मान को ठेस लगेगी और वे शत-धाराओं से बरसकर हमें झूठा प्रमाणित कर देंगे। पर वे भी कच्ची मिट्टी के या कच्चे धुएं के बने हुए नहीं थे। हमारी व्यंग्योक्तियों की ओर उन्होंने कोई ध्यान ही नहीं दिया और हमें कोरा छोड़कर वे हमारे सिर पर से गुजर गए।

आकाश मार्ग से पानी प्राप्त होने की संभावना ज्यों-ज्यों कम होती गयी त्यों-त्यों भूमिगत पानी की ओर लोगों का मोर्चा मुड़ता रहा। जिन कुओं का पानी गहरा उतर गया था उन्हें और भी गहराई तक खोदा गया। पर पानी के सोते दिखाई नहीं दिये। 'पानी कुएं में ही नहीं होगा तो हौज में कहां से आयेगा' वाली कहावत में एक चरण और जोड़ा जा सकता है कि 'सोतों में ही नहीं होगा तो कुएं में कहां से आएगा।' खुदाई करते-करते चट्टान आती तो उसे सुरंग लगाकर उड़ा दिया जाता। पर इससे चट्टान के टुकड़े होने के बजाय लोगों की खोपड़ियां फूटने लगीं। इतना सब होकर कभी चट्टान फूटती भी तो वह नये सोते बहाने के बजाय बहते हुए सोतों को भी रूंध देती। यह इस संसार का नियम ही है कि

भाग्यहीन आदमी अनुकूल साधनों का आश्रय ले तो भी परिणाम प्रतिकूल ही निकलता है।

हमारे बंडूनाना की अन्वेषक बुद्धि का शहर भर में बोलबाला होने के कारण अंत में कृत्रिम उपायों से पानी उत्पन्न करने की जिम्मेदारी उन्हीं के कंधों पर पड़ी। उन्होंने अपने हमेशा के उत्साह के अनुरूप इस काम में भी तन-मन-धन जुटा दिया। प्राणवायु और जलवायु का योग्य अनुपात में मिश्रण करने से पानी तैयार होता है यह बात तो स्कूल में पढ़ने वाला हर बच्चा जानता है। उन्होंने इसी रासायनिक प्रक्रिया का सहारा लिया। परंतु इतनी सब उछलकूद के बाद तैयार होने वाले पानी की तादाद इतनी कम होती थी कि चिड़िया की प्यास भी मुश्किल से बुझे। इसके अलावा यह कृत्रिम पानी इतना बेस्वाद होता था कि श्रावणी के दिन पंचगव्य के बजाय उससे आचमन करने की छूट दी जाती तो भी कोई उसके लिए तैयार न होता। इसके उपरांत इन प्रयोगों के दरमियान कांच के बर्तन इतनी अधिक संख्या में टूटने लगे और रासायनिक द्रव्यों पर इतना अधिक रुपया खर्च होने लगा कि हार कर यह विचार छोड़ देना पड़ा। सब की यही राय हुई कि इतना खर्च करने पर तो अन्य मार्गों से यथेष्ठ पानी प्राप्त किया जा सकता है।

नाना द्वारा आजमाई गयी दूसरी युक्ति थी तोप चलाकर बादलों को आकृष्ट करने की। इसके लिए उन्होंने पहले तो शहर के सब से अधिक कुशल लोहार से एक विशाल तोप ढलवाई और फिर शोरा, गंधक आदि द्रव्य एकत्रित करके बारूद और गोलों का कारखाना शुरू किया। इस सारी तैयारी के बाद बारूद समाप्त होने तक सैकड़ों बार तोप दागी गई। परंतु तोप की गर्जना की प्रतिध्वनि करने के लिए इलाके भर के बादलों को सदलबल यहां एकत्रित होना चाहिए इस (नाना के मतानुसार) वैज्ञानिक नियम की बादलों को जानकारी न होने के कारण उनका छोटा सा टुकड़ा भी हमारे नगर की दशा में नहीं फटका। और जब बादल ही न घिरें, तो वर्षा भला हो ही कैसे सकती है।

इस प्रकार सारे भौतिक उपाय असफल हो जाने पर अब देवी उपायों को आजमाने का निश्चय किया गया। लगातार अकाल पड़ने पर पानी बरसाने का रामबाण उपाय हमारे यहां यह माना जाता है कि शहर भर की देवी-देवताओं की मूर्तियां एकत्र करके उन्हें कुएं के पानी में उलटे मुंह लटका दिया जाए। इससे

देवताओं की अकल ठिकाने आकर बरखा होने की पूरी संभावना रहती है। परंतु इन दिनों कुओं का पानी इतना गहरा उतर गया था कि किसी भी तरह मूर्तियां बांधे हुए रहट की डूबने की संभावना नहीं थी। इस हालत में देवी-देवताओं को कुएं में उतारा भी जाता तो वे सूखे कपड़ों और कोरे अंतःकरण से बाहर आ जाते। और यदि कोई रहट पानी की सतह तक पहुंच भी जाता तो एक और खतरा था। सुरंग के स्फोट हो-होकर कुओं में चट्टानों के ढेर लग गये थे। उनसे टकरा कर रहट कहीं उलटा हो जाता तो समस्त देवजाति को सदा के लिए जलसमाधि मिल जाने की संभावना थी। देवताओं की अकल ठिकाने लाने के लिए उन्हें कुछ दिनों के लिए कुएं में उलटा लटका देना अलग बात थी। पर उन्हें हमेशा के लिए खो बैठना तो बड़े घाटे का सौदा था। मूर्तियां इतने कीमती वस्त्राभूषणों से सजी हुई थीं कि उनके स्थाई वियोग का खतरा मोल लेने के लिए एक भी भक्त तैयार न होता।

पर्जन्यवृष्टि का यह रामबाण उपाय भी अनुपयोगी सिद्ध हो जाने पर कुछ अन्य उपाय किए गए। लक्ष्मीनारायण मंदिर में सप्ताह भर तक अखंड भजन-कीर्तन, शिवालय की पिंडी पर अविराम जलाभिषेक और देवी के मंदिर में शत-चंडी यज्ञ का आयोजन किया गया। भजन करने वाले भक्तों और यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों के गले सूख कर पूजापाठ में विघ्न न पड़े और अभिषेक की धारा अखंड बहती रहे इसलिए तीनों मंदिरों में पानी का विपुल परिमाण में प्रबंध किया गया। जो पानी खर्च हो रहा है उससे अनेक गुना इन अनुष्ठानों के पूरा हो जाने पर मिल जाएगा ऐसा सभी को विश्वास होने के कारण किसी ने इस फजूलखर्ची का विरोध नहीं किया। भजन मंडली ने पहले ही दिन से झांझ-करतालों और मृदंग-ढोलकों की सहायता से कुछ ऐसा भीषण निनाद किया कि भगवान नारायण को क्षीरसागर में भी सुनाई दिया होगा। जिस मंदिर में यह आयोजन किया गया था उसके इर्द-गिर्द के मकानों में रहने वाले आधे लोग तो पहले ही दिन घर छोड़कर भाग गए। बचे हुए लोगों के कान बाहर से तो सलामत रहे पर भजन घोष से कानों के परदे फट जाने के कारण वे जन्मभर के लिए बहरे हो गये। एक आदमी जन्मजात बहरा था। उसके कानों के छिद्र खुलकर उसे साफ सुनाई देने लगा। कीर्तननाद से परदे फटकर कान कहीं फिर निकम्मे न हो जाएं इस भय से उसने भी घर छोड़कर पलायन किया। कई लोगों को उन्हीं दिनों से सिरदर्द की

ऐसी व्याधि लगी जो आज़ तक कायम है। बचे हुए लोगों ने दूरअंदेशी से कानों में रूई के फाये ठूंस लिए थे इसलिए उनके कान सलामत बच गए। अनुष्ठान निर्विघ्न रूप से पूरा हो जाने पर इस मुहल्ले के लोगों को शहर के अन्य लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक राहत महसूस हुई। शाम को यज्ञ और अभिषेक की भी समाप्ति हो गई और दूसरे दिन बड़ी धूमधाम से पारण समारंभ भी पूरा हो गया।

अनुष्ठान का पारण और यज्ञ की पूर्णाहुति होते न होते बूंदाबांदी शुरू हो गई जो कोई घंटे भर तक चलती रही। इससे वैसे तो सड़कें भी गीली नहीं हुईं पर लोगों ने इसे आगामी महावृष्टि की पूर्व सूचना मानकर उसका बड़े उत्साह से स्वागत किया। शीघ्र ही नागरिकों की एक सभा बुलाई गई जिससे भजन-कीर्तन और यज्ञ-अभिषेक में भाग लेने वालों का आभार माना गया। उनमें से प्रत्येक को योग्यतानुसार शुकपाठवीर, अभिषेक धारासागर, भजन वाचस्पति, कीर्तन-मार्तंड, मृदंग पंचानन, खरग्रीवाचार्य, अंगविक्षेप शिरोमणि आदि पदवियां देना भी तय हुआ। परंतु इन पदवियों के लिए अपनी-अपनी योग्यता के आग्रह को लेकर उन लोगों में आपस में ऐसा फसाद खड़ा हुआ और तू-तू मैं-मैं की ऐसी झड़ी लगी कि पदवीदान समारंभ किसी और दिन के लिए स्थगित कर दिया गया। लेकिन दूसरे ही दिन से पानी का दुर्भिक्ष इतना भीषण हो गया कि सभा में अनुष्ठान-मंडली को धन्यवाद देने के बजाए अभिषेक और यज्ञादि में बेहिसाब पानी खर्च करने के लिए उनकी भर्त्सना करने वाला प्रस्ताव पारित हुआ। लोकमत की हवा कितनी जल्दी रुख बदलती है इसका इससे अच्छा उदाहरण कहां मिलेगा।

कुओं का बचाखुचा पानी ज्यों-ज्यों समाप्त होने लगा त्यों-त्यों पानी का खर्च और भी कम होता गया। गारा बनाने के लिए पानी न मिलने के कारण मकान बनाने का काम बिलकुल ठप हो गया। पानी के अभाव में पेड़-पौधे और बाग-बगीचे सूख गए। छिड़काव करने के लिए और सड़क कूटने वाले भाप के इंजन को चलाने के लिए पानी न मिलने के कारण सड़कें खराब हो गईं। घरों में धोना बुहारना और बर्तनों को मांजकर चमकाना आदि गृहकार्य बंद हो गए। दैनिक स्नान साप्ताहिक कर्मों की श्रेणी में पहुंच गया और लोग केवल हजामत बनवाने के दिन ही स्नान करने लगे। कभी-कभी तो नाई की कटोरी भर भी पानी न मिलने के कारण क्षौरकर्म साप्ताहिक से पाक्षिक और फिर धीरे-धीरे मासिक कर्म हो गया। ब्राह्मण आदि जिन वर्गों को रोज स्नान करना पड़ता था, उनकी

स्थिति भी कुछ अधिक संतोषजनक नहीं रही। स्नान के लिए मिलने वाला दो-लोटे पानी कुओं के तले का होने के कारण उस स्नान को शुद्धोदक स्नान के बजाय पंकस्नान की संज्ञा देना ही अधिक उचित रहा। स्नान से शुचिर्भूत होने वाले ब्राह्मणों के और महीनों तक स्नान-संस्कार का योग न मिलने वाले अघोरियों के चेहरे-मोहरे में कोई विशेष अंतर दिखाई नहीं देता था। स्थिति कुछ और बिगड़ने पर तीन-तीन, चार-चार ब्राह्मण ऊपर नीचे सीढ़ियों पर बैठकर एक साथ स्नान करने लगे। ऊपर से नीचे बहता हुआ एक ही लोटा पानी चारों को स्नान करवा देता था। धीरे-धीरे मुखमार्जन और पादप्रक्षालन की भी छुट्टी हो गई। तर्पण में कुछ छींटों से ही काम चलने लगा; शुद्धोदक स्नान अक्षतों द्वारा पूरा होने लगा और आचमन, पर्युक्षण, एवं परिस्तरण आदि संकल्प पानी की सहायता के बिना, उच्चारण मात्र से सिद्ध होने लगे। और तो और ब्राह्मणों को दक्षिणा भी रुपए को पानी में भिगोयें बिना ही दी जाने लगी। आखिर-आखिर में तो पूजा के बर्तनों का मंजना भी बंद हो गया। ऐसी भयानक तंगी के समय हुक्के-गुड़गुड़ी आदि पानी के बल चलने वाले विलासी उपकरणों का उपयोग बिलकुल बंद हो गया हो, यह बिना बताये समझ में आने वाली बात है।

यह रोज के अनुभव की बात है कि जिस चीज की कमी होती है या जिसके मिलने में कठिनाई होती है, साधारण लोगों की नजरों में उसका आकर्षण बहुत बढ़ जाता है। इस नियमानुसार पानी की ज्यों-ज्यों कमी होती गई त्यों-त्यों हुक्के और गुड़गुड़ी के साथ-साथ बीड़ी, भांग, गांजा, शराब आदि व्यसन भी कम होकर लोगों में पानी का शौक बढ़ने लगा। किसी भी व्यसन की खासियत यह होती है कि उसे अकसर लोगों की नजरें बचा कर पूरा किया जाता है। शहर भर में पानी की ऐसी भयानक तंगी होने पर भी पानी के जाम चढ़ाने वाले लोगों को संकोच तो बहुत होता था; पर क्या करें, आदत से लाचारी थी। कोई उन्हें पानी पीते देख लेता, तो वे सच कहने के बजाय झूठ बोल कर सफाई देते : "कुछ नहीं···यों ही जरा दो घूंट शराब पी रहा था।" मद्यपान की तरह जल सेवन से भी लोगों पर नशा चढ़ने लगा। पीने वालों की सुविधा के लिए जगह-जगह पानी के अड्डे खुलने लगे और इन जलशालाओं में पियक्कड़ों की भीड़ जमने लगी। इनमें कुछ ईमानदार ठेकेदार तो विशुद्ध पानी बेचते थे जबकि कुछ बेईमान लोग उसमें आधे से ज्यादा दूध मिला देते थे। बात भी ठीक थी। दूध का भाव था दो

आने सेर जबकि पानी आठ आने सेर भी मिलना मुश्किल था।

नहाने के लिए पानी मिलना बिलकुल ही बंद हो जाने पर कुछ नागरिक स्नान के लिए इर्द-गिर्द के गांवों में जाने लगे। शहर से कोस दो-कोस के अंतर पर कई गांव बसे हुए थे जिनके कुओं में अब तक कमर भर पानी मौजूद था। नागरिक सुबह ही वहां पहुंचकर घंटों तक नहाने लगे और जलक्रीडा करके पानी को पीने के लिए अयोग्य करने लगे। शीघ्र ही शहर में पानी पीने के लिए भी मिलना मुश्किल हो गया और गांवों के कुएं भी सूखते चले गए। अब केवल भोजनोपरांत तृषा का निवारण करने के लिए ही लोग उन कुओं का आश्रय लेते थे। नहाना-धोना अपने-आप बंद हो गया। परंतु सुबह-शाम दोनों समय प्यास बुझाने के लिए इतना लंबा चक्कर काटने में लोगों के दो-दो तीन-तीन घंटे खर्च होने लगे जिससे उनके दैनिक व्यवहार में बड़ी हानि पहुंचने लगी। इसके अलावा दो बार के आने-जाने में जितना पानी पेट में पहुंचता था उससे कहीं अधिक पसीने के रूप में बाहर निकल जाता था। अतः अब गाड़ियों में जाने का निश्चय किया गया और यह काम कई दिनों तक चलता रहा। आरंभ में तो गांवों के लोगों को इससे विशेष आश्चर्य नहीं हुआ। परंतु जब लंबे समय तक इसकी पुनरावृत्ति होती रही तो गांव वालों के मन में शंका-कुशंका उठने लगी। इतने लोग इतनी इतनी दूर से केवल प्यास बुझाने के लिए गांव में आते होंगे यह बात उनकी दहकान बुद्धि को पटी नहीं। योगायोग की बात कि उन्हीं दिनों किसी गांव में डाका पड़ गया। अब गांव वालों के मन में आगंतुकों के आने के प्रयोजन के संबंध में कोई शंका न रही। दूसरे दिन जब हम लोग वहां पहुंचे तो पुलिस का दस्ता हमारे स्वागत के लिए तैयार था। उसे देखकर हमारी प्यास बिना पानी के ही बुझ गई और हमने गाड़ियां वापस मोड़ लीं। परंतु हमें वापस जाने की जितनी आतुरता थी उतनी पुलिस को हमें जाने देने की नहीं थी। उन्होंने सबको गिरफ्तार कर लिया और बयान वगैरह में पूरा दिन निकाल दिया। अंत में काफी जांच-पड़ताल के बाद जब उन्हें विश्वास हो गया कि पिछली रात के डाके से हम लोगों का कोई संबंध नहीं है, तब कहीं हमारा छुटकारा हुआ।

इसी प्रकार नागरिकों की एक और मंडली प्यास बुझाने के लिए किसी अन्य गांव में पहुंची तब वहां पर ज़िले के गोरे हाकिम दौरे पर आए हुए थे। साहब के पड़ाव के लिए तंबू-डेरे ठोंकना ज़रूरी था, पर गांव के मुखिया के पास आदमियों

की कमी थी। इतने में ही पिपासु नागरिकों की यह मंडली वहां पहुंची। मुखिया को मानो चारों पदार्थ मिल गए। शहर के इन तमाम सफेदपोशों को बेगार में पकड़ लिया गया और खेमों के खूंटे गाड़ने के काम में जोत दिया गया। चार घंटों तक तंबू-डेरे, खूंटे और डोरियों में उलझे रहने के बाद कहीं छुटकारा हुआ। इतना होकर भी उन्हें सूखे गलों से वापस लौटना पड़ा क्योंकि कुओं से पानी खींचने के लिए जो डोरियां वे साथ ले गए थे वे गड़बड़ी में तंबुओं के खूंटे बांधने के काम में आ गई थीं। मुखिया से रस्सी मांगी जा सकती थी; पर इसमें खतरा था। किसे मालूम, किसी अन्य बड़े अफसर के आगमन की सूचना आ जाए और उन्हें फिर से बेगार में जोत दिया जाए। ऐसा दूर का विचार करके और गांव के लोगों को फिर कभी अपनी उपस्थिति का लाभ न देने का पक्का निश्चय करके लोग सूखे-मुंह घर लौट आए।

इसके बाद कुछ दिनों तक लोगों को भोजनोत्तर प्यास लगना ही बंद हो गया। परंतु पानी का अकाल ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, उन्हें अपना अल्प संतुष्ट स्वभाव बनाये रखना भारी पड़ने लगा। शीघ्र ही पांच-छह कोस दूर की एक नदी से बैलगाड़ियों द्वारा पानी मंगवाने की योजना बनी। बीस-पचीस गाड़ियों की कतार सुबह जाकर शाम को लौट आती। पहले दिन पानी मंगवाने के लिए जो कनस्तर भेजे गये थे वे पुराने और छेद वाले होने के कारण जैसे गये थे वैसे ही वापस लौट आये। किसी में एक बूंद भी पानी नहीं। आते समय उन्होंने सड़क को छिड़काव द्वारा बेशक कुछ गीला कर दिया होगा; परंतु इससे प्यासे लोगों का समाधान होना संभव नहीं था। दूसरे दिन नये, कोरे डिब्बे भेजे गए। परंतु वे भी उसी तरह शुष्क और खाली वापस आये। पूछने पर मालूम हुआ कि लौटते समय गाड़ीवानों और बैलों को भयानक प्यास लगने के कारण उन्होंने सारा पानी पी डाला था। तीसरे दिन से बैलगाड़ियों पर छप्पर बांध दिये गए ताकि धूप से बचाव होकर गाड़ीवानों को प्यास कम लगे। उस रोज डिब्बे आधे से भी अधिक भरे हुए आए। पर गाड़ियां खोलकर कनस्तर उतारे ही थे कि तृषार्त बलीवर्दों ने उन पर हमला बोल दिया और सारे पानी को हमारे देखते हुए उदरस्थ करके प्रमाणित कर दिया कि वे कोरे भारवाहक ही नहीं थे बल्कि अपने अधिकारों के प्रति नितांत जागरूक थे। उन्हें रोकने का हम लोगों ने प्रयत्न न किया हो सो बात नहीं। पर उन्होंने सींग उठा कर आक्रमण का ऐसा पैंतरा दिखाया कि

किसी की आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं हुई। फिर इस समानता के युग में पशु और मनुष्य के बीच भेदभाव भी कैसे किया जा सकता था। शीघ्र ही हमें अपनी स्वार्थपरायणता की लाज आने लगी और बैलों का भी पानी पर मनुष्य के जितना ही हक है ऐसा दार्शनिक विचार करके हमने मन को सांत्वना दी। हमने बैलों को केवल क्षमा ही नहीं कर दिया बल्कि स्वार्थत्याग और मानवता के एहसास का मौका देने के लिए हृदय की गहराई से उन्हें धन्यवाद भी दिया। परंतु इसके साथ ही एक दूसरा उदात्त विचार भी हमारे मन में आया। वह यह कि बैल यदि इसी प्रकार रोज-रोज पानी का अतिसेवन करते रहे तो इससे उनके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा और हो सकता है कि उन्हें जलोदर जैसा असाध्य रोग हो जाए। इस डर से दूसरे दिन से बैलों को छोड़ने से पहले ही कनस्तरों को उतार कर घरों में रख दिया जाने लगा और बैलों के मुंह को कस कर बांध दिया जाने लगा। गाड़ीवानों और बैलों को धूप में आने-जाने के कारण प्यास न लगे इस हेतु से गाड़ियों का समय भी बदल दिया गया। अब वे शाम को जाकर दूसरे दिन तड़के लौटने लगीं।

परंतु इसमें एक और मुसीबत दरपेश आयी और यह मार्ग तो पहले के अन्य मार्गों से भी अधिक त्याज्य सिद्ध हुआ। बैलों और गाड़ीवानों की इतनी दोड़धूप के बावजूद हमें पानी की एक बूंद भी मिलने की संभावना न रही। होता यह था कि गाड़ियां निकलने के कुछ देर बाद ही दिन भर के परिश्रम और ठंडी हवा के झोंकों के कारण गाड़ीवानों को नींद आने लगती और वे गाड़ियों को बैलों के भरोसे छोड़ कर खर्राटे भरने लगते। उधर मौका मिलते ही बैलों को पशुसुलभ स्वभाव के अनुसार घर भागने की पड़ती और आधे रास्ते से ही 'घूम जाओ' करके गाड़ियों का रुख घर की दिशा में मोड़ देते और भोर होने से पहले घर के सामने आकर खड़े हो जाते। हम बड़ी आशा से कनस्तरों को उतारने के लिए आते तो मालूम होता कि उनमें पानी की एक बूंद भी नहीं। गाड़ीवानों को जाग्रत करने के लिए उनकी आंखों पर छींटे मारने के लिए भी पानी घर में से लाना पड़ता। दो-चार बार ऐसा होने के बाद हमें सुबह उठ कर अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों की नींद न आने की युक्ति अमल में लानी पड़ी। झोंका आते ही गरदन खिंच कर नींद खुल जाए इस हेतु से गाड़ीवानों की चुटिया को गाड़ी के छप्पर वाले डंडे के साथ बांध दिया जाने लगा। परंतु इसमें भी दिक्कत आयी। दो

गाड़ियां हमारे मुसलमान बंधुओं की थीं जिनके गाड़ीवान भी मुसलमान थे। उनके चुटिया तो थी नहीं और बांधने के लिए उनकी दाढ़ियों का उपयोग उन्हें सिर नीचे और पांव ऊपर रख कर बिठाये बिना हो नहीं सकता था। नींद से उन्हें बचाये रखने का और कोई साधन नहीं था। हमारे दूरअंदेश पूर्वजों ने बालों का गुच्छा ठोड़ी के नीचे रखने के बजाय खोपड़ी के ऊपर रखने की जो प्रथा चलायी उसी के बलबूते पर हमारे नौजवान विद्याभ्यास में अन्य जातियों के विद्यार्थियों से आगे निकल सके हैं। मौके-बेमौके हम इस बात को मुसलमान बंधुओं के कान में डालते रहते थे और इस्लाम की तुलना में सनातन हिंदू धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करते रहते थे। खैर, यह जो कुछ भी हो, इस तरकीब के बाद नदी से पानी लाने का काम कई दिनों तक निर्विघ्न चलता रहा। गर्मी बढ़ने पर नदी का पानी भी कम होने लगा। शीघ्र ही उसके पाट ने रेगिस्तान का रूप धारण कर लिया और उसमें दोपहर को मृगमरीचिका दिखाई देने लगी। किंतु इससे पानी का एक लोटा भी प्राप्त होने की आशा नहीं थी।

अब पानी की किफायत करना और भी आवश्यक हो उठा। इसके लिए सबसे पहला उपाय हमने यह सोचा कि शरीर में से पसीने के रूप में सूखने वाले पानी को बचाया जाए। अब हम किसी भी प्रकार का व्यायाम नहीं करते। धूप की तेजी से गर्मी लग कर पसीना न आये इसलिए हमने घरों में जगह-जगह खस की टट्टियां लगवा ली हैं। यह माना कि उन पर लगातार पानी छिड़कना पड़ता है। पर इससे क्या हुआ ? यह तो सिद्धांत की बात है। कुछ भी हो; पानी भले ही खर्च हो; पर पसीना तो बचता है। भयभीत होने पर पसीना बहाने के बजाय आजकल हम रोंगटे खड़े करके ही काम चला लेते हैं और दुख का पहाड़ टूट पड़ने पर आंसू बहाने के बजाय गला भर कर या लंबी सांसें खींच कर ही संतोष कर लेते हैं।

इस विलक्षण स्थिति का हमारी भाषा पर भी प्रभाव पड़ा है। पहले 'पानीदार आदमी' का अर्थ होता था आनबानवाला चरित्रसंपन्न मनुष्य; पर अब इसका अर्थ हो गया है : 'जिसके आंगन में कुआं हो ऐसा मनुष्य'। इसी तरह 'पानी की तरह पैसा खर्च करने वाले' आदमी को पहले फजूलखर्च और उड़ाऊ माना जाता था। जबकि अब उसका अर्थ हो गया है,— 'कृपण' !

अब तो भाषा की तरह अन्य रूढ़ कल्पनाओं में भी बहुत फर्क पड़ गया है। पानी को सृष्टि का आदि कारण माननेवाली मतप्रणाली का तेजी से प्रसार होने लगा है।

वरुण देवता को वेदकाल के जितना ही महत्त्व फिर प्राप्त हो गया है और गंगा-यमुना-गोदावरी आदि नदियों का पावित्र्य पहले से कहीं अधिक बढ़ गया है। पानी में डूब कर या जलोदर जैसी बीमारियों के कारण मृत्यु होने पर निःसंशय स्वर्ग की प्राप्ति होती है ऐसा एक महाविलक्षण मतवाद भी धार्मिक क्षेत्रों में फैलता हुआ दिखाई दे रहा है और जलदान का महत्त्व अन्नदान तो क्या स्वर्णदान से भी अधिक माना जाने लगा है।

आजकल तो हालत यह हो गई है कि कुओं में बाल्टी तो क्या छोटी-मोटी लुटिया भी नहीं डूबती। डोरे को झटके दे-देकर घंटे आधे-घंटे तक हिलाने के बाद बर्तन आधा-परधा भरता है। सैकड़ों हाथ ऊपर खींचते-खींचते उसमें से आधा पानी छलक जाता है। बचे हुए चुल्लू दो-चुल्लू कीचड़नुमा पानी से जबान तर करके लोग जैसे-तैसे जी रहे हैं। इस यमयातना से छुटकारा पाने के लिए सैकड़ों लोग शहर छोड़ कर जाने लगे हैं। हम लोग अभी मातृभूमि के प्रेम से बंधे हुए बैठे हैं। वर्षा को उत्तरोत्तर कम करके इस प्रदेश को उजाड़ कर देने का ईश्वरीय संकल्प है, या यह किसी अभिशाप का परिणाम है, कुछ समझ में नहीं आता। कुछ भी हो, हम तो दृढ़ निश्चय कर चुके हैं कि प्राण भले ही चले जाएं, मातृभूमि को नहीं छोड़ेंगे। "स्वभूम्यां निधनं श्रेयः परभूमि भया वहा।"

32. धर्म-परिवर्तन

प्राचीन काल में भरतखंड में सनातम वैदिक धर्म का स्वरूप अत्यंत सौम्य था इसलिए कहिये, उसे राज्यसत्ता का समर्थन प्राप्त था इसलिए या फिर कहिये उस युग में यह देश अन्य धर्मों के संसर्ग में नहीं आया था पर निश्चय ही प्राचीन काल में लोगों की धर्म-परिवर्तन की ओर प्रवृत्ति बिलकुल नहीं थी। ज्यों-ज्यों धर्म का सौम्य रूप जटिल और मलिन होने लगा, जातिभेद जन्मजात करार दिया जाकर उसका प्राबल्य बढ़ने लगा तथा ज्ञान, प्रभुत्त्व एवं संपत्ति का एकाधिकार उच्च वर्णों में ही सीमित रहने लगा त्यों-त्यों मनुष्यमात्र को समान मानने वाले और अपने उपदेशों का प्रचार लोक प्रचलित प्राकृत भाषाओं के माध्यम से करने वाले बौद्ध-धर्म का प्रभाव बढ़ता गया। राज्यसत्ता का उसे आरंभ से ही संरक्षण प्राप्त होने के कारण उसका प्रसार भी बड़ी तेजी से हुआ और भारतवर्ष में एक के बजाय दो धर्मों का प्रचलन होकर उनमें श्रेष्ठता के लिए स्पर्धा होने लगी। इस प्रतियोगिता में आरंभ में यद्यपि बौद्ध धर्म का पलड़ा कुछ भारी रहा, तथापि अंत में सनातन वैदिक धर्म की विजय हुई। भगवान आद्य शंकराचार्य के नेतृत्व में वैदिक धर्म ने पशुहिंसा जैसी समाज को निंद्य लगने वाली प्रथाओं को त्याग कर और प्रतिस्पर्धियों के अहिंसा-त्याग-अस्तेय आदि गुणों का स्वीकार करके अपनी जड़ें मजबूत करलीं और शीघ्र ही उसने फिर एक बार भरतखंड के सार्वभौम धर्म का स्थान अर्जित कर लिया। उस काल में धर्म-परिवर्तन के मार्ग में किसी भी प्रकार की बाधा न होने के कारण करोड़ों लोग जिस प्रकार अपनी राजीखुशी से आर्य से बौद्ध हो गए थे, उसी प्रकार स्वेच्छा से वे फिर बौद्ध से हिंदू भी हो गए। वैदिक धर्म के नामरूप में यह आमूल परिवर्तन होने के साथ ही सुदूर जावा-सुमात्रा और चीन-जापान तक फैला हुआ बौद्ध धर्म अपने जन्म की भूमि से करीब-करीब निर्वासित ही हो गया। इसके बाद यवन, शक, हूण आदि अनेक विदेशी

विजेताओं ने भारत पर चड्डी गांठी और उसके कई प्रांतों पर कब्जा जमाकर राज्य भी किया। परंतु एक तो उनकी संस्कृति और सभ्यता भारतीयों के धर्म और संस्कृति की तुलना में निम्नश्रेणी की होने के कारण और दूसरे उनका प्रयोजन धर्मप्रसार का न होने के कारण उनकी राज्यसत्ता का पर्यवसान भारतीयों के धर्म-परिवर्तन में न होकर खुद उन्हीं के आचार-परिवर्तन में हुआ। कालांतर में यह सारे समूह भारतीय जनजीवन और आचार-व्यवहार के साथ इतने एकरूप हो गए और इस हद तक उसमें समा गये कि आज उन्हें अलग से पहचानना असंभव है।

हिंदू धर्म की एकछत्र और सर्वसंग्राहक शक्ति को वास्तव में यदि धक्का लगा, तो वह मुसलमानों के आक्रमण के कारण! ये लोग धर्मप्रसार के उद्देश्य से ही दिग्विजय करने निकले थे। इसलिए देश का स्वामित्व जब इन परकीयों के हाथ में चला गया तो हिंदू धर्म के अनुयायियों की संख्या उत्तरोत्तर कम होती गई। हिंदू धर्म प्रसरणशील या प्रचारात्मक तो कभी था ही नहीं। इस काल तक आते-आते तो उसका सर्वसंग्राहक रूप भी समाप्त हो गया और वह अधिकाधिक संकुचित होता चला गया। इस हालत में यह स्वाभाविक था कि इस देश के धर्म और संस्कृति को नष्ट करने का बीड़ा उठाकर आने वाले नृशंस आक्रामकों से सामना होने पर उसकी सारी शक्ति आत्मसंरक्षण में ही खर्च हो गई हो। बौद्ध धर्मप्रचारक स्वधर्म का प्रसार उपदेश और ऐच्छिक मत-परिवर्तन के सहारे ही करते थे। पर इन नये विजेताओं के तौरतरीके अलग थे। उनका लक्ष्य केवल साध्य को प्राप्त करना था। साधनों की उन्हें कोई फिक्र नहीं थी। परधार्मियों को इस्लाम की दीक्षा देना ही उनका चरम लक्ष्य था। काफिर उसका स्वीकार द्रव्य-लाभ और राज्यानुग्रह के लालच से करते हैं या वित्तनाश और प्राणहानि के भय से, इसकी उन्हें रत्तीभर भी परवाह नहीं थी। बहुधा यह तलवार की सहायता से ही सिद्ध हुआ। सारे संसार को इस्लाम की पताका के तले लाने की एकांगी महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होने के कारण साधनों के औचित्य-अनौचित्य की चिकित्सा करने की न तो उन्हें फुरसत थी, न जरूरत। आरंभ से आखिर तक राज्यसत्ता की पूरी ताकत इस्लाम के पीछे होने के कारण लाखों हिंदू, कुछ स्वेच्छा से और अधिकांश जुल्म-जबरदस्ती से, इस धर्म में प्रविष्ट हो गए। राजा-महाराजा और सेठ-साहूकारों से लगाकर सामान्य जन तक-हजारों लोगों को अपनी बहन-बेटियों

को मुसलमान शासकों के हरम में भेजना पड़ा। हिंदू धर्म हाथ-पांव सिकोड़कर छुआछूत और चौके-चूल्हे की चहारदीवारी में कैद हो गया।

इसके बाद पुर्तगाली लोगों ने जब गोवा प्रांत जीता तो वहां के निवासियों को ईसाई धर्म की दीक्षा देते समय उन्होंने भी मुसलमान राज्यकर्ताओं के आदर्श को दृष्टि के समक्ष रखा। अत्याचार करने में तो उन्होंने अपने इन पूर्वगामियों को भी मात दे दी। योरप में ईसाई धर्म के विभिन्न संप्रदायों के अनुयायियों ने एक दूसरे को यंत्रणा देने के लिए जिन आधुनिक साधनों का विकास किया था, गोवा के फिरंगी शासकों ने उन्हें मुसलमानों के क्रूर और नृशंस साधनों के साथ जोड़ दिया और इस दोहरे हथियार से पीट-पीटकर गोमंतक के अधिकांश निवासियों को प्राय: उनकी इच्छा के विरुद्ध ईसाई बना लिया।

परंतु पुर्तगालियों के बाद जिस राज्यसत्ता से हमारा पाला पड़ा उसकी नीति इससे नितांत भिन्न थी। मुसमानों ने जहां राज्य-विस्तार बहुधा धर्मप्रसार के हेतु से ही किया था, वहां अंग्रेजों ने आरंभ से ही, जब तक अपने स्वार्थों और व्यावसायिक हितसंबंधों को ठेस न लगे तब तक एतद्देशीयों के धार्मिक मामलों में दखल न देना ही उचित समझा। अपनी इस नीति पर वे आज तक निष्ठा से चलते आए हैं। तथापि ईसाई राज्यसत्ता के अंतर्गत ईसाई धर्मसत्ता को प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष समर्थन मिलना अनिवार्य था। अत: परिणाम की दृष्टि से इन दोनों स्थितियों में विशेष अंतर नहीं पड़ा और हिंदू धर्म के लाखों मेमने यरुशलम के उस करुणासागर चरवाहे की शरण में चले गये। फर्क सिर्फ इतना ही पड़ा कि इस बार यह आकर्षण मुस्लिम युग की तरह भयजनित और स्थूल न होकर ऐच्छिक और सूक्ष्म रहा। बहुधा नारी, धनसंपत्ति, मानमर्यादा, अधिकार या सुरक्षा की लालसा ही इस आकर्षण की प्रेरक शक्ति रही।

हमारा शहर औसत जनसंख्या वाला पुराना कस्बा था जिसकी रचना हिंदू धर्मव्यवस्था की जातिप्रथा के अनुसार ही हुई थी। शहर की प्रमुख बस्ती में भंगी-चमार का सामना होने की संभावना बहुत कम रहती थी। हमारी समाजव्यवस्था के शीर्षस्थान पर ब्राह्मणों का एकाधिकार होने के कारण नगर के केंद्रीय भाग पर भी ब्राह्मणों का ही कब्जा था और इस केंद्र बिंदु के इर्दगिर्द राजपूत, वैश्य, कायस्थ आदि उच्चवर्णीय और सुनार, दर्जी, माली, धोबी, कुर्मी, बढ़ई, लुहार, तेली, तमोली आदि स्पृश्य शूद्रों की बस्तियां बसी हुई थीं।

मुसलमानों को इस बस्ती से सटा हुआ एक अलग मुहल्ला दे दिया गया था और भंगी-चमार-डोम आदि अस्पृश्य अतिशूद्रों की गंदी बस्तियां शहर के बाहर बसी हुई थीं।

हम ब्राह्मणों को वैश्य-कायस्थों के मुहल्लों में जाने का अवसर ही जब साल छह-महीने में कभी आता था, तो भंगीवाड़े या चमारपाड़े के दर्शन तो जीवन में कभी न होते हों, यह स्वाभाविक था। परंतु दुर्भाग्य से एक बार यह विपत्ति भी हम पर आई। हमारे शहर में एक ईसाई मिशन की स्थापना होकर उसमें एक पादरी की नियुक्ति हुई। नगर की रचना वैसे तो चक्रव्यूह की तरह अभेद्य होने के कारण और ब्राह्मणों के मकानों की स्थापना उसके मध्यभाग में होने के कारण हमें इससे डरने की कोई आवश्यकता नहीं थी। हम अपने गढ़ में सुरक्षित रह कर इन लोगों की मनमानी खिल्ली भी उड़ा सकते थे। पांडूतात्या का छोटा लड़का किशन पादरी साहब का स्वांग बड़े स्वाभाविक ढंग से करता था। एक रोज हम अपने अड्डे पर ईसाई धर्म की खिल्ली उड़ाते बैठे थे और किशन पादरी साहब का भेस बना कर उनकी नकल कर रहा था कि बंडूनाना हांफते हुए आए और चिल्लाकर कहने लगे, "अरे बेवकूफो, तुम यहां तमाशा देख रहे हो और वहां गोरे पादरी ने गांव भर में आग लगा दी है। यह हाहा-हीही छोड़ो और कमर कसकर मेरे साथ चलो।" हमने बंडूनाना की बात का अभिधार्थ लगाया और हममें से प्रत्येक यही सोचने लगा मानो आग उसीके घर में लगी हो। सब लोग अपने-अपने घर की दिशा में भागने की तैयारी करने लगे। तब नाना ने और भी चीख कर कहा, "अबे गधो, आग तुम्हारे घर में नहीं बल्कि हिंदू धर्म की पूरी इमारत में लगी है। ज्वालाएं अब आसमान को छूना चाहती हैं। तुम्हारे लोटा-लोटा भर पानी से वे कैसे बुझेंगी। चमारपाड़े के आधे से अधिक चमार ईसाई हो गये। अब भी तुम्हारी आंखें नहीं खुलीं तो बाकी के डोम-मेहतरों से भी हाथ धो बैठोगे। फिर अपने हाथों से नालियां साफ करते रहना और सड़कें झाड़ते रहना।"

आग वास्तविक नहीं बल्कि लाक्षणिक अर्थ में लगी है, यह जान कर हमें कुछ राहत मिली। वैसे हिंदू धर्म पर नाना के समान आस्था और उसके भविष्य के विषय में उनके जितनी चिंता हम में से किसी को नहीं थी। परंतु इस समय पीठ दिखाना कायरता और बेरुखी का लक्षण होता। अतः हम पंद्रह-बीस जवांमर्द ब्राह्मणश्रेष्ठ लांगें कसकर और लाठियां लेकर पादरी की अकल ठिकाने लाने के

इरादे से बाहर निकले। तब तक चमरौटी के हमने कभी दर्शन भी नहीं किए थे। काफी लंबा चक्कर काटने के बाद उसके दूर से दर्शन तो हुए पर उसकी चहारदीवारी में पांव रखने की किसी की भी हिम्मत नहीं हुई। दूर से दिखाई दिया कि पादरी साहब और उनकी मेम को घेरकर भंगी-चमारों की भीड़ खड़ी हुई थी और वे उन मरभुखों को रोटियां बांट रहे थे। साफ दिखाई दे रहा था कि पादरी दंपत्ति को छूत-अछूत का बिलकुल विचार नहीं था। मेम साहिबा तो उन गंदे बच्चों को गोद में उठा-उठाकर चूम रही थीं। 'जिन्हें छुआ-छूत का रत्तीभर भी विचार नहीं, वे भला अछूतों का उद्धार क्या खाक करेंगे'—यह विचार बंडू-नाना और पांडूतात्या, दोनों के मन में एक साथ आया। उनकी दृष्टि आपस में मिली। दोनों की आंखों से इस अतिक्रामक धर्म के प्रति घृणा और तिरस्कार की वर्षा हो रही थी। आंखों के सामने होने वाले इस भ्रष्टाचार को नाना सहन नहीं कर सके। जोर-जोर से चिल्लाकर और हाथों से इशारे करके वे उन अंत्यजों को पास बुलाने लगे। पर उनके हाथ में लाठी थी; और उच्चवर्णीयों के हाथ की लाठी का अस्पृश्यों के लिए क्या अर्थ होता है, यह वे भूल गये थे। पहले तो किसी की उनके रुद्रावतार का सामना करने की हिम्मत नहीं हुई। फिर दो-चार लोग डरते-कतराते उनके पास आए। उन्हें संबोधित करके नाना कहने लगे : "अरे मूर्खो, यह क्या हो गया है तुम्हें? इस विदेशी आदमी को अपने टोले में घुसने देते हो इतना ही नहीं, भेड़ की तरह अंधाधुंध उसके गुट में भी शामिल हो रहे हो।"

एक डोम : "क्या करें पंडितजी! साहब रोज यहां आते हैं। नमक-रोटी खाने को देते हैं। कभी-कभी हमारे बच्चों को मिठाई भी खिलाते हैं। हमारी औरतों को धोती-कुरती देकर उनकी लाज ढंकते हैं। इस अकाल में उन्होंने मदद न की होती तो हम तो मर जाते। अब आप ही बताइये हम उन्हें बेगाना कैसे समझें?"

नाना : "यही तो तुम लोगों की बेवकूफी है। यह लफंगा झूठे आश्वासन देकर तुम्हें भ्रष्ट कर रहा है। इसकी चाल तुम्हारी समझ में नहीं आएगी। अरे, तुम लोगों के सच्चे हितैषी तो हम हैं। फिर हम और तुम एक ही विराट पुरुष के अलग-अलग अंग हैं। अब यह बात अलग है कि हम उसका मुख हैं और तुम लोग पांव हो। बल्कि हिसाब से देखा जाए तो पांव के तलवे हो। युगानुयुग से

चले आने वाले इस नाते को तुम कैसे भूल सकते हो।"

डोम : "महाराज, हम लोग अनपढ़ गंवार हैं। ये सब बातें हमारी समझ में नहीं आतीं। पर मालिक, आप लोग तो इतने ज्ञानी होकर भी हमें भूल गए। आप लोगों ने कभी हमारी खबर ही नहीं ली। हमारे पेट को रोटी मिलती है या नहीं, हमारे बच्चों के शरीर पर गाढ़े की धज्जी भी है या नहीं, बरखा-पानी में हमारी क्या दशा होती है, इसका आपने कभी हाल पूछा ? अगर आप के चरणों की धूल कभी हमारे आंगन में पड़ती, तो हम आपको इसकी याद भी दिलाते। और फिर हम इस पादरी की बात क्यों सुनते ?"

नाना : पर तुम यह भूल रहे हो कि हम विराट पुरुष का मस्तक हैं और तुम पांव हो। कुछ ही कहो, सिर पांवों से दूर रहेगा ही। सिर को पांवों का हाल कैसे मालूम पड़ सकता है ?"

डोम : "फिर आज ही सिर को पांवों की याद कैसे आ गयी, महाराज ?"

विराट पुरुष का मस्तक और पांव एक दूसरे से कितने ही दूर रहे हों, नाना को इस समय इस अशिक्षित अस्पृश्य ने निरुत्तर कर दिया था इसमें कोई संदेह नहीं। उन्हें इस समय क्रोध के बजाय लाज आ रही थी जिसका स्वीकार वे केवल अभिमान के कारण ही नहीं कर पा रहे थे। डोम यह समझ गया और बोला, "महाराज, अब भी कुछ बिगड़ा नहीं है। अब भी हमें गले से लगा लो और हमारी कोड़ों की मार से उधड़ी हुई पीठ पर प्यार से हाथ फेर दो, तो अछूत हिंदू धर्म में रहने को तैयार हो जाएंगे। इतना ही नहीं, आप उन्हें हिंदू धर्म में वापस लेने का वादा करें, तो ईसाई हो जाने वालों को भी हम समझा-बुझा कर वापस ला सकते हैं। कहिए, है इरादा ?"

नाना धर्मसंकट में पड़ गए। चंदा उगाह कर कुछ दिनों के लिए इन डोम-चमारों का पेट भरने की व्यवस्था की जा सकती थी। पर ब्राह्मण होकर चमार की पीठ पर हाथ फेरना ! हर हर ! यह कैसे हो सकता था। विराट पुरुष का मुख अपना हाथ उसी पुरुष के पांव की पीठ पर फेरे यह बात व्यावहारिक दृष्टि से भी मुश्किल थी। आप ही अपने मुख, हाथ, पांव और पीठ को लेकर यह कसरत कर देखिए। जमेगी नहीं। फिर पीठ पर हाथ फेरना तो फिर भी गनीमत है। उस पाप का प्रक्षालन स्नान और गोमल भक्षण से हो सकता था। पर चमरौटी में जाकर अपने पांवों की धूल झाड़ना ! यह कैसे संभव है। यह पावन धूल इतनी

सस्ती हो गई है क्या ? साल में एकाध बार, धुलैंड़ी जैसे दिन यह धूल झाड़ने वाली बात कही जाए, तो फिर भी कुछ हो सकता है। पर यह रोज-रोज की आफत कौन मोल ले ? साथ ही यह भी सही था कि गोरे पादरी का प्रभाव कम करना हो, तो अंत्यज पाड़े में नियमित जाना ही पड़ेगा। डोम-मेहतरों के घर जाकर बैठना पड़ेगा और उनके सुख-दुख की बात सुननी पड़ेगी। कोई छोटा बच्चा घुटनों चलता हुआ वहां जा पहुंचा तो नाक-मुंह सिकोड़ कर ही सही पर उसे गोद में उठा कर दुलारना पड़ेगा। शायद उसे चूमना भी पड़ जाए !यहां तक तो गनीमत थी; पर किसी भंगी-चमार ने आदरातिथ्य की भावना से चाय या शरबत पेश किया, तो क्या किया जाए ? नाना के ब्राह्मण संस्कारों से ओतप्रोत विचारों की गति यहां तक पहुंच कर रुंध गई। इससे आगे की संभावनाओं की तो वे कल्पना भी न कर सके। क्षणार्ध में उन्होंने निश्चय कर लिया कि पूरा अछूत टोला ईसाई हो जाए तो भी कोई हर्ज नहीं, पर वे ऐसा भ्रष्टाचार नहीं कर सकते।

इसके बाद उन्होंने और पांडूतात्या ने अछूतों को कोरे वाग्जाल में फांसने का बहुतेरा प्रयत्न किया, पर पादरी साहब की सक्रिय सहानुभूति के मीठे कांटे को उगल कर इस कोरे जबानी जमाखर्च के जाल में फंसने को कोई तैयार नहीं हुआ। अंत्यजों को भुखमरी से बचाने के लिए बंडूनाना ने कम से कम चंदा उगाहने का विचार तो किया था। पर पांडूतात्या तो इसके लिए भी तैयार नहीं थे। उनका सारा दारोमदार वाग्वितंडावाद पर आधारित था। उन्होंने अछूतों को स्वावलंबन का उपदेश देना शुरू किया और उन्हें समझाया कि प्राणों जैसी क्षुद्र वस्तु की रक्षा के लिए पादरी साहब जैसे विदेशी तो क्या अपने स्वदेशी धर्मबंधुओं का मुंह ताकना भी कितनी लज्जा की बात है। शरीर-संवर्धन की अपेक्षा आत्मोन्नति का महत्त्व कितना अधिक है यह भी उनके मन में ठसाने का प्रयत्न किया गया। उपवास करने से शरीर कितना स्वस्थ रहता है; हिंदू धर्म में उपवास का कितना महत्त्व माना गया है; धनवान लोग भी आरोग्य प्राप्ति और पुण्य-संपादन के लिए कभी-कभी उपवास करते रहते हैं; उन जैसे दरिद्रों को तो फाके करने से अनायास ही स्वार्थ और परमार्थ, दोनों की सिद्धि का मौका मिल जाता है; इस सुनहरे मौके को छोड़ देना कितना मूर्खतापूर्ण अविचार है— इत्यादि तर्कों को तात्या ने अपनी बुलंद आवाज और अस्खलित वाणी के सहारे

उनके गले उतारना चाहा। पर उदरपूर्ति जैसी क्षुद्र बात को ही जीवन का चरम ध्येय मान बैठने वाले उन नारकीयों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अंत में हार कर तात्या ने फतवा दिया कि "चामरपाड़े में आने की तो इस समय हमें फ़ुरसत नहीं है पर उस पादरी के बच्चे को लेकर कभी हमारे पास आओ, तो उसके पाखंडी धर्म का हम शास्त्रार्थ द्वारा खंडन कर सकते हैं।" 'खंडन' शब्द का उच्चारण करते समय उन्होंने अपने सोटे को जमीन पर इतने जोर से पटका कि धरती हिल उठी। विरोधियों के विचारों से लगा कर उनकी खोपड़ी तक किसी भी बात का खंडन करने के इस सार्वभौम साधन की मजबूती से बेचारे अंत्यज इतने प्रभावित हुए कि अधिक चींचपड़ किए बिना वहां से रवाना हो गए। लक्षमण रेखा को उलांघना सीताहरणोत्सुक रावण के लिए जितना दुष्कर रहा होगा उतना ही पादरी साहब को मार भगाने के लिए चमारपाड़े में जाना हमारे लिए मुश्किल था। अतः उन अनपढ़ अछूतों पर प्राप्त की हुई नैतिक और बौद्धिक विजय से ही संतोष मान कर हम घर लौट आए।

अंत्यजों का धर्म-परिवर्तन करने में पादरी साहब को यद्यपि कल्पनातीत सफलता मिली थी, फिर भी बहुत से अछूत अब तक उनके चकमे में नहीं आये थे। इनमें अधिकांश वे ही लोग थे जो रोटी-कपड़े से सुखी थे। इनमें से एक का नाम जानू था। उसके पास काफी पैसा था। इसलिए शहर के उच्चवर्णीय नागरिक उसे किसी उपयुक्त पशु को दिया जाए उससे कुछ अधिक ही मान देते थे। वह कभी पांडूतात्या के घर आता, तो तात्या सड़क पर खड़े होकर उससे घंटों तक बतियाते रहते। ऐसे मौकों पर बाहर की ठंडी हवा से उन्हें जुकाम हो जाता, तो भी वे उसकी परवाह नहीं करते थे। जानू को घर के भीतर आने का तो क्या, उस तरफ आंखें उठाकर देखने का भी अधिकार नहीं था, किसे मालूम, डोम की दृष्टि से ही कहीं मकान भ्रष्ट हो जाए। अपने अनेक जातिबंधुओं के ईसाई हो जाने पर भी वह अब तक अपनी बात पर अड़ा रहा था। इससे तात्या जैसे स्वधर्माभिमानी ब्राह्मण के मन में उसके प्रति कुछ ममत्त्व उत्पन्न हुआ होगा ऐमी आशा से प्रेरित होकर एक बार वह बरसती बारिश में तात्या के यहां पहुंचा। उसके मन में धुंधली सी आशा थी कि अब की बार तात्या उसे बरामदे में खड़े रहने को तो अवश्य कहेंगे। पर उसकी ललक पूरी नहीं हुई। तात्या छाता लेकर घर से बाहर निकले। वे जानू के साथ लंबा वार्तालाप करने की तैयारी से आये थे अतः बड़े इतमीनान से

छाता तान कर खड़े रहे। यह देख कर जानू कुढ़ गया और उसने जल्दी ही लौटना चाहा। पर तात्या इसके लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने विविध विषयों पर गपशप छेड़ कर उस बेचारे को कोई घंटा डेढ़-घंटे तक मूसलाधार वर्षा में ठिठुरता हुआ खड़ा रखा। तात्या की पीनोदर देह को वर्षा की एक बूंद भी स्पर्श नहीं कर रही थी जबकि गरीब बेचारा डोम दूसरे दिन जूड़ी भरने की आशंका से परेशान था। उसकी इस दयनीय हालत से तात्या को दुख न हो रहा हो, सो बात नहीं। पर किया क्या जाए? उसे छाते के नीचे लेकर अपने साथ सटा कर खड़ा करना संभव नहीं था। अगर उसे घर में से दूसरा छाता लाकर देते, तो इस महंगाई के जमाने में उसका मोह छोड़ना पड़ता। अतः मुख अपने स्थान से ब्रह्मज्ञान झाड़ता रहा और पांव अपने स्थान पर खड़ा भीगता रहा और मन ही मन कुढ़ता रहा। अंत में जब उसकी ठंड के कारण कंपकंपी बंध गई तब कहीं तात्या ने उसे छोड़ा। दूसरे दिन मालूम हुआ कि जानू को जोरों का बुखार चढ़ा हुआ है। अपने इस चमार बधु के संबंध में अधिक चमार-चकल्लस करने का तात्या को कोई प्रयोजन दिखाई नहीं दिया। जब वह कई महीनों तक दिखाई नहीं पड़ा तो वह मर गया होगा ऐसा अनुमान लगाकर तात्या ने मन का समाधान कर लिया।

एक रोज खुद पादरी साहब अपने किसी देसी किरस्तान मित्र के साथ तात्या से मिलने के लिए आए। यद्यपि अछूतों द्वारा अपनी देहरी उलांघी जाने का भ्रष्टाचार तो तात्या को मंजूर नहीं था, तथापि उन लोगों का धर्मांतर करने वाले और इसीलिए उनसे भी अधिक भ्रष्ट और पतित होने वाले पादरी साहब को अपने मकान में घुसने देने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। बल्कि इसे उन्होंने अपना सम्मान ही माना। उन दोनों मेहमानों का स्वागत करते समय आरंभ में वे कुछ गड़बड़ा गए। बात यह थी कि वैसे तो घर में तीन कुर्सियां थीं। पर तीनों ही युद्ध में घायल होकर लौटने वाले वीरों की तरह खस्ताहाल हो रही थीं। उनमें से एक के किसी जमाने में हत्थे हुआ करते थे। पर मुद्दतों पहले उनके टूट जाने के कारण आजकल वह लुंज हो रही थी। फिर भी तीनों कुर्सियों में यही कुछ अच्छी होने के नाते पादरी साहब के बैठने के लिए उसकी योजना की गई। दूसरी कुर्सी जन्म से ही लूली थी। इसके अलावा उसकी रीढ़ भी टूट चुकी थी। और आजकल वह कुर्सी के बजाय स्टूल से अधिक साम्य रखती थी। वह कुर्सी देसी साहब को दी गई। तीसरी कुर्सी अद्भुत

श्रेणी की थी । उसका मूल स्वरूप जो कुछ भी रहा हो, आजकल उसके हत्थे सलामत थे पर पीठ नदारद थी । आधारहीन हत्थे हवा में अधर लटकते हुए मालूम देते थे । इसके अलावा एक भीतर की बात यह थी कि उसकी एक टांग भी टूट चुकी थी । जीवन के लंबे सफर में उसका बेंत का आसन भी जीर्णशीर्ण होकर बिखर गया था और एक टांग नदारत होने के कारण उसकी गणना न तो द्विपादों में हो सकती थी, न चतुष्पादों में । इस हालत में भी वह वीरबाला मौका पड़ने पर शत्रु को पीठ नहीं दिखाएगी इसका मानो आश्वासन देती हुई दोनों हाथ उठाए जीवन के रणक्षेत्र में जूझ रही थी । खुद गिरे बिना और कुर्सी को गिराए बिना उस पर आसन जमाए रखने की कला सिर्फ तात्या को ही अवगत थी । अतः उस पर वे स्वयं आरूढ़ हुए । बैठने से पहले उन्होंने अभ्यागतों से इतने जोर से हस्तांदोलन किया कि कुर्सियों के हत्थे न होने की कमी पूरी हो गई । गोरे और काले, दोनों साहबों के मन में यह आशंका उत्पन्न हुई कि तात्या कहीं उन्हें भी अपनी कुर्सियों की हस्तहीन बिरादरी में शामिल करना तो नहीं चाहते ! हाथ मिलाते समय भी तात्या ने दाहिना हाथ गोरे पादरी की और बायां हाथ काले साहब की ओर बढ़ा कर यह प्रमाणित कर दिया कि गोरे और काले के बीच के आर्यकालीन भेद को वे अच्छी तरह से समझते हैं और इस ज्ञान की मार्मिकतापूर्ण अभिव्यक्ति करने की कला भी उन्हें आती है । पादरी साहब ने काले ईसाई साहब का परिचय इन शब्दों में कराया : "ये जॉन साहब हैं । मसीहा के संघ में शामिल होने वाले नवीनतम मेमने !" तात्या यह सुन कर मंद स्मित मात्र कर चुप हो गये, पर भेड़िये की मांद में जान-बूझ कर भटक जाने वाली उस भेड़ की तरफ आंख उठा कर भी नहीं देखा ।

पादरी साहब ने आते ही अपने आने का प्रयोजन जाहिर कर दिया ।—"आज सोचा कि ब्राह्मणों के घरेलू जीवन का अध्ययन किया जाए । उसका प्रत्यक्ष दर्शन करने के लिए आपके यहां चला आया हूं । आपको कोई आपत्ति तो नहीं होगी ?"

तात्या के मन में कुछ भी भाव रहे हों, प्रकट रूप से उन्होंने कहा, "नहीं, नहीं, साहब ! आपत्ति कैसी ! यह तो मेरा धन्यभाग्य है ।"

इसके बाद तात्या उठ खड़े हुए और अपने साथ ही उठ खड़ी होने वाली कुर्सी को दीवार से सटा कर भीतर की तरफ चले । उनके पीछे-पीछे पादरी साहब

और वह देसी किरस्तान साहब भी तात्या के निवासस्थान का अध्ययनात्मक निरीक्षण करने के लिए चले। बरामदे से कमरे के भीतर जाते समय पादरीसाहब ने ठिठक कर पूछा, "जूते बाहर उतार दें क्या?" भारत में वर्षों से रहने वाला यह धर्म-प्रचारक हिंदुओं के रीति-रिवाजों से भली-भांति परिचित था। तात्या चाहते तो उससे जूते उतरवा कर अपने आचार की रक्षा कर सकते थे। पर उन पर तो इस समय न मालूम कौन-सा नशा सवार था। तपाक से बोले, "नहीं, नहीं, साहब! इस तकलीफ की कोई जरूरत नहीं।" पाहुने बेचारे क्या करते! ब्राह्मण के घर में, उसकी अनुमति से, बूट पहने हुए दाखिल हुए। बैठक के कमरे, कोठार, आंगन, गुसलखाना आदि का मुआइना बूट पहने-पहने ही हुआ। आंगन के दूसरे सिरे पर रसोईघर था। उसमें जूते पहनकर जाते हुए साहब फिर झिझके। तात्या द्वारा निस्संकोच आगे बढ़ने का बढ़ावा दिया जाने पर भी उनके पांव बाहर ही ठिठके रहे। इसका एक कारण यह भी था कि रसोईघर में से सांस घोंट देने वाला धुएं का प्रचंड बादल बाहर निकलकर उनकी आंख-नाक में भर रहा था। भीतर शायद आग लग गई है इस आशंका से साहब ने कहा, "पंडितजी, भीतर, शायद कुछ जल रहा है। पानी ले आइये तो बुझा दिया जाए।" तात्या ने जानकारी भरी मुस्कराहट से जवाब दिया, "चूल्हे के सिवा ओर कुछ नहीं जल रहा, साहब! हम ब्राह्मणों में चौके-चूल्हे का महत्त्व कुछ अधिक ही होता है।"

साहब: "फिर भी आपके रसोईघर में चिमनी नहीं है।"

तात्या: "नहीं साहब! प्राचीन ऋषिमुनियों के काल में जैसी गृहरचना होती थी, वैसी ही हमारे यहां अब तक चली आ रही है। दूसरे धर्मों से हमारे धर्म में आने वाले व्यक्ति का जिस तरह हम स्वागत नहीं करते उसी प्रकार दूसरों के रस्मोरिवाज को अपने घर में घुसने देना भी हम पसंद नहीं करते। विशेष तौर पर रसोईघर और प्रसूति की कोठरी, ये तो हमारी पुराणप्रियता के गढ़ हैं। जच्चा की कोठरी में सूरज की किरण या हवा का झोंका घुसते ही अनर्थ हो जाता है तो फिर पराये रीति-रिवाजों की तो बात ही कहां रही।"

साहब: "पर ऐसे धुएं भरे कमरों में आपकी स्त्रियां दिन भर काम कैसे करती हैं?…उन्हें तकलीफ नहीं होती?"

तात्या: "यही तो रहस्य की बात है, साहब! आप लोगों को इससे आश्चर्य होगा। पर हमारी स्त्रियां आर्य नारियां हैं। हम लोगों ने उन्हें आप लोगों की

तरह सिर पर नहीं चढ़ाया। धुएं से आंखें फूट जाएं, तो भी कोई हर्ज नहीं। पर परायी रीतियों को अपनाना हमें पसंद नहीं। इसके अलावा हमारी स्त्रियों ने आपकी मेमों की तरह कुर्सी पर बैठ कर पति से हुज्जत करना या गैरों के सामने पति के मुंह से मुंह सटाकर गुलगुली बातें करना नहीं सीखा।"

साहब को न मालूम किस बात की लाज आई कि उनकी आंखें झुक गईं। रसोईघर में जाकर भोजन-सामग्री का निरीक्षण करने की उनकी प्रबल इच्छा थी। पर एक तो धुएं के कारण भीतर जाना संभव नहीं था और दूसरे अब उन्हें इसमें विशेष दिलचस्पी न रही। धुएं का सर्वग्रासी आवरण आंखों को अंधा और भीतर की वस्तुओं को अस्पष्ट बना रहा था। साहब आगे बढ़ गए।

इसके बाद पूजा की कोठरी आई। पादरी साहब को लग रहा था कि उसमें उनका प्रवेश करना उचित नहीं होगा; और जूते पहने हुए तो बिलकुल नहीं! इसलिए वे बाहर से ही दर्शन करके आगे बढ़ जाने की तैयारी में थे कि तात्या ने उनसे भीतर चलने का अनुरोध किया। इसमें उनका एक सुषुप्त हेतु यह भी था कि पूजाघर के वैभव के निकट-दर्शन से साहब की आंखें चौंधिया जाएं। उन्होंने साहब को बड़े आग्रह से आमंत्रित किया : "आइए, साहब! भीतर आइए! भगवान के दरबार में कोई भेदभाव नहीं। यहां आप और हम सब एक हैं।··· अं···अं···जूते नहीं उतारे तो भी चलेगा।"

साहब : "पर पंडितजी,···यह तो अनुचित होगा।···और फिर ये मेरे मित्र? आपको बता देना आवश्यक समझता हूं कि पूर्वाश्रम में ये चमार थे।"

तात्या : "पर अब तो नहीं हैं न? अब तो ईसाई हैं न?···इसमें कोई दोष नहीं। आइए,···आइए···आप दोनों आइए।"

दोनों अतिथि दंग रह गए। जच्चा की कोठरी में सूर्यकिरण के प्रवेश को भी निषिद्ध मानने वाला यह धर्ममार्त्तंड पूजाघर जैसे अत्यंत पवित्र स्थान में दो विधर्मियों को भीतर बुला रहा था, और वह भी जूते पहने हुए! पर अपने मेजबान के अनुरोध को टालना साहब ने उचित नहीं समझा। बड़े संकोच के साथ, सहमते-हिचकिचाते वे भीतर गए। तात्या ने उन्हें शिवलिंग, लड्डूगोपाल, हनुमानजी, गणेशजी, शालिग्राम, दत्तात्रेय, अंबाजी, बालाजी आदि प्रमुख देवताओं का परिचय कराया। मूर्तियों पर सजे हुए अलंकारों का वर्णन करते समय उन्होंने आवश्यकता से कुछ अधिक विस्तार दिया। इससे किसी परदेशी

विधर्मी को यह शंका हो सकती थी कि तात्या की नजर में मूर्तियों की अपेक्षा उन पर चढ़ाए हुए आभूषणों का ही महत्त्व अधिक है।

इस प्रकार पूरे घर का निरीक्षण हो जाने के बाद पादरी साहब विदा हुए। जाते समय उन्होंने कहा, "पंडितजी, आपने हमारे जॉन साहब को शायद पहचाना नहीं। ईसाई होने के बाद इनमें इतना फर्क पड़ गया है। आपका इनसे पुराना परिचय होने पर भी आप पहचान नहीं सके।"

तात्या: "क्या कह रहे हैं आप ?...मेरा इनसे पुराना परिचय है ?"

इसका उत्तर जॉन साहब ने स्वयं दिया : "तात्या, आप इस जानू चमार को शायद बिलकुल ही भूल गए। उस दिन आपके घर के सामने सड़क पर खड़े होकर भीगने के बाद मुझे जोर की जूड़ी चढ़ी। पादरी साहब ने रातदिन सेवा करके मुझे बचाया।"

पादरी साहब : "बचाने-मारने वाला तो सर्वशक्तिमान परमात्मा है। मैं भला बचाने वाला कौन ?"

जानू उर्फ जॉन साहब : "आपका यह कहना तो ठीक है। पर साथ ही यह भी सही है कि उस असाध्य बीमारी में मैंने साहब के आग्रह से मनौती मानी थी कि उससे बच जाऊंगा तो ईसाई हो जाऊंगा। भगवान ने मेरी बात सुन ली और बीमारी से उठते ही मैं सपरिवार भगवान ईसा की शरण में चला गया। साहब ने मेरे प्राण ही नहीं बचाए बल्कि मेरी आत्मा का भी उद्धार किया है। उनके इस उपकार का बदला मैं सात जनम में भी नहीं चुका सकूंगा।"

साहब : "नहीं, नहीं, जॉन साहब ! यहां आपसे गलती हो रही है। हमारे धर्म के अनुसार आपको जन्म-मरण के चक्कर में नहीं फंसना पड़ेगा। हिंदू धर्म में चौरासी लाख योनियों में जन्म लेने के बाद होने वाली ईश्वरप्राप्ति हमारे धर्म में एक ही जन्म में हो जाती है। सिर्फ प्रभु ईसा पर विश्वास होना चाहिए।"

तात्या को काटो तो खून नहीं। पादरी साहब की चाल अब उनकी समझ में आयी। उन्हें कोई संदेह न रहा कि साहब के आगमन का मुख्य उद्देश्य जानू चमार के धर्म-परिवर्तन का प्रदर्शन करके उन्हें नीचा दिखाना ही था। मन ही मन वे बहुत जले-भुने। पर अब हो ही क्या सकता था। यह मिठबोला पर परम धूर्त गोरा उनके घर में घुस कर उन्हें मात दिये जा रहा था। साहब ने जाते समय जो कुछ कहा उसने तो उनके नपुंसक क्रोध को और भी भड़का दिया। कुटिलता

से मुस्कराते हुए साहब कहते गए : "हमारा धर्म कैसा भी हो; पर उसकी बदौलत आपके घर के बरामदे में भी कभी पांव न रख सकने वाले जानू को आपके रसोईघर और देवालय तक प्रवेश मिल सका। यह बात अपनेआप में कुछ कम महत्त्व की नहीं है यह आप भी स्वीकार करेंगे।"

तात्या के कानों में ये शब्द उबलते हुए तेल की तरह प्रविष्ट हुए। अपने पराभव का शल्य उन्हें कई दिनों तक सालता रहा। परंतु उसका जो परिणाम निकला उसकी तो उन्होंने कभी स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी। सन् 1918 में मिआदी बुखार की जो भयानक महामारी अनेक इलाकों को तबाह करती हुई देश भर में फैली उसकी चपेट से तात्या का परिवार भी नहीं बचा। सबसे बुरी हालत उनके छोटे लड़के किशन की हुई। आरंभ में तो ऐसा लगा कि ठंड लग कर आने वाली साधारण जूड़ी या तिजारी होगी। इसलिए पहले दो-तीन दिन तक घरेलू उपचार किए गए। तात्या के घर में छोटी-मोटी बीमारियों पर घरेलू इलाज करने की परंपरा थी। हर छोटी-मोटी बात को लेकर वे वैद्य के यहां नहीं भागते थे। इसके अलावा तात्या प्रचार करते रहते थे कि ये उपचार पूर्णतः स्वदेशी होने के कारण ही उनकी योजना की जाती है। उन्हें जानने वाले लोग यह कहने से भी नहीं चूकते थे कि ये उपचार सस्ते और घर में अकसर काम में आने वाली वस्तुओं द्वारा हो सकने के कारण ही तात्या को प्रिय थे। कुछ आलोचक यह भी कहते हुए सुने जाते थे कि किसी भी प्रकार के व्यय को बचाने की और पैसे-पैसे को दांत से पकड़ने की आदत के कारण ही तात्या ऐसा करते थे। घरेलू दवाई के रूप में प्रयुक्त मुनक्का, छुहारे, सोंठ, लौंग, दालचीनी, सौंफ आदि वस्तुएं इस आरोप का समर्थन करती हुईं मालूम देती थीं। इलाज के बाद ये चीजें बच भी जाएं तो घर में काम आ सकती थीं। परंतु ये टिप्पणियां अकसर तात्या के निंदकों द्वारा कुत्सित प्रचार के लिए की जाने के कारण उन्हें अधिक महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं। पर जो कुछ भी हो, दो-तीन दिन तक घरेलू उपचार करने के बावजूद लड़के की हालत बिगड़ती ही गई और तीसरे दिन तो उसकी सांस उखड़ने लगी। इस लक्षण से तात्या पहचान गए कि उसे फेफड़ों का प्रदाह (Pneumonia) हो गया है। अब वे घबराए और लगे भागदौड़ करने। इस वैद्य को बुलाने, उस डाक्टर को दिखाने का तांता लग गया। सबने एक ही राय दी कि रोग असाध्य नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है। तात्या के तो जैसे हाथ-पांव गल गये। इस सबसे छोटे लड़के के प्रति

उनके मन में आत्यंतिक प्रेम था। उनकी पत्नी भी बेटे के शरीर पर हाथ फेरती हुई और आंचल से आंसू पोंछती हुई असहाय बैठी रहती। उधर ज्वर उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा था।

ऐसे में अचानक तात्या को पादरी साहब की याद आई। उस धन्वन्तरी का हाथ लगते ही नगर के कई असाध्य रोगी अच्छे हो गये थे। तात्या भागते हुए उनके यहां पहुंचे। साहब तो मानो उनके आने की बाट ही देख रहे थे। तुरंत उनके साथ घर आए। रोगी को जांच कर उन्होंने अत्यंत गंभीर मुद्रा धारण की और तात्या को एकांत में ले जाकर बोले, "रोग असाध्य है। अब दवा की नहीं, दुआ की जरूरत है। एक ही उपाय है। लड़का अच्छा हो जाए तो उसे प्रभु ईसा की शरण में अर्पण कर देने की मन्नत मानो। भगवान को दया आई, तो शायद कुछ हो सकता है।"

तात्या को लड़के के बचने की उम्मीद बिलकुल नहीं थी। उन्होंने यह शर्त तुरंत कबूल कर ली। उनकी पत्नी तो पुत्रविरह की कल्पना से पागल-सी हो उठी थी। उसकी सम्मति मिलने में भी अधिक कठिनाई नहीं हुई। बस, पादरी साहब और उनकी मेम ने रोगी के बिस्तर के पास धरना दे दिया। पादरी साहब डाक्टरी विद्या में निपुण थे तो मेम साहबा कुशल परिचारिका थीं। आत्मा का उद्धार करने के साथ-साथ रोग का उच्चाटन करने की कला में भी दोनों प्रवीण थे। दोनों ने अपनी पूरी योग्यता दांव पर लगा दी जिसके परिणामस्वरूप लड़का कुछ ही दिनों में बिलकुल स्वस्थ होकर खड़ा हो गया।

परंतु उसके अच्छा होते न होते तात्या का बड़ा लड़का रामचंद्र भी विषम ज्वर की चपेट में आ गया। इस बार भी सारे वैद्य और डाक्टरों का इलाज कर लेने के बाद तात्या पादरी साहब की शरण में जाने की बात सोच ही रहे थे कि उनके अनन्य मित्र बंडूनाना ने विरोध किया। उन्होंने कहा, "तात्या, एक बार जो अविचार हो गया सो हो गया। पर अब दोबारा यह भ्रष्टाचार करने की जरूरत नहीं। अपने हकीम साहब यूनानी हिकमत में पादरी साहब के जितने ही प्रवीण हैं। मैं आज उनसे मिला था। राम के अच्छा हो जाने पर उसे मुसलमान बनाने की शर्त तुम्हें मंजूर हो, तो वे इलाज करने को तैयार हैं। पराये धर्म को स्वीकार करना ही पड़े, तो वह विदेशी, भ्रष्ट धर्म किसलिए? इस्लाम धर्म कम से कम स्वदेशी तो है। तुम्हारा स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग का कठोर व्रत जग-जाहिर है।

इससे उसका और भी समर्थन होगा। इसलिए अधिक सोच-विचार की दुविधा में पड़े बिना हां कह दो।"

तात्या और उनकी धर्मपत्नी ने इस बार पहली बार के जितना भी विरोध नहीं किया। उनकी स्वीकृति मिलते ही हकीम साहब आ धमके और उनकी रोगी के कमरे में स्थापना हो गई। तरह-तरह के कुश्ते और खमीरे रोगी को दिए जाने लगे और आश्चर्य की बात कि उस पर उनका असर होने के चिह्न भी दिखाई देने लगे। कोई कह सकता है कि यह सिर्फ काकतालीय न्याय से हुआ। यह जो कुछ भी हो, इतना सही है कि हकीम साहब रूपी काक के रोग रूपी ताल पर बैठते ही उसकी जड़ें डगमगाने लगीं और सप्ताह भर में ही वह जड़मूल से उखड़ गया। आठ दिन के भीतर लड़का पूर्णतः स्वस्थ हो गया।

पादरी साहब को जैसे ही मालूम पड़ा कि उनका एक शिकार भटक कर इस्लाम के बाड़े में घिर गया है, तो उन्हें बड़ा गुस्सा आया। क्रोध के आवेश में उन्होंने तात्या से किशन को जल्द से जल्द बपार्तस्या दिलाने का तकाजा शुरू किया। उधर हकीम साहब राम को कलमा पढ़वाने की जल्दी करने लगे। आरंभ में तो तात्या और उनकी पत्नी ने बड़ी आनाकानी की और कई बहाने बनाये। पर अंत में इन लोगों के धरने से तंग आकर उन्हें लड़कों के धर्म-परिवर्तन को स्वीकृति देनी पड़ी। एक ही दिन राम को मस्जिद में इस्लाम की और किशन को गिरजे में ईसाई धर्म की दीक्षा दी गई। बंडूनाना के सुझाव पर नूतनाश्रम में उनके नाम भी पूर्वाश्रम के 'राम' और 'किशन' से मिलते-जुलते रखे गये। अब वे क्रमशः 'रहीमखां' और 'क्रिस्तोफर' नाम से पुकारे जाने लगे। 'क्रिस्तोफर' नामकरण में विज्ञानप्रेमी नाना का कोलंबस के प्रति आदरभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

इसके बाद कुछ दिनों तक बाह्य दृष्टि से तो पूरे परिवार में अमनचैन रहा। पर वह बहुत दिनों तक टिका नहीं। योरप महाद्वीप इतना विशाल है। पर उसमें भी इस्लाम और ईसाइयत एक साथ नहीं समा सके। भरतखंड योरप के जितना ही विस्तीर्ण है। पर उसमें भी हिंदुत्व और इस्लाम आज तक सुख-शांति से नहीं रह पाये हैं। तो फिर तात्या के बालिश्त भर के मकान में हिंदू, मुसलमान और ईसाई, इन तीन धर्मावलंबियों का शांतिपूर्ण सहअस्तित्व कैसे संभव था। आरंभ में जब राम और किशन की पत्तलें चौके के बाहर बरामदे में परोसी जाने लगीं

तो उन्हें लगा कि वे अभी-अभी भयानक बीमारी से उठे हैं इसलिए रोग की छूत के विचार से ऐसा किया जा रहा होगा। जब उनकी पत्नियां, जानकीबाई और राधाबाई उनसे दूर-दूर रहने लगीं तब भी उन्होंने इसी संभावना के सहारे मन को मना लिया। उनका धर्म-परिवर्तन अभी नया ही होने के कारण उसके दूरगामी परिणामों का उन्हें अब तक अनुभव नहीं हुआ था। परंतु उनकी तबीयत ज्यों-ज्यों सुधरती गई त्यों-त्यों उन्हें इस परिवर्तन का एहसास होने लगा और यह भेदभाव उन्हें अखरने लगा। एक बार रामचंद्र अपने छोटे लड़के को गोद में बिठा कर प्यार कर रहा था कि जानकीबाई ने बड़े ताव से कहा, "बच्चे को छोड़ दो। उसे भी भ्रष्ट करना है क्या?" एक बार किशन ने चाय पीकर खाली प्याला ले जाने के लिए अपनी पत्नी से कहा। तुरंत ही वह भभक कर कहने लगी, "धोये बिना प्याले को कैसे छुऊं? मैं क्या तुम्हारी तरह किरस्तान हूं?" अपनी रोगजनित बेहोशी की अवस्था में अपनी रजामंदी के बगैर घर के लोगों द्वारा अपना धर्म-परिवर्तन करने की मन्नत मानी जाना और उसे पूरा करने के बाद अपने साथ इस प्रकार का अपमानपूर्ण बर्ताव करना उन्हें बिलकुल पसंद नहीं आया। जब तक उनके शरीर में कमजोरी थी, तब तक उनके जूठे बरतनों को मेहतर साफ करता था और जूठी जगह को वही गोबर से लीप देता था। परंतु ज्यों-ज्यों उनकी शक्ति वापस आने लगी, त्यों-त्यों ये सारे काम उन्हें अपने हाथों से करने पड़े।

आरंभ में यह सब नागवार लगने पर भी धीरे-धीरे वे बदली हुई परिस्थिति के साथ समरस होने लगे। दोनों अपने-अपने समाज की प्रार्थना, नमाज़ आदि में शरीक होने लगे और उन विजातियों के सामाजिक रीति-रिवाज भी उनके व्यवहार में अधिकाधिक उतरने लगे। घर के अन्य लोगों के चलन-व्यवहार के साथ उनका वैषम्य भी उत्तरोत्तर बढ़ता गया। किशन उर्फ क्रिस्तोफर साहब अब धोती और चमरौधे के स्थान पर तंग पतलून और विलायती बूट पहनने लगे। सिर की पगड़ी का स्थान अंगरेजी टोप ने ले लिया। उसी प्रकार रामचंद्र उर्फ रहीमखां चूड़ीदार पायजामा और अचकन पहन कर सिर पर तुर्की टोपी धारण करने लगे। उधर पांडूतात्या की चिलम सुलगती कि इधर रामभाऊ अपना हुक्का और किशन अपनी पाइप जला लेते और लंबे-लंबे कश खींच कर बाप के मुंह पर धुएं के बादल छोड़ते रहते। किशन ने लंबी जुल्फें रख कर दाढ़ी-मूंछ मुंडवा ली थीं तो रामचंद्र ने सिर और मूंछें मुंडवा कर अपने मुसलमान

भाइयों को शिकायत का मौका नहीं दिया था। गंजी चांद के रेगिस्तान की कसर उसने हाथ भर लंबी दाढ़ी बढ़ा कर पूरी की, तो किशन ने चिकनी-चुपड़ी दाढ़ी के बालों की क्षतिपूर्ति कलम के गलमुच्छे बढ़ा कर कर ली। किशन बचपन से ही अभिनय कला में निपुण था। पर बाप जिंदा होने के कारण मूंछें मुंडवाकर स्त्री-भूमिका करने की उसकी हौंस अब तक पूरी नहीं हुई। अब अनायास ही उसका मौका मिल गया। रामचंद्र मौके-बेमौके अपनी दाढ़ी पर हाथ फेर कर और किशन अपनी घुंघराली जुल्फों को सहला कर लोगों का ध्यान आकर्षित करते रहते। राम घंटों तक दाढ़ी को कंघी करते रहते तो किशन ब्रश से बालों को संवारते रहते। परिचित लोगों से मुलाकात होने पर रामचंद्र आदाब-अर्ज और बंदगी करने लगे तो किशन हाथ मिला कर गुड-मॉर्निंग और हाउ-डू-यू-डू बघारने लगे। राम बीवी-बच्चों और घर के अन्य लोगों के सामने 'आइये-फरमाइये' द्वारा अपनी टूटी-फूटी उर्दू का प्रदर्शन करते तो किशन केवल—'यस-नो' की पूंजी से उतनी ही टूटी-फूटी अंग्रेजी में रोब गांठते। कुछ दिनों बाद तो बात और भी बढ़ी। रामचद्र दीन-ईमान के पक्के मोमिन की तरह कान में उंगलियां डाल कर नमाज पढ़ने लगे और किशन साहब आंखें मूंद कर अपने पृथ्वीतल के बाप की संपूर्ण उपेक्षा करके अपने आकाशस्थ बाप का गंभीर मुद्रा से ध्यान करने लगे। दोनों के धर्म एक-दूसरे से भिन्न थे; पर रामचंद्र के धर्म का पूर्वोतिहास किशन साहब के धर्मग्रंथ से ही लिया हुआ होने के कारण और दोनों मतों के धार्मिक विश्वास भी लगभग एक से होने के कारण उनमें विवाद का मौका शायद ही कभी आता था। पर हिंदू धर्म के साथ दोनों धर्मों का कोई साम्य नहीं था। पत्नियों का कुंकुम् लगाना दोनों को जंगलीपन का लक्षण मालूम देने लगा और दोनों ने अपनी पत्नियों के माथे की बिंदी जबरदस्ती पोंछ डाली। इस हालत में मूर्तिपूजा के प्रति दोनों को अत्यधिक तिरस्कार हो यह स्वाभाविक ही था। शीघ्र ही इस बात को लेकर दोनों की पिता से झड़प होने लगी। रामचंद्र के मूर्तिद्वेष का पर्यसान तो एकबार मूर्तिभंजन में हुआ। गजनी के महमूद ने जिस प्रकार सोमनाथ पर सवारी की थी उसी प्रकार रहीमखां ने एक रोज पिता के बाजार जाने का मौका साध कर पूजाघर पर आक्रमण कर दिया और मां के गिड़गिड़ाने की ओर दुर्लक्ष करके सारी मूर्तियों को चकनाचूर कर दिया।

इस अत्याचार से औरों को दुख होना तो स्वाभाविक ही था, पर बाद में खुद रहीमखां को भी बड़ा पश्चाताप हुआ। समय बीतते उनके मन में इस्लाम की ओर कोई लगाव न रहा। घर के लोगों ने इसे बहुत बड़ा परोक्ष लाभ माना। उनकी चित्तवृत्ति जितनी रफ्तार से इस्लाम की ओर झुकी थी, अब उतने ही झपाटे से उससे विमुख होने लगी। कुछ दिनों बाद तो पश्चात्ताप की भावना ने उनकी पूरी चेतना को आक्रांत कर लिया। रात को सबके सो जाने के बाद वे चुपचाप पूजाघर में जाने लगे और नाना प्रार्थनाओं द्वारा देवताओं से क्षमा मांगने लगे। उनके मन के इन प्रतिगामी आंदोलनों की प्रतिक्रिया क्रिस्तोफर साहब के हृदय पर भी हुई और उनके मन में हलचल मची। निद्राभ्रमण की आदत तो उन्हें पहले से ही थी। शीघ्र ही यह देखा गया कि रात को सन्नाटा होते ही वे बिस्तर छोड़कर पूजाघर में पहुंच जाते थे और घंटों पूजाअर्चा में डूबे रहकर मंत्रोच्चारण करते रहते थे। इस प्रकार दिन में कुरान शरीफ की आयतें पढ़ने वाले रहीमखां रात को रामचंद्र बनकर तुकाराम महाराज के अभंग और सूरदास के पद गाने लगे तो दिन भर मसीहा के प्रार्थना-गीत गाने वाले क्रिस्तोफर साहब रात को किशन का रूप धारण कर के सौर, पवमान और रुद्र का पाठ करने लगे। पूर्वाश्रम के हिंदू धर्म के संस्कार और उत्तरावस्था के जबरदस्ती लादे हुए विधर्मी संस्कारों के बीच उनकी मनोभूमि पर तुमुल युद्ध होने लगा। उनकी स्थिति 'हर हर, न हिंदुर्नयवन:' जैसी क्षुब्ध और दयानीय हो उठी। घर के लोगों को आरंभ में तो इस परिवर्तन की कोई जानकारी नहीं हुई। पर एक दिन ब्राह्ममुहूर्त में रहीमखां की मंगला आरती और क्रिस्तोफर साहब के स्तोत्रपाठ के बीच ऐसी स्पर्धा जमी और दोनों की आवाजें इतनी ऊंची उठीं कि घर में जगार हो गई। यह दृश्य देख कर उनके माता-पिता की आंखों में आनंदाश्रु आ गए। रोज-रोज के झगड़ों से तात्या वैसे भी ऊब चुके थे। लड़कों की बदली हुई मनस्थिति को देख कर उन्हें बड़ी राहत मिली। उन्होंने तुरंत मुझे और बंडूनाना को बुलाया। सलाह-मशविरा हो कर शीघ्र ही कर्तव्य की दिशा निश्चित हो गई। राम और किशन दोनों इस मिस्कौट में शामिल थे, यह अलग से बताने की आवश्यकता नहीं।

शीघ्र ही एक दिन रहीमखां के पेट में भयानक शूल उठा और उसी दरमियान क्रिस्तोफर के सिर में भी उतनी ही भयानक व्याधि के लक्षण दिखाई दिए।

तात्या ने कई प्रकार के उपचार कर देखे, पर कोई असर नहीं हुआ। अंत में उन्होंने पादरी साहब और हकीम साहब को बुलवाया। उनके आते ही रहीमखां वेदना के मारे जमीन पर लोट कर छटपटाने लगा और क्रिस्तोफर दर्द से कराहते हुए दीवार से सिर पटकने लगा। दोनों भिषगाचार्यों ने रोगियों के पेट और मस्तक की ही नहीं, शरीर के अन्य अंगों की भी कस कर जांच की, पर रोग का कोई लक्षण दिखाई नहीं दिया। उधर रोगियों की छटपटाहट बढ़ती ही जा रही थी। बीचबीच में रहीमखां मुहम्मद साहब के नाम से और क्रिस्तोफर साहब मसीहा के नाम की पुकार करके राहत की भीख मांगते जाते थे। पर इससे वेदना कम होने के बजाय बढ़ती ही जा रही है। यह देख कर उन्होंने यह प्रयत्न भी छोड़ दिया। ईसाई और यूनानी अश्विनीकुमारों के भरसक प्रयत्नों के बावजूद दोनों की हालत में कोई फर्क नहीं पड़ा। अंत में हार कर दोनों यह कह कर विदा हुए कि घर जाकर दवा भेज देंगे। यह दवा बड़ी गुणकारी रही होगी। क्योंकि उसके उल्लेख मात्र से, दोनों की पीठ फिरते ही, रोगियों का सारा कष्ट दूर हो गया और वे लंबी तान कर सो गए। पर दूसरे दिन पादरी साहब और हकीम साहब के कमरे में प्रवेश करते ही वे फिर बधिया किये जाने वाले बैलों की तरह डकराने लगे। पुत्रवत्सल पिता पास ही खड़े थे। उनसे जब पुत्रों का कष्ट देखा न गया तो भर्राए हुए कंठ से वे बोले, "यह इनके धर्मांतर का ही परिणाम है। मैंने इन्हें मिआदी बुखार से बचाने के लिए यह जीवन भर का रोग इनके पीछे लगा दिया। अब किसी हिंदू देवी-देवता की मनौती माने बिना छुटकारा नहीं। हे भगवान, ···हे हनुमानजी,···हे दुर्गा मां,···अगर मेरे लड़के अच्छे हो गए, तो मैं इन्हें हिंदू बना कर तुम्हारी शरण में वापस ले आऊंगा।"

तात्या के मुंह से ये शब्द निकले ही थे कि जैसे चमत्कार हुआ। दोनों लड़के मुस्कराते हुए बिस्तर से उठ खड़े हुए और दोनों विधर्मियों की आंखों के सामने अपने पिता के चरणों में झुक गए। फिर भावना से रुंधे हुए कंठ से बोले, "पिताजी आज आपने हमारी देह ही नहीं, हमारी आत्मा की भी रक्षा की है। हिंदू धर्म के प्रभाव का इससे बड़ा साक्षात्कार कहां दिखाई देगा। उसका नाम लेते ही हम स्वस्थ हो गए। अब हम अपने धर्म की शरण छोड़ कर कहीं नहीं जायेंगे।"

ऐसे असाध्य रोगों का कारण के बिना होना, और उपचार के बिना अच्छा

होना वाकई बड़े चमत्कार की बात थी। दोनों धर्म-प्रचारक विस्फारित नेत्रों से उसे देखते रहे। शीघ्र ही उन्हें यह महसूस हुआ कि अब कहने-सुनने को कुछ भी बाकी नहीं रहा। धीरे-धीरे वे उठ खड़े हुए और कमरे के बाहर निकल गए। उस दिन के बाद उनकी चरणधूलि तात्या के घर में फिर कभी नहीं पड़ी।

बंडूनाना ने दोनों लड़कों के कंधे पर हाथ रख भरतवाक्य का उच्चारण किया : "चलो बच्चो, जो हुआ सो अच्छा ही हुआ। सुबह का भूला यदि शाम को घर लौट आए, तो उसे भटका हुआ नहीं कहते।"

हास्य-विनोद में मानव के दुखों का निवारण करने की अद्‌भुत शक्ति है। चुभने वाला व्यंग्य या उपहास सामाजिक और राजनीतिक सुधारों का बहुत प्रभावकारी अस्त्र हो सकता है। मराठी साहित्य के व्यंग्य सम्राट श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर ने अपने 'सुदामा के चावल' नामक इस संकलन में इसी उद्देश्य की प्राप्ति का प्रयास किया है। समाज पर व्यंग्यास्त्र छोड़कर उन्होंने सामाजिक जागृति का दुष्कर कार्य किया है।

श्री कोल्हटकर विदग्धतापूर्ण एवं कल्पना प्रवण उच्च-कोटि के व्यंग्य लेखक थे। मराठी नाटक के क्षेत्र में उनका योगदान अपूर्व है। साहित्य समीक्षा क्षेत्र में भी उन्होंने विवेचनात्मक और मार्मिक आलोचना-पद्धति का आरंभ किया।



रु. 12.00

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया